॥ ओ३म् ॥

आचार्य-शबरस्वामि-विरचितम्

जैमिनीय-मीमांसा-भाष्यम्

आर्षमत-विमर्शिन्या हिन्दी-व्याख्यया सहितम्

[तृतीयो भागः]

व्याख्याकारः

म० म० पण्डितयुधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशक एवं : **रामलाल कपूर ट्रस्ट**
प्राप्ति-स्थान रेवली, पोस्ट—ई०सी० मुरथल,
जिला—सोनीपत (हरियाणा)
दूरभाष : ७०८२१११४५६
E-mail : rlktrust@yahoo.in

संस्करण : तृतीय-वार, ६०० प्रतियाँ
२०७७ विक्रमी संवत्, नवम्बर सन् २०२० ई०

मूल्य : ७००.०० रुपये

मुद्रक : **राधा प्रेस,** साहिबाबाद (उ० प्र०)।

भूमिका

आर्षमत-विमर्शिनी हिन्दी-व्याख्यासहित मीमांसा शाबरभाष्य का द्वितीय भाग दिसम्बर सन् १९७८ के अन्त में प्रकाशित हुआ था। अब पूरे दो वर्ष के पश्चात् यह तृतीय भाग माननीय पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूं। अपनी योजना के अनुसार प्रतिवर्ष एक भाग प्रकाशित करना था। इस भाग के प्रकाशन में एक वर्ष अधिक का जो व्यवधान पड़ा, उस का मुख्य कारण मेरी शारीरिक अस्वस्थता है।

द्वितीय भाग की भूमिका में लिख चुका हूँ कि २४ अक्टूबर १९७८ को अचानक उपान्त्र-शोथ रोग का आक्रमण हुआ। वह तो दो मास की चिकित्सा से शान्त हो गया, परन्तु साथ ही पैरों में रक्त-संचार में न्यूनता हो गई। उस से दिन में तो चलते फिरते रहने के कारण रक्त संचार होते रहने से कष्ट नहीं होता है, परन्तु रात्रि में रक्त-संचार की न्यूनता हो जाने से पैरों की नसों में खिचाव होने से पीड़ा होती है। इससे निद्रा नहीं आती। सारी रात बेचैनी रहती है। निद्रा के न आने से भोजन का परिपाक ठीक प्रकार से नहीं होता। इस रोग की सभी प्रकार की चिकित्सा कराई, परन्तु अभी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इस वर्ष तो ग्रीष्म ऋतु में भी पूर्व वर्ष की अपेक्षा अधिक कष्ट रहा। यत: मेरे दोनों वृक्क (गुर्दे) लगभग पूरी तरह खराब हो चुके हैं, इस कारण कोई भी तीव्र औषध अथवा पारद वा धातु के योग से बनी औषध नहीं ले सकता। इससे गुर्दों के अधिक खराब हो जाने का भय रहता है। इन विकृत गुर्दों से ही जीवन यात्रा चलानी है। पैरों में जो कष्ट रहता है, उस के लिये मुझे प्रतिवर्ष शीत काल में न्यूनातिन्यून तीन मास के लिये दक्षिण भारत में जाना पड़ता है, क्योंकि शीत काल में यहां शीत की अधिकता से कष्ट बहुत बढ़ जाता है। यह काल लेखन-कार्य की दृष्टि से व्यर्थ व्यतीत होता है।

अन्य कारण—इस के साथ ही विलम्ब के दो प्रधान कारण और हैं। प्रथम—गत वर्ष रोग की चिकित्सार्थ लगभग ३ मास बहालगढ़ से बाहर रहना पड़ा। द्वितीय—सन् १९७८ के मध्य तक महाभाष्य के नवाह्निक (प्रथम) भाग के दो तिहाई भाग की जो व्याख्या लिख चुका था और मुद्रित हो चुकी थी, उसे उस समय प्रकाशक से यथोचित सहयोग न मिलने से स्थगित करना पड़ा। परन्तु जब देखा कि प्रकाशक को इस से कुछ प्रेरणा न मिली, तब यह कार्य अधूरा ही न रह जाये, इस दृष्टि से शेष एक-तिहाई भाग की व्याख्या लिखने और छपवाने में लगभग ५-६ मास का समय लगाना पड़ा। शारीरिक निर्बलता के कारण दोनों कार्य एक साथ नहीं कर सकता था। इसके साथ ही प्रेस की व्यवस्था बिगड़ जाने से जिस त्वरा से पहले दो भागों का मुद्रण हुआ, वैसी गति से सन् १९७९-१९८० में कार्य न होना भी विलम्ब में निमित्त बना।

मानव सोचता कुछ है और होता वही है, जो हमारे कर्म-फल के अनुसार ईश्वरीय व्यवस्था से होना होता है। यहीं मानव को अपनी क्षुद्रता का बोध होता है और उस के विद्या, बुद्धि, बल आदि के दर्प का दलन होता है। मानव की इस क्षुद्रता का वर्णन सन्तजन **'मेरे मन कछु और है प्रभु के मन कछु और'** के रूप में करते हैं। भगवद्गीता में इसी का निर्देश निम्न शब्दों में किया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

मनुष्य के जीवन में उस के कार्य में अथवा उसकी इच्छा की पूर्ति में जो दैवी बाधाएं आती है, वे यद्यपि साधारण जन को विचलित कर देती हैं, परन्तु जिन्हें ईश्वर और उसकी व्यवस्था पर भरोसा होता है, वे बाधाओं के पीछे भी प्रभु की किसी अज्ञात दया वा कृपा को ही देखते वा अनुभव करते हैं। ऐसे व्यक्ति दैवी बाधाओं से विचलित न होकर यथाशक्ति अपने कर्म में लगे रहते हैं।

अस्तु। वर्तमान में शारीरिक कष्ट, जिस से रात्रि में निद्रा नहीं आती है, केवल-मात्र उषःकाल में थोड़ी बहुत निद्रा आती है, के निरन्तर विद्यमान रहने पर भी मीमांसा भाष्य-व्याख्या का तृतीय भाग पूर्ण हुआ। इससे आत्मा को सन्तोष है।

अगले कार्य के सम्बन्ध में—मीमांसा के अभी तीन अध्याय ही पूरे हुए हैं, १३ अध्याय शेष हैं। इस लिये यह विचार किया है कि चौथे अध्याय से व्याख्या के विस्तार को कुछ कम किया जाये। वैसे भी जिन विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक था, वे सभी विषय प्रायः इन तीन अध्यायों में आ चुके हैं। इस से व्याख्या के विस्तार को कम करने पर भी विशेष न्यूनता का बोध न होगा और कार्य की पूर्णता में समय की बचत होगी, फिर भी जहां कोई सर्वथा नया विषय आयेगा, उसे पूर्ववत् विस्तार से स्पष्ट किया ही जायेगा।

मीमांसा-भाष्य-व्याख्या से हलचल—मेरे इस व्याख्या को लिखने के तीन प्रयोजन रहे हैं। एक—असंस्कृतज्ञ व्यक्तियों तथा विषयान्तर के विद्वान् होने पर भी इस विषय से असंपृक्त विद्वानों को मीमांसा शास्त्र के विषयों का परिज्ञान कराना। दूसरा—वैदिक कर्मकाण्ड में जो अवैदिक अंश प्रविष्ट हो गये हैं, उन को दूर करके प्राचीन वैदिक कर्मकाण्ड में श्रद्धा को बढ़ाना, जिस से देश में वैदिक कर्मकाण्ड की वृद्धि हो। तीसरा अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त वैदिक कर्मकाण्ड की जो वैज्ञानिक पृष्ठभूमि है उसे उजागर करना। जिस से इन यज्ञों के विधान के पीछे ऋषि-मुनियों की जो भावना थी उस के यथार्थ बोध से इन की वैज्ञानिकता का परिचय प्राप्त हो सके।

मेरा सदा से यही नियम रहा है कि जो कुछ लिखा जाये, प्रमाण-पूर्वक लिखा जाये। उच्छास्त्र कल्पनाएं न की जाएं (निराधार कल्पना को मैं असत्य के बराबर

मानता हूँ)। इस नियम के अनुसार प्रथम भाग के आरम्भ में **वेदसंज्ञा-मीमांसा** और **श्रौतयज्ञ-मीमांसा** संज्ञक दो संक्षिप्त निबन्ध दिये हैं, उन में एक भी बात ऐसी नहीं लिखी, जो प्रमाण रहित हो। हां, मानव-सुलभ अल्पज्ञता वा प्रमादादि से लेखन में कुछ भूलें हो गई हों, उनका कालान्तर में स्वयं बोध होने पर अथवा किसी के द्वारा सुझाये जाने पर उन्हें ठीक कर दिया जायेगा। भूल को स्वीकार करने से बढ़कर उस के परिमार्जन का अन्य सरल उपाय नहीं है। मुझे अपनी भूल स्वीकार करने में कभी हिचकचाहट नहीं होती हैं। उस का निर्देश कोई एकान्त में करे, चाहे भरी सभा में।

मैंने जिस शुद्ध भावना से मीमांसाभाष्य-व्याख्या लिखने का यह पवित्र, महत्त्व-पूर्ण और अत्यधिक परिश्रम-साध्य कार्य आरम्भ किया है, उस के अनुसार वैदिक धर्मावलम्बियों को कुछ लाभ पहुंचा हैं वा नहीं, यह तो इस को पढ़ने वाले व्यक्ति ही जानते होंगे, परन्तु इस व्याख्या के प्रकाशन से अवैदिक परम्परा को चालू रखने में अपना हित समझने वाले, जनता के और वैदिक मान्यताओं के अहित की परवाह न करने वाले कतिपय पौरणिक विद्वान् अत्यन्त उद्वेजित हो उठे हैं। इस का प्रमाण श्री स्वामी करपात्री जो के लिखे **'वेदार्थ-पारिजात'** नामक ग्रन्थ के उस प्रकरण से मिलता है, जो उक्त निबन्धों के खण्डन में लिखा गया है। वेदार्थ-पारिजात के दूसरे भाग के पृष्ठ १८२४ से २१४१ तक ३१८ पृष्ठ जिन बातों को प्रमाणित करने में व्यय किये हैं, उन में से कतिपय इस प्रकार हैं—

१– ब्राह्मण ग्रन्थों की भी वेद संज्ञा है।

२– यज्ञों में पशु का होम शास्त्रानुमोदित है। यज्ञ में पशु को मारना इस लिये हिंसा नहीं है कि यज्ञ में मारे गये पशु का उस से उपकार होता है। वह निकृष्ट योनि से छुटकारा पाकर सुवर्णमय शरीर को धारण कर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।

३– अश्वमेध में यजमान की महिषी (=पटरानी) का अश्वशिश्न से संयोग और राजा की उपपत्नियों से ऋत्विजों का अश्लील भाषण वेदादिशास्त्र-विहित है। शास्त्रविहित होने से ये कर्तव्य हैं।

४– वेदों का प्रयोजन केवल अग्निहोत्रादि यज्ञों की सिद्धि ही है। उन में अन्य ज्ञान विज्ञान कुछ भी नहीं है।

५– मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही अपौरुषेय है। शाखाएं तथा ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषि-मुनियों से प्रोक्त वा रचित नहीं हैं।

६– पुराण भी वेद के समान ही प्रमाण हैं।

७– मूर्तिपूजा नवग्रह-पूजादि वेद-प्रतिपादित हैं।[1]

---

१. मीमांसा के नवम अध्याय में इन्द्रादि देवों के विग्रहवान् (=शरीरधारी) होने का

८– स्त्री और शूद्र को वेदाध्ययन का अनधिकार, बाल-विवाह, दहेज लेना और देना, विधवा स्त्रियों का सती होना (अग्नि में जलना या जलाना) आदि सभी बातें शास्त्रानुमोदित हैं।

९–राम-गायत्री गणेश-गायत्री आदि तथा तान्त्रिक मन्त्र भी शास्त्रीय हैं।

१०– वेदों में इतिहास है, परन्तु वह प्रतिकल्प वैसा ही घटित होने से नित्य है।

आदि अनेक ऐसे विषयों को वेदादिशास्त्रों से प्रमाणित करने का दुःसाहस किया गया है, जिन्हें वेदादिशास्त्रों का अनुशीलन करने वाले मनस्वी पौराणिक विद्वान् भी स्वीकार नहीं करते। उदाहरणरूप में पं० सत्यव्रत सामश्रमी, जो काशी में वहां के पण्डितों और स्वामी दयानन्द सरस्वती के सं० १९२६ के प्रसिद्ध ऐतिहासिक शास्त्रार्थ के समय उभयवादि-सम्मत लेखक थे, को प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके ऐतरेयालोचन और निरुक्तालोचन ग्रन्थों में उक्त विषयों में से अनेक विषयों की अमान्यता प्रतिपादित की है।

इसके साथ ही वेदार्थ-पारिजात ग्रन्थ आदि से अन्त तक छल, जाति, निग्रहस्थान और पूर्वापर विरोध आदि दोषों से भरा हुआ है। जो इस ग्रन्थ के लेखक की मनोवृत्ति को दर्शाने के लिये पर्याप्त है। ऐसे ग्रन्थ से उनके पौराणिक मत की रक्षा होगी, अथवा उसका नाश होगा ? इस का बोध भी इन्हें नहीं है। वैदिक सिद्धान्तों का विरोध और पौराणिक मान्यताओं का पोषण करना ही इनका एक-मात्र लक्ष्य है।

हम भट्ट कुमारिल के और आचार्य शङ्कर के मत से सहमत नहीं है। परन्तु इन दोनों आचार्यों ने बौद्धों और जैनियों के द्वारा सर्वथा उत्सादित (नष्ट की गई) वैदिक परम्परा को पुनः जीवित करने और बौद्ध तथा जैन मत के निराकरण के लिये जो भगीरथ-प्रयत्न किया, उस के लिये प्रत्येक वैदिक धर्मानुयायी, चाहे वह किसी मत का हो, इनका सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु खेद इस बात का है कि पौराणिक जगत् में इन के अनुयायी सम्प्रति सहस्रों विद्वान् हैं, लाखों संन्यासी हैं, परन्तु इनको आर्यजाति (हिन्दु-जाति) के भयंकर ह्रास की चिन्ता नहीं है। ईसाई और मुसलमान आर्य जाति को निरन्तर विधर्मी बना रहे हैं। उन से आर्यजाति की रक्षा कैसे की जाये ? माताओं और बहनों के साथ बलात्कार हो रहा है, निम्न श्रेणी के मानवों पर अत्याचार हो रहे हैं, आर्यजनता में कदाचार व्याप्त हो रहा है, वैदिक संस्कृति का भयंकर नाश हो रहा है, वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का उत्सादन हो रहा है आदि आदि का प्रतिकार

प्रबलरूप से खण्डन किया है। जब इन्द्रादि देव विग्रहवान् ही नहीं हैं, तो उनकी मूर्ति कैसे बन सकती है ? मूर्ति के अभाव में उसी पूजा कैसे होगी ? मन्त्र, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, प्रामाणिक उपनिषद्, कल्पसूत्र और षड्दर्शनों में (परिशिष्ट भागों को छोड़कर) कहीं भी मूर्ति-पूजा-विधायक वचन उपलब्ध नहीं होते हैं।

कैसे किया जाये, इसे सोचने विचारने के लिये इनके पास समय ही नहीं है। इनको तो एकमात्र यही चिन्ता लगी रहती कि हिन्दुओं में विद्यमान अन्ध-श्रद्धा को कैसे बनाये रखा जाए, जिससे इन के उदरन्दरि को पूर्ति रूप व्यापार में कोई कमी न आवे।

यद्यपि ऊपर जो लिखा गया है, वह कुछ असम्बद्ध सा प्रतीत होगा, परन्तु वेदार्थ-पारिजात ग्रन्थ को पढ़ने से मेरे मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उस का निदर्शन करना इस लिये आवश्यक हुआ कि उस में इस व्याख्या को लिखने के सत्प्रयत्न को, जैसे कोई मूर्ख धूलि फेंकर सूर्य को आच्छादित करना चाहे, उसी प्रकार इस ग्रन्थ के लेखक ने शास्त्र-सम्मत विचार-सरणि का परित्याग करके छल जाति निग्रहस्थान आदि दोषों से दूषित असद् हेतुओं और प्रमाणाभासों से सत्य को आच्छादित करने का दुस्साहस किया है।

मित्रों और सुहृज्जनों का आग्रह—मेरे अनेक मित्रों और सुहृज्जनों ने पत्रों द्वारा तथा प्रत्यक्ष भेंट के समय में मुझ से आग्रह किया कि मैं वेदार्थपारिजात का समुचित उत्तर लिखूं। न्यूनातिन्यून जिस भाग में मीमांसाभाष्य-व्याख्या की आलोचना की है, उसका उत्तर तो अवश्य ही दूं।

मेरा निश्चय—सब परिस्थितियों को, विशेषकर के अपने हीन स्वास्थ्य को देखते हुए तथा मीमांसाभाष्य-व्याख्या के कार्य की विशालता और महत्ता को ध्यान में रखते हुए मैंने यह निश्चय किया है कि मैं सम्प्रति एकमात्र मीमांसाभाष्य-व्याख्या के कार्य में ही अपना समय लगाऊं। यह एक रचनात्मक कार्य है। इस कार्य से स्वयं ही इस शास्त्र के तथा वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में फैली अवैदिक धारणाओं का अन्त होगा। सूर्य के उदय होने पर अन्धकार स्वयं नष्ट हो जाता है। सूर्य उसे खदेड़ने के लिये अलग से प्रयत्न नहीं करता। वेदार्थपारि-जात ग्रन्थ से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि पौराणिक विद्वानों में इस कार्य से भारी हलचल मच गई है। वे किसी भी प्रकार इस प्रकाश को रोकने के लिये और अपने परम्परागत विचारों की ढ़हती हुई दीवारों को सुदृढ़ करने की चेष्टा में लग गये हैं। यह भी इस व्याख्या के महत्त्व को व्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है।

वेदार्थपारिजात के उपर्युक्त भाग में स्व०पूज्य गुरुवर्य श्री चिन्नस्वामीजी महाराज का अन्तेवासी लिखने पर भी बहुत कुछ लिखा गया है। इस सम्बन्ध में इतना ही कह सकता हूं कि पूज्य गुरुवर्य ने 'हम स्वामी दयानन्द सरस्वती की विचार-धारा को मान-ने वाले हैं' यह जानते हुए भी जिस प्रेम और स्नेह से हमें मीमांसा शास्त्र पढ़ाया, तथा याज्ञिक-प्रक्रिया का बोध कराया, उसके लिये मैं सदा ही उनका कृतज्ञ रहूंगा। उनके ऋषिऋण से उन्मुक्त होना कठिन है। यह दूसरी बात है कि मैं उनके परम्परागत सिद्धा-न्तों को पूरी तरह स्वीकार न कर सका। वैदिकवाङ्मय के अध्ययन से मुझे कतिपय सिद्धान्तों में संशोधन की आवश्यकता का अनुभव हुआ और तदनुसार ही मैं यह कर्म

कार्य कर रहा हू । एक सच्चा निस्वार्थ गुरु ऐसे कार्य से कभी दुःखी नहीं होता, यह मेरा विश्वास है। यद्यपि मैं उन के अगाध शास्त्र-ज्ञान की तुलना में अपने को अत्यन्त तुच्छ मानता हूं, तथापि उन्हीं के प्रसाद से मैं इस कार्य में सफल हो रहा हू, यह मैं किसी भी अवस्था में भूल नहीं सकता। अतः अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये मैं अपने को उनका अन्तेवासी लिखता हूं तो मैं कोई अपराध नहीं करता, अपितु आर्य-मर्यादा का पालन करता हूं। हां, यदि मैं अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये गुरुवर्य के नाम का दुरुपयोग करूं तो निस्सन्देह पाप का भागी होऊं। गुरु के गुरुत्व को स्वीकार करना शिष्य का धर्म है, परन्तु उनकी प्रत्येक बातों को स्वीकार करना शिष्य के लिये आवश्यक नहीं।

वेदाध्ययन के पश्चात् आचार्य अपने शिष्य को जो आदेश वा उपदेश देता है, उस में एक यह भी है—

यान्यस्माकमनवद्यानि कर्माणि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥

तै० आर० ७।११॥

अर्थात् जो हमारे धर्मयुक्त श्रेष्ठ कर्म हों उस का तुम्हें आचरण करना चाहिये। इस से भिन्न अधर्मयुक्त कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये।

मीमांसा-व्याख्या के प्रकाशन की योजना स्वावलम्बी—मीमांसा के दो भागों का प्रकाशन किस प्रकार किया और उस में किन-किन महानुभावों ने सहयोग दिया, यह मैं दोनों भागों की भूमिकाओं में लिख चुका हूं। मैंने राष्ट्रपति से सम्मानित व्यक्ति को सरकार से दी जाने वाली ३००० रु० वार्षिकी के रूप में जनवरी ७८ में दो वर्ष (१९७६-१९७७) का जो ६००० रुपया मिला, उसे भी निजी कार्य में व्यय न करके इसी कार्य में लगाया। इसी प्रकार नवम्बर १९७८ में सन् ७८ की सहायता मध्ये प्राप्त ३००० रु० भी इसी कार्य में व्यय किये। सन् ७९ में राजकीय सहायता की राशि ३००० से बढ़ाकर ५००० कर दी गई। सन् ७९ के अन्त में जो ५००० रुपये मुझे मिले, वे इस कार्य के निमित्त अलग धरे हुए हैं। यह चौथे भाग के कार्य में व्यय किये जायेंगे। इस प्रकार अब यह मीमांसा-व्याख्या का प्रकाशन कार्य प्रायः स्वावलम्बी बन गया है। पूर्व भागों के प्रकाशनों से होने वाली आय से अगले भागों का प्रकाशन कार्य बराबर चलता रहेगा, ऐसी पूरी आशा है।

इस महत् कार्य को स्वावलम्बी बनाने में जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग दिया, उन के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। इसके साथ ही जिन (लग-भग ७० स्थायी ग्राहकों ने ५० रुपया या अधिक अगाऊ देकर मेरी इस कार्य में सहा-यता की, उन का भी मैं बहुत आभारी हूँ। जिन ग्राहकों का रुपया मेरे पास जमा है, उन से आगे कुछ न लेकर जब तक उनका रुपया मेरे पास है, उन्हें अगले भाग देता जाऊंगा, जिस से मैं उनके ऋण से भी उऋण हो सकूं। हां, जो स्थायी ग्राहक बन

चुके हैं, उनका पेशगी जमा कराया धन समाप्त होने पर भी उन्हें अगले भाग उसी रियायत पर देता रहूंगा, जिसकी मैं घोषणा पूर्व कर चुका हूं।

श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी महाराज का सहयोग—श्री स्वामी जी महाराज ने विद्वानों को वितरित करने के लिये दोनों भागों की एक एक सहस्र रुपयों की पुस्तकें लेकर परोक्षरूप में जो सहायता की है, उसके लिये भी मैं उनका आभारी हूँ और आशा करता हूं कि आगे भी वे इसी प्रकार इस महत्कार्य में सहयोग देते रहेंगे।

श्री चौ० प्रतापसिंह जी—करनालनिवासी वेदभक्त माननीय श्री चौधरी प्रतापसिंह जी ने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रकाशन में मेरी आर्थिक सहायता की है। यथा—

मीमांसा-व्याख्या—प्रथम भाग के प्रकाशन में १००० रु० नकद दिया। और प्रथमभाग के लिये ६००० का कागज लेकर १ वर्ष के लिये उधार रूप में दिया।

द्वितीय भाग के प्रकाशन में १००० रु० नकद दिया।

ऋग्वेदानुक्रमणी के प्रकाशन में १००० रु० नकद दिया।

मीमांसा-व्याख्या—तृतीय भाग के प्रकाशन में ५०० रुपये की सहायता की।

इसके अतिरिक्त वे सदा ही व्यक्तिगत सहायता भी करते रहते हैं। इस स्नेह और सहृदयता के लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

इस प्रकार अब मैंने सब प्रकार से निर्द्वन्द्व होकर रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्य तथा मीमांसा भाष्य-व्याख्या (इसे भी मैं ट्रस्ट का ही कार्य मानता हूँ) के कार्य में अपने को समर्पित कर दिया है। अन्त में प्रभु से—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। यजुः १।५॥

यही प्रार्थना है, और उस की कृपा से मैं इस जीवन में ही

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि। यजुः २।२८॥

कह कर प्रभु का धन्यवाद कर सकूं। यही एक मात्र अन्तिम इच्छा है।

कार्तिक पूर्णिमा
सं० १९३७

विदुषां वंशवदः
युधिष्ठिर मीमांसक

—:०:—

परिवर्धन एवं संशोधन

प्रथम भाग में

'शास्त्रावतार-मीमांसा' निबन्ध में

पृष्ठ २६, पं० ११ 'उपलब्ध होते हैं' से आगे बढ़ावें—उपवर्षकृत मीमांसा-वृत्ति का **महाभाष्य** नाम होने से उपवर्ष **के** लिये **महाभाष्यकार** शब्द का भो प्रयोग मिलता **है**—मीमांसा २।१।१२ के भाष्य में पाठ है—**तेनोच्यते—**तृतीयायाः **स्थाने द्वितीयेति**। इस के विषय में तन्त्रवार्तिक में भट्ट कुमारिल ने लिखा है—**प्राधान्याविवक्षैव न्याय्या। ततश्चतृतोयार्थसिद्धिरिति मत्वा महाभाष्यकारेणोक्तम्—तृतीयायाः स्थाने द्वितीयेति**। इस का तात्पर्य यह **है** कि शबरस्वामी ने 'उच्यते' कहकर इतिकरण युक्त जो **तृतीयायाः स्थाने द्वितीया** पाठ लिखा है वह महाभाष्यकार का वचन है। पातञ्जल महाभाष्य २।३।३ में यद्यपि इस प्रकार का कुछ विचार मिलता है, परन्तु उक्त पाठ वहां नहीं है। अतः यह महाभाष्यकार कौन है ? इस के विषय में तन्त्रवार्तिक की भट्ट सोमेश्वर रचित सुधा टीका में लिखा है—**भगवदुपवर्षसम्मतिप्रदर्शनार्थं गुणभावे चेति भाष्यं व्याचष्टे स महाभाष्यकारेण न कर्तव्येति वर्णितेति उपवर्षे महाभाष्यकारशब्दप्रयोगाच्चैवं व्याख्यातः**। इससे विदित होता है कि भगवान् उपवर्ष विरचित पूर्वोत्तर-मीमांसा व्याख्या का नाम **महाभाष्य** भी था[१]।

२३, पं० १४ 'व्याख्या लिखी थी' से आगे—

मीमांसासूत्रभाष्य—राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय मद्रास की हस्तलेख-सूची में २६९५ संख्या पर देवस्वामी भाष्य का निर्देश है। यह सकर्ष काण्ड का है अथवा उस से व्यतिरिक्त यह द्रष्टव्य है।

पृष्ठ २८ पं० २९—'निर्देश नहीं मिलता' से आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—

(४) मीमांसाकौस्तुभ १।४।९ में खण्डदेव ने लिखा है—

---

१. श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा की 'प्रकाश' व्याख्या में लिखा—'**य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव तेषामर्थाः' इति महाभाष्ये** (श्लोक १)। इसी शिक्षा की 'पञ्जिका' व्याख्या में भी यही पाठ '**तथा च भाष्यकारः**' कह उद्धृत किया है। द्र० मीमांसा १।३ के आकृत्य-धिकरण के अन्तर्गत लोकवेदाधिकरण। इस अधिकरण के शाबरभाष्य की तुलना से प्रतीत होता है कि पाणिनीय शिक्षा के व्याख्याकारों ने उपवर्ष विरचित महाभाष्य के परम्परा प्राप्त पाठ को उद्धृत किया है।

यत्तु भवदेवेन तदनुयायिभिश्च 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इत्यत्र नामत्वपक्ष कर्मण चतुरावृत्तिर्विधीयत इति प्रयोजनमुक्तम्, तत् ....। पृष्ठ २२९

खण्डदेव ने यहां भवदेव की मीमांसा-व्याख्या की ओर संकेत किया है यह स्पष्ट है।

पृष्ठ ३८ पं० २ के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—

शबरस्वामीकृत हिरण्यकेशीयदर्शपौर्णमासविहारकारिका—वैदिक संशोधन मण्डल पूना में एक हस्तलेख **दर्शपूर्णमासिकविहारकारिका** का है। इस के अन्त में पाठ इस प्रकार है—

मातृदत्तानुसारिके शबरस्वामिकृतौ हिरण्यकेशीयदर्शपूर्णमासिकविहारकारिका समाप्त:।

क्या यह शबर स्वामी मीमांसाभाष्यकार है? पूर्व (पृष्ठ ३७ में) शबर स्वामी का सत्याषाढ़-श्रौत-भाष्य के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। सत्याषाढ़ श्रौत का ही हिरण्यकेशीय श्रौत नामान्तर है।

पृष्ठ ४०, पं० ९ से आगे नया सन्दर्भ जोड़ें—

शाबर भाष्य कई स्थानों पर खण्डित है—

(१) मीमांसा २।१।९—**धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत्** सूत्र के 'प्रयाजवत्' पद की व्याख्या शाबर भाष्य में नहीं मिलती है। इस के बिना सूत्र-भाष्य पूरी तरह गतार्थ नहीं होता है। भाष्यकार की शैली से प्रतीत होता है प्रयाजवत् पद की व्याख्या का अंश नष्ट हो गया है।

(२) भट्ट कुमारिल ने मीमांसा शाबर भाष्य के ३।८।९ के आगे अव्याख्यात ६ सूत्रों के सम्बन्ध में कई पक्ष उपस्थित करते हुए लिखा है—**लिखितो ग्रन्थो विलीन इत्यपरे।** अर्थात् शाबर भाष्य के कुछ व्याख्याताओं का कहना है कि शबर स्वामी ने इन सूत्रों की व्याख्या लिखी थी परन्तु वह नष्ट हो गई। तन्त्रवार्तिक पूना सं०, पृष्ठ ८९५।

शबर स्वामी भट्ट कुमारिल से बहुत प्राचीन—भट्ट कुमारिल का समय आगे लिखा है। उस से शबर स्वामी बहुत प्राचीन है। भट्ट कुमारिल के आगे उद्ध्रियमाण वचनों से स्पष्ट है कि भट्ट कुमारिल से पूर्व शाबर भाष्य की न्यूनातिन्यून ६ व्याख्यायें लिखी जा चुकी थीं।

पृष्ठ ४५ पं. ८ के आगे बढ़ायें—

तन्त्रवार्तिक में एक और पद्यांश—तन्त्रवार्तिक (२।२।१ पृष्ठ ३८०, पूना सं०) में एक पद्यांश पठित है—तथा **चाहुः—करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून् इति।** इसका पूरा पाठ तन्त्रवार्तिक की सुधा व्याख्या पृष्ठ ५६५ में इस प्रकार उद्धृत किया है—

विभज्य सेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरन्दरोत्थः ।
नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून् ॥

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।३।१ में इसे भट्टिकाव्य का वचन कहा है, परन्तु भट्टि काव्य में यह वचन नहीं है। इस पद्य का मूल स्थान ज्ञात होने पर भट्ट कुमारिल के काल पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

'जिन-विजय' नामक जैन ग्रन्थ में भट्ट कुमारिल का वर्णन—

हमारे मित्र श्री राजेन्द्रसिंह *S–N* । *31, N.I.T.* फरीदाबाद (हरयाणा) ने २-११-१९७८ को मुझे एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा है—

"आदरणीय मीमांसक जी! आपके 'मीमांसा शाबर भाष्यम्' की हिन्दी व्याख्या पढ़ी। व्याख्या अति सुन्दर है। आपका यह प्रयास सराहनीय है। 'शास्त्रावतार-मीमांसा' प्रकरण के अन्तर्गत पृष्ठ ४१ पर आपने लिखा है कि—'मीमांसा' शाबर भाष्य पर तीन प्रकार की महनीय टीकायें लिखनेवाले भट्ट कुमारिल ने अपने परिचय के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। अतः उनका इतिवृत्त सर्वथा अज्ञात है।'

आदरणीय मीमांसक जी! भट्ट कुमारिल का कुल-परिचय ज्ञात हो गया है। मैं भट्ट कुमारिल के जन्मकाल सहित उनका कुल-परिचय आपको इस पत्र द्वारा भेज रहा हूं, ताकि शाबरभाष्य के द्वितीय भाग में आप इसका उल्लेख कर सकें।

भट्ट कुमारिल का जन्म आन्ध्र-उत्कल देश के संगम पर महानदी के किनारे पर बसे 'जयमंगल' नामक गांव में हुआ था। वे आन्ध्रजातीय थे। कृष्णयजुर्वेदीय शाखा से सम्बन्धित थे। उनके पिता का नाम यज्ञेश्वर एवं माता का नाम चन्द्रगुणा था।

उनका जन्म जैन युधिष्ठिर संवत् के २०७७ वर्ष व्यतीत होने पर हुआ था। जैन-युधिष्ठिर सम्वत् का आरम्भ ४६८ कलि में होता है। इस प्रकार जैन-युधिष्ठिर संवत् का आरम्भ २५७७ वि० पूर्व बनता है। इससे कुमारिल भट्ट का जन्म २५७७ —२०७७=५०० विक्रमी पूर्व बनता है।

आद्य शङ्कराचार्य के सहपाठी एवं शिष्य चित्सुखाचार्यकृत 'बृहत्शङ्कर-विजय' के अनुसार कुमारिल शङ्कर से ४८ वर्ष बड़े थे। इस प्रकार ५००—४८=४५२ वि० पू० में शङ्कर का जन्म हुआ। यह आप के द्वारा निर्दिष्ट काल से पूर्णतः मेल खाता है।

जैन ग्रन्थ 'जिन-विजय' में मुझे कुमारिल का यह कुलपरिचय एवं जन्मकाल मिला है। उनका परिचय देनेवाले श्लोक निम्न हैं—

आन्ध्रोत्कलानां संयोगे पवित्रे जयमङ्गले ।
ग्रामे तस्मिन् महानद्यां भट्टाचार्यकुमारकः ॥
आन्ध्रजातिस्तैत्तिरीयो माता चन्द्रगुणा सती ।
यज्ञेश्वरः पिता यस्य··· ··········· ···॥

महावादिर्महान् घोरः श्रुतीनां चाभिमानवान् ।
जिनानामन्तकः साक्षात् गुरुद्वेष्यातिपापवान् ।।

वैदिक मत के विरोधी जैनाचार्य के शब्द कितने कठोर हैं ?
कुमारिल की जन्मतिथि इस प्रकार हैं—

ऋषिवारस्तथा पूर्णं मर्त्याक्षौ वाममेलनात्
एकीकृत्य लभेताङ्कः क्रोधी स्यात्तत्र वत्सरः ।।
भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डवादिनः ।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके ।।

और २१०९ जैन-युधिष्ठिर शक में कुमारिल को परास्त किया गया। उसका पराभव ४६८ वि० पू० में हुआ। श्लोक इस प्रकार हैं—

नन्दाः पूर्णं भूश्च नेत्रे मनुजानां च वामतः ।
मेलने वत्सरो धाता युधिष्ठिरशकस्य वै ।।
भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डस्यवादिनः ।
जातः पराभवस्तस्मिन् विज्ञेयो वत्सरे शुभे ।।

१६ वर्ष की अवस्था में शङ्कर कुमारिल से मिले ।

पश्चात् प्रञ्चदशे वर्षे शङ्करस्य गते सति ।
भट्टाचार्यकुमारस्य दर्शनं कृतवान् शिवः ।।

शङ्कराचार्य का परलोकगमन ४२० बि० पू० हुआ। श्लोक निम्न है—

ऋषिर्बाणस्तथाभूमिमर्त्याक्षौ वाममेलनात् ।
एकत्वेन लभेताङ्कस्ताम्राक्षस्तत्र वत्सरः ।।

२१५७ जैन-युधिष्ठिर शक में परलोकगमन ।
'पञ्चश्लोक-मञ्जरी' में भी शङ्कर-परलोकगमन की यही तिथि दी है।

महेशांशात्जातो मधुरमुपदिष्टाद्वयनयो'
महामोहध्वान्तप्रशमनरविः षण्मतगुरुः ।
फले स्वस्मिन् स्वायुष्यपि शरचराब्देऽपि च कले,
विलिल्ये स्वताक्षिण्यधिवृषमितैकादशिपरे ।।

२६२५ कलि में मृत्यु ।''

इस पत्र में उल्लिखित 'जिन-विजय' ग्रन्थ का पूरा परिचय जानने के लिये मैंने श्री राजेन्द्रसिंह जी को कई पत्र लिखे, परन्तु किसी पत्र का उत्तर नहीं आया। सम्भव है उन्होंने स्थान परिवर्तन कर लिया हो। इसके पश्चात् 'जिन-विजय' ग्रन्थ के परिचय के लिये मैंने 'श्रमण' पत्रिका के सम्पादक को 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-

संस्थान (जैन इन्स्टीटयूट) आई०टी०आई० रोड, वाराणसी ५ के पते पर पत्र लिखा। उन्होंने मेरा पत्र 'लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्यापीठ (गुजरात वि० वि० के निकट) अहमदाबाद को भेज दिया। यहां से श्री दलसुखमल जी का १४-८-८० का जो पत्र प्राप्त हुआ। उसका जिन-विजय से सम्बद्ध अंश इस प्रकार है—

"जिन-विजय मेरे देखने में आया नहीं है। हमारे मुद्रित और हस्तलिखित पुस्तकालय में वैसा कोई ग्रन्थ नहीं है। न मैंने कहीं अन्यत्र उस के विषय में सुना है। विना देखे उस के विषय में मेरा कुछ कहना मेरे लिये सम्भव नहीं है।

आपने जो संवत् श्लोक से निकाला है वह भी मेरी समझ में आया नहीं। फिर भी आप प्रमाण हो सकते हैं। जैन ग्रन्थों में युधिष्ठिर संवत् भी मेरे देखने में आया नहीं।

जिन-विजय जाली भी हो सकता है। हमारे यहां ७०००० सत्तर हजार पुस्तकें हैं। इस में उस का कोई पता नहीं।"

मैं अभी भी जिन-विजय ग्रन्थ की प्राप्ति के लिये यत्नशील हूँ। उस के उपलब्ध होने पर ही निश्चयात्मक रूप में कुछ लिखा जा सकता है। मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई, उसे सुरक्षा की दृष्टि से प्रकाशित कर दिया है।

भट्ट कुमारिल असमप्रान्तीय—काशी से प्रकाशित होने वाली **'परमार्थ-सुधा'** नाम्नी त्रैमासिक संस्कृत पत्रिका के वर्ष १, अङ्क ३ में आचार्य मनोरञ्जन शास्त्री का **'असमीयलोकप्रवाद' कुमारिल-भट्टपाद-विषयक:'** शीर्षक तथा वर्ष ४, अङ्क १ में **कुमारिलभट्टपाद-विषयकसमीयलोकप्रवादस्य यथार्थत्व समीक्षा'** शीर्षक लेख छपे हैं। इन में भट्ट कुमारिल को असम प्रान्तीय सिद्ध किया है। शास्त्रीजी के लेख का सार इस प्रकार है—

'कुमारिल भट्ट के पिता का नाम **कणाद** भट्ट और पितृव्य (चाचा) का नाम **धर्मकीर्ति** था' (वर्ष ४ अङ्क १, पृष्ठ २६)। इस में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। परमार्थसुधा के वर्ष १ अंक ३ में भट्ट कुमारिल विषयक असमीय लोकप्रवाद का विस्तार से उल्लेख किया है। इसमें कणाद भट्ट के पुत्र कुमारिल भट्ट का अपने पितृव्य धर्म भट्ट से साङ्गवेदाध्ययन करने का उल्लेख करके धर्म भट्ट क्यों वैदिक धर्म को त्याग कर धर्मकीर्ति नाम से बौद्ध परिव्राजक बना, इस का किञ्चित् निर्देश किया है। राजा भास्कर वर्मा के आदेश से भट्ट कुमारिल मगध में जाकर तार्किक शिरोमणि अपने पितृव्य धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हुआ, परन्तु बौद्ध दर्शन-नैपुण्य न होने से वाद में पराजित हुआ। तत्पश्चात् बौद्ध दर्शन के रहस्यों को जानने के लिये बौद्ध विद्यार्थी का वेश धारण करके अनुनय-विनय एवं शुश्रूषा से गुरु को प्रसन्न करके निरवशेष बौद्ध दर्शन के रहस्य को प्राप्त किया। तत्पश्चात् लोक-विज्ञात 'कुमारिल

भट्ट का पहचाना जाना, पर्वत शिखर से गिरना" आदि कथा लिखी है। इस प्रसङ्ग में असमीय लोक गीतों को जिन में भट्ट कुमारिल को अनुश्रुति उपलब्ध होती है, संस्कृत अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

वस्तुतः भारतीय इतिहास में जितने प्रसिद्ध कवि वा दार्शनिक हो चुके हैं, उन में कतिपय व्यक्तियों को छोड़कर सभी का देश काल विवादास्पद बन गया है। इस के दो करण हैं। एक–ग्रन्थकार द्वारा अपना परिचय न देना और दूसरा प्रत्येक प्रान्त की विद्वमन्डली द्वारा उसे अपने प्रान्त का बताना। महाकवि कालिदास की भी यही स्थिति है। भारत के अनेक प्रान्तों के विद्वान् कालिदास को अपने प्रान्त में लब्धजन्मा मानते हैं।

हमने यहां भट्टकुमारिल के विषय में जो कुछ ज्ञात हो सका, उसका निदर्शन मात्र कराया है। अभी हम निर्णय में असमर्थ हैं। इसके विषय में और अधिक अनु-शीलन वा गवेषणा करनी होगी।

पृष्ठ ४६, पं. २३— लगभग है। इसके आगे—न्यायसुधा का जो संस्करण छपा है उसमें तृतीयाध्याय के ५–६ पाद की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है।

२– तन्त्रवार्तिक टीकाकार—गंगाधर मिश्र—गङ्गाधर मिश्र कृत तन्त्रवार्तिक टीका के अ० ३ के ५–६ पादों की व्याख्या का एक हस्तलेख सरस्वती भवन वाराणसी के ग्रन्थागार में विद्यमान है। द्र० संख्या २९६०२।

पृष्ठ ४६, पं. २७—में तन्त्रवार्तिक टीकाकार कमलाकर भट्ट का नाम है। उस की **तन्त्रवार्तिक-तात्पर्य** नामक व्याख्या के तीन अपूर्ण हस्तलेख वाराणसेय सरस्वती भवन में सुरक्षित है। द्र० संख्या २९०५६, २९०५७, २९०५८।

पृष्ठ ४९ अन्तिम पङ्क्ति के आगे बढ़ावें—

टुप्टीका-वार्तिकाभरण—वेङ्कटेश विरचित टुपटीका की वार्तिकाभरण नामक व्याख्या के दो खण्डित हस्तलेख मैसूर राजकीय प्राच्यकोशागार में सुरक्षित है। द्र० सूचीपत्र सन् १९२२ का, पृष्ठ ४१७ तथा पूर्व सूच्यनुबन्ध सन् १९४२ का, पृष्ठ १८। एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन कोशागार में भी विद्यमान है। द्र० संख्या २९४१०।

पृष्ठ ५०, पं.२० –'मानते हैं।' के आगे निम्न सन्दर्भ जोड़ें—

आश्वलायनश्रौत की नारायण कृत वृत्ति में बृहतीकार का निर्देश—आश्वलायन श्रौत के वृत्तिकार नारायण ने ५।१४ की व्याख्या में लिखा है—

प्रगाथस्यार्धर्चशंसनविधानं बृहतीकार पक्षे सर्वत्र चतुर्थषष्ठयोः पादयोः पुनर्द्विर-भ्यस्तयोरवसानविध्यभावात् समाम्नायप्रसिद्धार्धर्चावसानं न प्राप्नोतीति तत्रावसान-प्राप्त्यर्थम्। पृष्ठ २३०।

यह बृहतीकार भट्ट प्रभाकर है अथवा आश्वलायन श्रौत का कोई प्राचीन टीकाकार, इसका अनुसन्धान अपेक्षित है।

भाट्टमतानुयायियों द्वारा प्रभाकर और उसके अनुयायियों के लिये अवाच्य शब्दों का प्रयोग—कुतुहल वृत्तिकार वासुदेव दीक्षित ने अपनी मीमांसावृत्ति में भट्ट प्रभाकर तथा उनके अनुयायियों के लिये अनेक अवाच्य पदों का व्यवहार किया है। यथा—

अनीश्वरवादिनस्तु प्राभाकरादयो वैदिकैरनादृत्याः। कुतु० १।२।१८ पृष्ठ ३०॥

प्रच्छन्नबौद्धाः केचिन्मीमांसकं मन्यमाना संगिरन्ते··· । **कुतु०१।२।२८, पृष्ठ ३४॥**

पृष्ठ ५४, पं० ५-६—यहां बृहती के प्रथमाध्याय के प्रथम पादमात्र के प्रकाशन का उल्लेख है। **पं० ६-१० में**—'बृहती व्याख्या पूर्ण शाबर भाष्य पर लिखी गई थी अथवा उपलब्ध अंश तक ही ·········'। इन दोनों अंशों में संशोधन न करें—

मद्रास विश्वविद्यालय से ऋजुविमला सहित बृहती का प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद से लेकर बारहवें अध्याय के प्रथम पाद के प्रारम्भिक भाग पर्यन्त ग्रन्थ ३–४–५ भागों के रूप में ३ भागों छपा है।

तृतीय भाग में मी० १।२ से ५।४ तक का भाग है। इस भाग में शाबरभाष्य भी साथ में छापा है।

चतुर्थ भाग में मी० ३।१ से ५।४ तक का भाग है। इस भाग में शाबरभाष्य का पाठ साथ में नहीं छापा है।

पञ्चम भाग में मी० ६।१–८ सम्पूर्ण अध्याय, अ० ६।१–४ सम्पूर्ण अध्याय, अ० १०। पाद १ से पाद ४ के १६ सूत्र तक, तत्पश्चात् अ० १२ के प्रथमपाद के प्रारम्भिक भाग का संग्रह है। इसमें भी शाबरभाष्य का पाठ साथ में नहीं छापा है।

बृहती का शेष भाग अनुपलब्ध है।

पृष्ठ ५४, पं. १०–लघ्वी तो नाम मात्र विशेष हो गई है। इसका संशोधन—

गत वर्ष सन् १९७९ की फरवरी मास में चार दिन के लिये मैं मद्रास गया था। मैंने अडियार पुस्कालय के हस्तलेख संग्रह में प्रभाकर भट्ट विरचित **लघ्वीव्याख्या** का एक हस्तलेख देखा था, ऐसा मुझे स्मरण आता है। पुस्तकालय में मैं केवल दो घण्टे रहा था। अतः शीघ्रता में इस ग्रन्थ की संख्या का निर्देश नहीं कर पाया।

पृष्ठ ५७, पं. १३ में गोविन्द स्वामी शीर्षक के अन्तर्गत जो कुछ लिखा गया है, वह अपनी स्मृति के आधार पर लिखा था। उस में यथास्थान निम्न संशोधन अपेक्षित है—

ग्रन्थकार का नाम–मीमांसाभाष्य-विवरणकार का नाम **देवेन्द्र सरस्वती** अपर-नाम **गोविन्दामृत मुनि** है। इनके गुरु का नाम **श्रीनारायणामृत** था। इस ग्रन्थ की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्रीमन्नारायणामृतपूज्यपादशिष्यदेवेन्द्रनाथसरस्वत्यपरनामधेयश्रीगोविन्दा-मृतमुनि-विरचिते धर्म-मीमांसाभाष्यविवरणे···············

हस्तलेख—इस विवरण का हस्तलेख प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के आरम्भ से द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद के २१वें **पृथक्त्वनिवेशात्** सूत्र पर्यन्त है।

इस का मूल हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में है। इसका नंबर R ३९-४८A है। इसकी नागराक्षर प्रतिलिपि अडियार पुस्तकालय में विद्यमान है।

पृष्ठ ५८ की अन्तिम पङ्क्ति के आगे और पृष्ठ ५९ से पूर्व निम्न सन्दर्भ बढ़ावें–

५—अज्ञातनामा शाबरभाष्य-व्याख्याकार

अडियार पुस्तकालय (मद्रास) के संग्रह में नं० ३८ बी० ४ पर (तथा राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय मद्रास के संग्रह में (नं० *R* ३७७३ पर) **मीमांसाभाष्यग्रन्थयोजना** नाम की मीमांसा-शाबरभाष्य की एक व्याख्या निर्दिष्ट है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। मीमांसा भाष्य १।१।२ की **तस्यायमभ्युपायः** पङ्क्ति का व्याख्यान इस प्रकार किया है—

तस्यायमभ्युपायः अल्पः प्रत्यवाय इति यावत्। नहि तेषां स्वयंकर्त्तव्यतया ऽभ्युपायिनो मन्दाग्नेरुष्णाम्बुपानोपदेशवत्।

अर्थात् श्येनादि अभिचार याग अभ्युपाय मात्र है अर्थात् अल्प प्रत्यवाय होता है। इनका स्वयंकर्तव्यरूप से उपदेश नहीं है। जैसे पानी पीने वाले मन्दाग्नि पुरुष के लिये गरम जल पीने का उपदेश होता है तद्वत् उपायमात्र है।

इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में *R* ३७७३ नं० पर निर्दिष्ट है। यह प्रथमाध्याय के प्रथम पाद मात्र की व्याख्या है।

६—म० म० क्षीरसमुद्रवासिमिश्र

महामहोपाध्याय क्षीरसमुद्रवासिमित्र विरचित शाबरभाष्य की **भाष्यदीप** नाम की एक व्याख्या अडियार पुस्तकालय (मद्रास) के संग्रह में विद्यमान है। वह व्याख्या २-३-४-५-६-७-८ अध्यायों की है। यह प्रभाकर मतानुसार है, ऐसा कहा जाता है।

पृष्ठ ६०, पं० २० के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें–

वासुदेव काशी में रहता था—वैदिक संशोधन मण्डल पूना के हस्तलेख संग्रह में वासुदेव दीक्षित का एक **अग्निचयन-प्रयोग** का हस्तलेख है। द्र० सूचीपत्र भाग २, नं० १३९९।६१६। उसके अन्त में लिखा है—

अग्रजन्मविश्वेश्वरवाजपेययाजितो लब्धविद्यावैशद्येन महादेववाजपेययाजि-सुतेनान्नपूर्णागर्भजातेन वाराणसीवास्तव्येन वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितो बौधायनीय-महाग्निप्रयोग.........।

वासुदेव दीक्षित का काशी में रहना उसके अन्य ग्रन्थों से ज्ञात नहीं होता है।

पृष्ठ ६१, पं. ६ के आगे निम्न संदर्भ बढ़ावें—

५. अजिताकार—आगे निर्दिश्यमान ऋषिपुत्र परमेश्वरकृत जैमिनीय सूत्रार्थ-संग्रह में अजिता नाम की जैमिनीय सूत्रव्याख्या का निर्देश मिलता है। इस व्याख्या के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं। ऋषिपुत्र परमेश्वर भी ग्रन्थकार को अजिताकार अजिताकृत् रूप में ही उद्धृत करता है।

अजिता-व्याख्याकार नारायण–अजिता सूत्रवृत्ति की नारायण ने व्याख्या लिखी थी (द्र० जैमिनिसूत्रार्थसंग्रह पृष्ठ ३४५)। इस का अनेकत्र विजया नाम से उल्लेख किया है।

६. ऋषिपुत्र परमेश्वर– ऋषिपुत्र परमेश्वर ने **जैमिनीय सूत्रार्थ संग्रह** नाम की एक वृत्ति लिखी है। इस का तृतीय अध्याय के षष्ठ पाद तक का भाग ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हुआ है।

७. राघवेन्द्र सरस्वती– राघवेन्द्र सरस्वती कृत मीमांसा सूत्रदीधिति के दो त्रुटित हस्तलेख सरस्वती भवन वाराणसी के ग्रन्थागार में हैं। द्र० संख्या २८६६०, २६१२१॥

८. स्वामी विद्याशंकर भारती– श्री स्वामी विद्याशंकर भारती कृत मीमांसा-**शास्त्र की भावबोधिनी वृत्ति** 'श्री जगद्गुरु करवीर पीठ, कोल्हापुर से सन् १९५१ में प्रकाशित हुई है।

पृष्ठ ६३ पं० १२ के आगे निम्न सन्दर्भ बढ़ावें—

ऊपर 'च' पर निर्दिष्ट कमलाकर भट्ट विरचित शास्त्रदीपिका की आलोक व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर राजकीय प्राच्य कोशागार में विद्यमान है। इस संग्रहालय के सन् १९२२ के सूचीपत्र में पृष्ठ ४१० पर निर्दिष्ट है।

इसी प्रकार 'ज' पर निर्दिष्ट शंकरभट्ट कृत शास्त्रदीपिका की प्रकाशव्याख्या भी इसी मैसूर राजकीय प्राच्य कोशागार में सुरक्षित है। द्र० सन् १९२२ का सूचीपत्र पृष्ठ ४१६।

'ङ' पर निर्दिष्ट नारायणभट्ट की शास्त्रदीपिका का एक हस्तलेख सरस्वती भवन वाराणसी के संग्रह में है। द्र० संख्या २९१८१।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त मैसूर प्राच्य कोशागार में शास्त्रदीपिका की निम्न व्याख्यायें भी विद्यमान हैं—

ञ– राजचूडामणि कृत कर्पूरवार्तिक—सूचीपत्र १९२२, पृष्ठ ४१५।

ट– भीमाचार्य कृत टिप्पणी „ „ „ ४१६

ठ– वैद्यनाथ पायगुण्ड कृत प्रभा „ „ „ ४२०

पृष्ठ ६५, पं० ६ के आगे बढ़ावें—

'ख' संकेतित भास्कर-राय कृत भाट्टदीपिका की टीका चन्द्रिका का एक हस्तलेख

मैसूर राजकोय प्राच्य-कोशागार में विद्यमान है। द्र० सूचोपत्र १९२२ का, पृष्ठ ४१४। चन्द्रिका का लेखक भास्करराय 'ख' में निर्दिष्ट भास्करराय है अथवा उससे भिन्न, यह अज्ञात है।

च— वाञ्छेश्वर विरचित भाट्टदीपिका की **भाट्टचिन्तामणि** व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर राजकीय प्राच्य-कोशागार में है। द्र० सूचीपत्र १९२२ का, पृष्ठ ४१४। इस हस्तलेख में अ० १, २, तथा अ० ३ के पाद १–३, ५, ६, ७, ८ की भाट्टदीपिका की व्याख्या है।

—०—

वेद–श्रुति–आम्नाय–संज्ञा–मीमांसा—

इस निबन्ध में प्रधानरूप से कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौत सूत्रों में पठित **मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र के सम्बन्ध में विचार किया है। इस प्रकरण में हमने एक प्रश्न उपस्थापित किया है कि यह सूत्र केवल कृष्ण यजुर्वेद के ही श्रौत सूत्रों में क्यों मिलता हैं? ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के श्रौतसूत्रों में क्यों नहीं मिलता? इस प्रश्न का सप्रमाण उत्तर आज तक किसी ने नहीं दिया। श्री करपात्री जी ने वेदार्थपारिजात में मेरे उक्त निबन्ध के खण्डन में पचासों पृष्ठ लिखे परन्तु उक्त प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया।

वस्तुतः इस श्रौतवचन के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों की वेद संज्ञा मानने वालों के पास उक्त प्रश्न का उत्तर है ही नहीं। यदि कोई किसी पाणिनीय वैयाकरण से पूछे कि पाणिनि ने **वृद्धिरादैच्**(१।१।१)से आ ऐ औ की वृद्धि संज्ञा और **अदेङ् गुणः**(१।१।२) से अ ए ओ की गुणसंज्ञा क्यों की? तो वह स्पष्ट उत्तर देगा कि पाणिनि ने अपनी शब्दान्वाख्यान प्रक्रिया की सुगमता और संक्षेप के लिये वृद्धि और गुण कृत्रिम संज्ञाएं की हैं। इन संज्ञाओं का सम्बन्ध केवल पाणिनीय शास्त्र तक ही सीमित हैं। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों ने ही मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा क्यों कही। इसका भी यही उत्तर होगा कि उन्होंने अपने शास्त्र की प्रवृत्ति-विशेष के लिये मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा कही है। इसलिये इस संज्ञा के व्यवहार का क्षेत्र भी उन उन श्रौतसूत्रों तक ही सोमित है, जिन में यह सूत्र पठित है।

उपर जो प्रश्न उद्भावित किया है उसका उत्तर स्पष्ट है–ऋग्वेद शुक्ल यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद में मन्त्र और ब्राह्मण पृथक् पृथक् हैं। इस कारण उन्हें ऐसो संज्ञा रखने की आवश्यकता ही नहीं थो। मन्त्र संहिताएं वेद रूप से लोक प्रसिद्ध थीं। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद की जितनी भी शाखाएं उपलब्ध हैं उनमें मन्त्र और ब्राह्मण का सांकर्य है। वहां लोक प्रसिद्ध वेद शब्द से उसी प्रकार कार्य नहीं चल सकता था जैसे पाणिनीय शास्त्र में लोक प्रसिद्ध वृद्धि और गुण शब्द के ग्रहण से।

इसलिये आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रकारों द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण समुदाय की परिभाषित वेद संज्ञा पाणिनीय वृद्धि गुण संज्ञा के समान कृत्रिम अथवा पारिभाषिक है। कृत्रिम वा पारिभाषिक संज्ञा का क्षेत्र उस शास्त्र तक ही सीमित रहता है, जिस शास्त्र में वह पारिभाषिक संज्ञा की गई है। यह सार्वत्रिक नियम है। इस नियम का श्रौतसूत्रकारोक्त वेद संज्ञा में उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार श्रुति और आम्नाय संज्ञायें भी पारिभाषिक हैं। यह हम इस निबन्ध में दर्शा चुके हैं। भगवान् जैमिनि ने मन्त्र और ब्राह्मण सम्मिलित की परिभाषा तो नहीं की, तथापि तर्क-पाद रूप उपोद्घात के पश्चात् जहां से मन्त्र और ब्राह्मण वचनों का विचार आरम्भ होता है उस के प्रथम सूत्र **आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्** में पूर्व आचार्यों द्वारा प्रयुक्त आम्नाय संज्ञा का व्यवहार किया है।

मन्त्र और ब्राह्मण की वेद संज्ञा को सार्वत्रिक और सामान्य संज्ञा मानने वाले विद्वान् हमारे इस निबन्ध में उपस्थापित निष्कर्षों का जब तक सप्रमाण खण्डन नहीं करते, तब तक वे अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिये अथवा अज्ञानमूलक विश्वास की रक्षा के लिये चाहे कितना ही लिखें, बुद्धिमान् जनों के लिये वह प्रमाणार्ह नहीं हो सकता है।

—:०:—

श्रौत–यज्ञ–मीमांसा निबन्ध में

पृष्ठ ८९, प. २१-२२ में उक्त नित्य और काम्य यज्ञों के विषय में—

नित्य यज्ञ — अग्निहोत्र से लेकर सोमान्त (=अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य और सोमयाग) नित्य यज्ञ माने गये हैं। द्र० आप० श्रौत १।१।१ का धूर्तस्वामी-भाष्य, उसकी वृत्ति (मैसूर सं० पृष्ठ ५) तथा आप० धर्मसूत्र २।२१।७ की हरदत्तीय व्याख्या। महाभारत शान्तिपर्व २६६।२० में अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को प्राचीन यज्ञ कहा है (द्र० श्रौतयज्ञ मीमांसा, पृष्ठ १०३)।

नित्य और काम्य में भेद—नैत्यक कर्म विना कामना के अर्थात् निष्काम भाव से धर्म =कर्तव्य मानकर किया जाता है और काम्य कर्म जब किसी कामना का उदय होता है तब किया जाता है।

दोनों के अनुष्ठान में भेद—नित्य और काम्य कर्म के स्वरूप में समानता होने पर भी दोनों में एक मुख्य भेद यह है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान सर्वाङ्ग पूर्ण अवश्य करना पड़ता है, क्यों कि काम्यप्रयोग सर्वाङ्ग पूर्ण ही फल का साधक होता है। परन्तु नित्य कर्म के अवश्य कर्तव्य होने से जितने अङ्गों का अनुष्ठान किया जा सके, उतने अङ्गों सहित प्रधान कर्म करने से कर्तव्यता पूर्ण हो जाती है। अतः प्रयोगविधि अशक्य अङ्गों के अनुष्ठान को संगृहीत नहीं करती। अत कतिपय अशक्य अङ्गों को छोड़ पर भी दोष नहीं होता है। द्र० मीमांसा अ० ६, पाद ३, अधि १।

नित्य कर्म सम्बन्धी उक्त निर्णय पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य कर्म में विकलाङ्गों को भी अधिकार है। जैसे अन्ध पुरुष यजमान द्वारा किया जाने वाला आज्यावेक्षण नहीं कर सकता है, शेष याजमान कर्म कर ही सकता है। पङ्गु विष्णुक्रम के अनुष्ठान के अतिरिक्त कर्म कर ही सकता है। इस हेतु से अङ्गहीन व्यक्ति के श्रौतकर्म में अनधिकार-बोधक वचन (द्र० कात्या-श्रौत १।१।५) का तात्पर्य काम्य कर्म विषयक ही जानना चाहिये।

पृष्ठ ९३, पं० १७ में दाक्षायणेष्टि के स्थान में दीक्षणीयेष्टि[1] पाठ शोधें।

वेदार्थ पारिजात पृष्ठ २०९९ में लिखा है—'इस क्रतु का दाक्षायणेष्टि ऐसा व्यवहार मीमांसक और याज्ञिकों में नहीं होता है किन्तु दाक्षायण याग यही व्यवहार होता'। यह लेख भी स्ववचन विरोध से अयुक्त है। पृष्ठ २०९९ में लिखा है—'**इष्टीनां प्रकृतिर्दर्शपूर्णमासौ**' इस से स्पष्ट है कि दर्शपूर्णमास इष्टि है। दाक्षायण याग आदि दर्शपूर्णमास का अभ्यास मात्र है, क्रत्वन्तर नहीं है (पृ० २०९९-२१००)। अब पाठक स्वयं विचारें कि जब दर्शपूर्णमास इष्टि है तो उसी का अभ्यासरूप दाक्षायण कर्म इष्टि क्यों नहीं है ? लेखक को तो खण्डन मात्र करना अभीष्ट है, चाहे स्ववचन और स्वमत का भी विरोध क्यों न होवे। इष्टि का लक्षण श्रौतपदार्थनिर्वचन में इस प्रकार किया है—'इष्टि शब्द चार ऋत्विजों से संपाद्य सपत्नीक यजयमान कर्तृक कर्म का नाम है (द्र० ष्ठ१)। यह लक्षण दाक्षायण याग में भी उपपन्न होता है। याग और इष्टि की मूल धातु 'यज' समान होने से इन्हें याग और इष्टि दोनों नामों के कहते हैं।

पृष्ठ ९४ के आरम्भ में प्रकृति विकृति का उदाहरण **अग्निष्टोम** देकर लिखा है इस में अङ्गभूत उपसदिष्टि दीक्षणीयेष्टि आतिथ्येष्टि दर्शपूर्णमास की विकृतियां है और अग्निष्टोम सोमयाग के रूप में प्रकृति रूप है। इस पर वेदार्थपारिजात के भाग २, पृष्ठ २१०० पर लिखा है—

'यदि म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जीवन काल में होते तो निश्चय ही मानते कि मैंने क्षीरप्रदान से सर्प का पालन किया है।' यह लिखना वेदार्थपारिजात के लेखक को ही शोभा देता है। पूज्य आचार्यपाद तो स्वयं यज्ञतत्त्व-प्रकाश के पृष्ठ ५७ में लिखते हैं—

अत्र बहूनामिष्टिपशूनां सत्यप्यनुष्ठाने तेषाङ्गत्वात् सोमद्रव्यकयागस्यैव प्राधान्यात् सोमयाग इति व्यवहारः। अग्निष्टोमाख्येन साम्ना समापनाच्च **अग्निष्टोम** इति **प्रकृतियागो व्यपदिश्यते।**

अर्थात्—सोमयाग में बहुतसी इष्टियों और पशुओं का अनुष्ठान होने पर भी

---

१. दीक्षणीयेष्टि आदि सोमयाग के अङ्ग हैं। परन्तु सोमयाग में जितनी इष्टियाँ हैं उन सब की प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि है—**दर्शपूर्णमासाविष्टीनाँ प्रकृतिः**। आप० परिभाषा ३।३१॥

उन के अङ्ग रूप होने से और सोमद्रव्यक याग के ही प्रधान होने से इस का सोमयाग ऐसा व्यवहार होता है। अग्निष्टोम नामक साम से इसकी समाप्ति होने से अग्निष्टोम कहाता है। यह सोमयागों की प्रकृति याग कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि दक्षिणीयादि इष्टियां सोमयाग की अङ्गभूत है, परन्तु साङ्ग कर्म के विधान में इष्टियों और पशुयागों की बहुलता होने पर भी प्रधान याग सोमद्रव्यक होने से यह सोमयाग कहाता है। अब विचारणीय है कि **सोमेन यजेत** श्रुति से विहित सोमयाग विना अङ्गकर्मों के तो सम्पन्न होगा ही नहीं। उस कर्म में अङ्ग भूत इष्टियां अवश्य करानी होंगी। वे दर्शपूर्णमास की विकृतियां हैं। छः दिन साध्य सोमयाग में एक पञ्चम दिन को छोड़कर शेष ५ दिनों में तो इष्टियां और पशुयाग ही विहित हैं। अतः आचार्यपाद ने स्पष्ट ही लिखा है अङ्ग रूप इष्टि और पशुयाग के बाहुल्य होने पर भी प्रधान कर्म सोमद्रव्यात्मक होने से इसे सोम याग कहते है। अग्निष्टोम को प्रकृतित्व सोमयाग में क्रियमाण सकल कर्मोपदेश के कारण है। परन्तु तद्गत इष्टियों के विकृतित्व का निवारण कैसे होगा। हमने भी सोमयागान्तर्गत इष्टियों को विकृति कहा है, सम्पूर्ण अग्निष्टोम को विकृति हमने कहा ही नहीं। अतः वेदार्थपारिजात के लेखक का सम्पूर्ण लेख मात्सर्यग्रस्त है।

पृष्ठ ६७, टि० २ के स्थान **में**—निम्न परिवर्तन करे—

२. हिर**ण्यमुपर्यके** (कात्य० श्रौत ४।८।१५)। 'स**म्भाराणामुपरि हिरण्यनिधानमिच्छन्त्येक आचार्या' इति तद्व्याख्यातारः** ।

पृष्ठ १०५, पं० २ के **आगे बढ़ावें**—

गोपथ ब्राह्मण १।५।२५ में लिखा है—**ते सर्वे यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः**। इस वचन में स्पष्ट ही प्राचीन और नवीन ऋषियों द्वारा सृष्ट (=प्रवर्तित) यज्ञों का उल्लेख किया है।

पृष्ठ १५७ में **'पशवालम्भन के अभाव में यज्ञ पूर्ति'** शीर्षक के नीचे हमने पशुयाग की पूर्ति पुरोडाश से लिखी है। पुरुषमेध में पुरुषों के उत्सर्जन के पश्चात् घृत की आहुतियों से कर्म की समाप्ति दर्शाई है। इसी विषय में कुछ अन्य नवीन प्रमाण भी उद्धृत करते हैं—

सोमयाग के अन्तर्गत त्वाष्ट्र पात्नीवत पशु का विधान है। उस के सम्बध में कात्यायन श्रौत ८।६।१-२ में लिखा है—**त्वाष्ट्रो बस्तः, पर्यग्निकृतमुत्सृजन्ति, आज्येन च संस्थापयनन्तीति श्रुतेः**। अर्थात् पत्नी-यूप में बद्ध त्वष्टा देवताक प्रजनन समर्थ पशु का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग करते हैं। और आज्य से पशुयाग की समाप्ति की जाती है। ऐसा श्रुति में कहा है।

आप० श्रौत १४।७ के १३ से १८ तक के सूत्र पशुयाग के **विषय में अत्यन्त महत्त्व-**

पूर्ण हैं। इन में १३ वें सूत्र में कात्या० श्रौत की पूर्व निर्दिष्ट विधि का ही उल्लेख है। सूत्र १५ में **पशुधर्माज्यं भवति** कहकर पशुहोम के स्थान में आज्य का स्पष्ट विधान किया है। सूत्र १७ में त्वाष्ट्र पशु के उत्सर्जन के अनन्तर पक्षान्तर में याग की पूर्ति का प्रतिषेध भी दर्शाया है। सूत्र १८ सोमयागस्थ अनूबन्ध्या गौ के कर्म को पशु-पुराडाश से पूर्ण करने का विधान किया है—**पशुपुरोडाशादनूबन्ध्यायाः शेषं समापयेत्।** आप० श्रौत १३।२४।८ सूत्र भी देखें।

आप० श्रौत १३।२४।१० में ऋग्वेदियों के मत से अनूबन्ध्या गौ के स्थान में मैत्रावरुणी आमिक्षा का विधान दर्शाया है—**मैत्रावरुणीमामिक्षामनूबन्ध्यायाः स्थाने बह्वृचाः समामनन्ति।**

साधारण पशुयाग ही नहीं, अभिचार कर्म में भी अग्निषोमीय पशु और अनूबन्ध्या के स्थान में क्रमशः एकादशकपाल पुरोडाश और मैत्रावरुणी आमिक्षा का विधान उपलब्ध होता है—**अग्निषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीय एकादशकपालः। अनूबन्ध्यायाः स्थाने मैत्रावरुण्यामिक्षा (आप० श्रौत २२।३।११–१२)।**

इन उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि श्रौतयाग में जितने भी पशुयाग है, उन सब में सामान्यरूप पशु का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्ग कर के कर्म की समाप्ति पुरोडाश आज्य वा आमिक्षा से की करनी चाहिये।

वेदार्थपारिजात में स्वामी करपात्री जी ने गवालम्भन का तो बड़े यत्नपूर्वक खण्डन किया है। यहां तक कि उत्तररामचरित जैसे ग्रन्थों में उल्लिखित गोवत्स के आलम्भन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने तो यह प्रतिज्ञा की है कि कभी गवालम्भन होता ही नहीं था। यह सब कथन **गतानुगतिको लोकः न लोकः पारमार्थिकः** कहावत के अनुसार ही है। आज यदि करपात्री जी ब्राह्मण श्रौत आदि में गौ का आलम्भन स्वीकार करलें तो समस्त हिन्दू उनके और ब्राह्मण श्रौत आदि ग्रन्थों के विरोधी बन जायें। इस डर से वे 'किसी भी काल में गवालम्भन नहीं होता था' का झूठा आडम्बर रचते हैं। यदि भूतकाल में पुराणपन्थी गवालम्मन नहीं करते थे तो श्रौत गृह्य तथा महाभारत में इन का उल्लेख क्यों कर मिलता है? ये लोग प्रक्षेप तो मान नहीं सकते और वेदविरुद्ध होने से अप्रमाण भी नहीं कह सकते। इतना ही नहीं, कलिवर्ज्य प्रकरण में पठित

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

वचन को स्वामी करपात्री जी ने प्रमाणभूत माना है[1]। ऐसी अवस्था में हम

---

१. अश्वालम्भं.........पञ्चविवर्जयेत् इति वचनं तु बहुनिबन्धकृच्चर्चितत्वात् प्रमाणभूतमेव। वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ २०४९।

उन से पूछते हैं कि यदि गौ का आलम्भन कभी हुआ ही नहीं तो उक्त वचन में कलि में गवालम्भन का निषेध क्यों किया है ? इस प्रकरण में अश्वालम्भन का भी निषेध है फिर शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र और जयपुर के महाराज जयसिंह को अश्वमेध याग आप के मतानुयायी विद्वानों ने कैसे कराया ? जब कलियुग में संन्यास भी वर्जित है तब पौराणिक समुदाय में सहस्रों आप जैसों ने संन्यास धारण कैसे किया ? क्या आप लोगों का वर्तमान कलिकाल में संन्यास धारण करना धर्मविरुद्ध नहीं ?[1]

गौ के अतिरिक्त अन्य अश्व अज मेष आदि पशुओं ने करपात्री जी का क्या बिगाड़ा, जो उन के यज्ञ में आलम्भन के लिये पचासों पृष्ठ काले किये। उन्होंने लिखा है—

याज्ञिकपशुवधोऽपि पशूनां स्वर्गप्रापकत्वात् पशुयोनिनिवारणपूर्वकहिरण्यशरीर-प्राप्तिहेतुत्वात् पशूपकारक एव।.........यज्ञे पशूनामुपयोगस्तु पशुकल्याणाय भवति।.........यस्मात् पशुरपकृष्टयोनेर्विमुक्तो देवयोनौ जायते। वेदार्थपारिजात भाग २, पृष्ठ १९७७, १९७८।

इस अंश का हिन्दी अनुवाद वेदार्थपारिजात में इस प्रकार किया है—

"यज्ञ में किया जाने वाला पशुबध भी पशुओं का स्वर्गप्रापक होने से तथा पशु-योनि निवारण पूर्वक दिव्य शरीर प्राप्ति कराने में कारण होने से पशु का उपकारक ही होता है।............... वह यज्ञीय पशु अपकृष्ट योनि से विमुक्त होकर देवयोनि में उत्पन्न होता है..................।" वही, पृष्ठ ११७७—११७८।

अब कहिये करपात्री जी 'गौ को आप पशु योनि मानते हैं या देवयोनि ?, यदि पशुयोनि मानते हैं तो उस अपकृष्ट योनि से गौ को छुड़ा कर दिव्य हिरण्य शरीर की प्राप्ति पूर्वक स्वर्गप्राप्त कराने के श्रेय से आप क्यों वञ्चित होते हैं ? उसे भी यज्ञ में जैसा सूत्र ग्रन्थों में उल्लेख है, मार कर अपकृष्ट योनि से मुक्त क्यों नहीं होने देते ? क्यों

---

१. यह प्रश्न स्वामी करपात्री जी के हृदय में भी उठा। उसके समाधान के लिये '**यावद् वर्ण विभागः स्याद् यावद्वेदः प्रवर्तते। अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत्कुर्यात् कलौ युगे**।।" इस अनिर्दिष्ट स्थानवाले वचनान्तर को उपस्थित करके पीछा छुड़ाया है (द्र० वेदार्थपारिजात, भाग २, पृष्ठ १९७९)। स्वामी करपात्री जी के मतानुसार कलि में संन्यास का प्रतिषेध वित्तैषणा पुत्रैषणा लोकैषणा से निवृत्ति के दुष्कर होने से किया गया है (द्र० वे० पा० पृष्ठ १९७९)। तब क्या प्रतिप्रसवात्मक **यावद् वर्ण विभागः स्याद्** वचन एषणात्रय से युक्त व्यक्ति के संन्यासविधानार्थ है ? सम्भव है पौराणिक सम्प्रदाय के लाखों की सम्पत्ति रखनेवाले मठाधीश और करपात्री जी जैसे लोकैषणा से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा ही संन्यास ग्रहण के लिये उक्त वचन की कल्पना की गई होगी। वैदिक मर्यादानुसार तो तीनों में से किसी एक एषणा से ग्रस्त व्यक्ति को भी संन्यास ग्रहण का अधिकार नहीं है।

'गौ का आलम्भन कहीं विहित नहीं है' का झूठा प्रपञ्च रचते हैं ? **क्यों सर्वत्र गौ शब्द** का अर्थान्तर करते हैं ?

स्वामी करपात्री जी ने ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा और 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' के खंडन में जो लगभग ३०० पृष्ठ काले किये हैं, वे सब अज्ञान-मूलक हैं। जब तक किसी भी विषय का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं किया जायेगा, तब तक उसके तत्त्व का निर्णय हो ही नहीं सकता। संहिताओं शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विषय में जो कुछ भी कहा है, उसका तत्त्व झूठे वादों के चक्कर में लुप्त हो गया है। उसका उद्धार इतिहासविद्या से ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने कहा है—

> **इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।**
> **लोकगर्भं गृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ॥** आदि पर्व १।८७।।

जैसे भगवान् वेदव्यास ने मोहावरण में विलुप्त लोक-गर्भ को इतिहासरूपी मोहावरण-घाती प्रदीप से प्रकाशित किया, वैसे ही समस्त वैदिक वाङ्मय में जो विभिन्न विषय हैं उनके तत्त्व का प्रकाश भी मोहावरण-घाती इतिहासरूप प्रदीप से ही सम्भव है। अन्य कोई मार्ग नहीं है। संस्कृत भाषा में लिखे सभी लेखों को **बाबा-वाक्यं प्रमाणम्** के सहारे अधिक काल तक प्रामाणिक घोषित नहीं कर सकते। इसमें विभिन्न ग्रन्थों में निर्दिष्ट यज्ञ में गवाम्भन को आपके द्वारा अप्रमाण स्वीकार करना हो प्रमाण है। यतः इसे स्वीकार करने से पौराणिक जगत् की रही सही भित्ति की नींव भी हिल जायेगी, यह सोच कर उसे बचाने के लिये करपात्री जी ने महान् छल प्रपञ्च किया है।

हम तो यज्ञ में किसी भी पशु का आलम्भन नहीं मानते, अतः हमारे मत में गौ का आलम्भन स्वतः अप्राप्त है। हम सूत्र ग्रन्थों के उन सभी वचनों को **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।३) वचन के अनुसार वेदविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

इतिहास को, जो शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत है, प्रमाण न मानने से कैसी भूलें होती हैं, इसका एक उदाहरण वेदार्थपारिजात की प्रस्तावना से देते हैं—

प्रस्तावना के लेखक ने लिखा है—**रामायणकालात् प्रागेव कठतैत्तिरीयशाखाध्यायिन आसन्निति महर्षिवाल्मीकेरादिकविवचनादवगच्छामः** (पृष्ठ ७)। अर्थात् रामायण से पहले ही कठ तैत्तिरीय शाखाध्यायी विद्यमान थे, यह महर्षि वाल्मीकि के वचन से जानते हैं (वाल्मीकि का वचन उद्धृत नहीं किया)।

महाभारत आदि इतिहास से सिद्ध है कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने कृष्ण यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया। वैशम्पायन ने तित्तिरि कठ आदि कई शिष्यों को पढ़ाया। आधुनिक मीमांसकों और शबरस्वामी के (१।१।३०) **आख्याप्रवचनात्** मीमांसा सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है कि कठ तैत्तिरीय कालाप आदि नाम प्रवचन

निमित्तक हैं। तदनुसार शाखा-ग्रन्थों को अपौरुषेय मानने पर भी कठ तैत्तिरीय आदि नामकरण तो महाभारत कालिक तित्तिरि कठ कलापी आदि के प्रवचन के कारण ही हुआ है। ऐसी अवस्था में वाल्मीकि रामायण के जिस वचन (अयोध्या काण्ड ३२। १५–१८) में ये नाम आये हैं वह वचन वाल्मीकि का नहीं हो सकता। निश्चय ही इस वचन को प्रस्तावना लेखक सदृश किसी कृष्ण यजुर्वेदी ने अपनी शाखा को प्राचीन सिद्ध करने के लिये रामायण में मिलाया है। यदि प्रस्तावना के लेखक इतिहास का कुछ भी ज्ञान रखते होते, तो ऐसा इतिहास-विरुद्ध कथन कभी न करते।

आधुनिक इतिहास–ज्ञान–शून्य ग्रन्थ–सम्पादक भी इतिहास के अज्ञान से अपने कार्य में भटक जाते हैं। वाल्मीकि रामायण के परिश्रम पूर्वक सम्पादित बड़ोदा के संस्करण में भी इन श्लोकों को मूल ग्रन्थ में स्थान देना इस बात को प्रमाणित करता है कि सम्पादक महोदय ने अपने सम्पादन कार्य में इतिहास का आश्रय नहीं लिया, अन्यथा सम्पादक इन श्लोकों को मूल पाठ में कदापि न रखते।

इतना ही नहीं, स्वामी करपात्री जी आदि समस्त पौराणिक विद्वान् पुराणों के अनुसार यह मानते है कि 'पहले एक ही वेद था, कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उनका चतुर्धा विभाग किया।' यदि पुराणों के इस कथन को स्वामी करपात्री जी आदि प्रमाण मानते हैं, तो वेद की विभिन्न शाखाओं को वे अपौरुषेय वा अनादि नहीं मान सकते। उन्हें किसी एक लेख को अप्रमाण मानना ही पड़ेगा। चाहे पुराणोक्त चतुर्धा-करण को अप्रमाण मानें, चाहे शाखाओं के अपौरुषेयत्व तथा अनादित्व का परित्याग करें। ये लोग अभयतः पाश से बन्धे हैं।

इस दोष से छुटकारा शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों को कठ त्तित्तिरि ऐतरेय याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा प्रोक्त मानने से ही हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट ही लिखा है—

यद्यप्यर्थो नित्यः याऽसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठक कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति॥ महा० ४।३।१०१॥

अर्थात् शाखाओं की वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी के भेद से काठक कालापक मौदक पैप्पलादक आदि व्यपदेश होता है। (इस विष में विशेष मीमांसाभाष्य-व्याख्या, भाग १, पृष्ठ १०६-११४ पर देखें)

इसी तत्त्व का समर्थन काशिका १।३।४९ के **अनुवदते** कठः **कलापस्य** (कठ कलाप का अनुकथन करता है) वचन से भी होता है।

इस लिये कठ कलाप तैत्तिरीय आदि शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन महाभारत-काल में हुआ, इस इतिहास सिद्ध तथ्य को अनीश्वरवादी मीमांसकों और पौराणिक विद्वानों के कथन से झुठलाया नहीं जा सकता।

मीमांसाभाष्य-व्याख्या में परिवर्धन-संशोधन

प्रथम भाग में

पृष्ठ ५ टि० १, के आगे बढ़ावें—**वेदमधीत्य स्नास्यन्**······। आप० गृह्य ५।१।१।। बौधा० गृह्य २।६।१।।

पृष्ठ १०, पं० ४—प्रवर्तक वचनमाहुः— पर टिप्पणी—**स च प्रेरणाख्यव्यापारो नियोजयितृपुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषो लोके। वेदे त्वनीश्वर वादे लिङादिनिष्ठो धर्मविशेषः कल्प्यः। सेश्वरवादे तु ईश्वरेच्छैव प्रवर्तना। कुतुहलवृत्ति १।२।७।।**

अर्थात्—वह प्रेरणारूप व्यापार लोक में किसी कार्य में प्रवृत्त करने वाले पुरुष में रहने वाला अभिप्राय विशेष होता है। वेद में अनीश्वरवाद में लिङादि शब्द में रहने वाला धर्मविशेष कल्पनीय है। सेश्वर वाद में ईश्वर की इच्छा ही प्रवर्तना है।

पृष्ठ १६, टि० ४—नित्य[विहित]निषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्ति पर टिप्पणी—यहां भट्ट उम्बेक ने भर्तृमित्र का जो मत उद्धृत किया है उस का तात्पर्य है—भर्तृमित्र ने कर्म का इष्टानिष्ट फल न मानकर शास्त्रविहित और निषिद्ध कर्म के आचरण में इष्टानिष्ट फल माना है। सम्भवतः भर्तृहरि ने विना नाम लिये वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ व्याख्या में इसी मत को उद्धृत किया है—

तत्र केचिदाचार्या मन्यन्ते—न प्रकृत्या किञ्चित् कर्म दृष्टमदृष्टं वा। शास्त्रानुष्ठानात्तु केवलाद् धर्माभिव्यक्तिः शास्त्रातिक्रमाच्च प्रत्यवाययोगः। द्र० वाक्यपदीय काण्ड १ कारिका १४४ की स्वोपज्ञवृत्ति

अर्थात् कुछ आचार्य मानते हैं—कर्म स्वभाव से दृष्ट वा अदृष्ट रूप नहीं हैं। केवल शास्त्र के अनुष्ठान से धर्म की अभिव्यक्ति होती है और शास्त्र के अतिक्रमण से प्रत्यवाय (पाप) का सम्बन्ध होता है।

यही बात भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में भी लिखी है—**धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम्। अवस्थित एव धर्मः। स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः प्रेर्यते। पृष्ठ ३१, पूना सं०।**

तुलना करो—**वृद्धमीमांसकास्तु यागादिकर्मनिर्वत्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादि कर्मैव शाबरा ब्रुवते।** जयन्तकृत न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २७९, लाजरस प्रेस काशी को छपी।

पृष्ठ २१, पं० २०—'अनादि सिद्ध मानते हैं, पर नई टिप्पणी—**भर्तृहरि ने भी**

वाक्यपदीय, उसकी स्वोपज्ञ-व्याख्या तथा महाभाष्य–दीपिका में इस मत का उल्लेख किया है। यथा–

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्। वाक्य० १।१४४॥

येषां तावदिदं नित्यैव लोकस्याविभागेन प्रवृत्तिर्नैव काचिद् युगमन्वन्तरव्यवस्था, नापि ब्राह्मणोऽसाधारणः कश्चिदहोरात्रविभागो विद्यते इति दर्शनम्।...... वाक्यपदीय १।१४५ की स्वोपज्ञव्याख्या।

सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशमिति। आर्हतानां मीमांसकानां च नैवास्ति विनाश एषाम्॥ महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ २१, पूना सं०।

पृष्ठ ३२, पं० ५––**स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति** पर टिप्पणी तुलना करो–**स एष यज्ञायुधी य[illegible]ानः स्वर्गं लोकमेतीति ब्राह्मणम्।** निदानसूत्र २।६, पृष्ठ ३२। इस से पूर्व मृत शरीर पर पात्र रखने का भी विधान है।

पृष्ठ ५९, पं० ९–'गुहा में स्थापित किया' के आगे नया सदर्भ बढ़ावें—

सायण की भ्रान्ति––सायणाचार्य ने ऋग्वेद के उपोद्घात में लिखा है–'यदि यह कहो कि कर्मफलरूप शरीरधारी जीवों से वेद के निर्मातृत्व **के अभावमात्र से अपौरुषेयत्व विवक्षित होवे। ऐसा नहीं है। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात्** इस श्रुति से जीव विशेष अग्नि वायु आदित्य आदि के द्वारा वेद की उत्पत्ति होने से ईश्वर का अग्न्यादि के प्रेरक होने से निर्मातृत्व है यह जानना चाहिये।

कर्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेन्न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादित त्वात् ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् इति श्रुतेः (ऐ० ब्रा० ५।५।७)। ईश्वरस्य अग्न्यादि प्रेरकत्वेन निर्मातृत्व द्रष्टव्यम्। चतुर्वेदभाष्यभूमिका संग्रह (काशी संस्कृत सिरीज) अन्तर्गत ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका, पृष्ठ १४॥

यह निर्देश मीमांसा शास्त्र के निरीश्वर वादी सिद्धान्त के विपरीत तो है ही, सेश्वरवादियों के वेदापौरुषेयत्व सिद्धान्त और वेद के पूर्व उद्धृत मन्त्र के भी विपरीत है। सायण ने यहां अग्नि वायु आदि-ऋषियों को वेद का उत्पादक माना है और ईश्वर को अग्नि वायु आदि ऋषियों को वेद को उत्पन्न करने में प्रेरक कहा है। हां, यहां सायण ने ब्राह्मणगत अग्नि वायु आदित्य को देहधारी जीवविशेष स्वीकार किया है, यह अंश ठीक है, क्योंकि जड़ अग्नि वायु आदित्य से वेद का प्रादुर्भाव असम्भव है।

सेश्वर मीमांसकों के मतानुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद के उक्त मन्त्र के प्रकाश में लिखा है––ईश्वर ने अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा के हृदयों में वेद का प्रकाश किया। द्र०–ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिप्रकरण।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सेश्वर मीमांसाकों **के** वेदापौरुषेयत्व सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

पृष्ठ ६३ के विवरण में हमने शबरस्वामी के **प्रावाहणि** प्रयोग में कृत्संज्ञक इकार प्रत्यय के विधान की आलोचना की है। इस की प्रत्यालोचना करते हुए वेदार्थपारिजात के लेखक ने भाग २ पृष्ठ १६४१ में हमारी आलोचना में निर्दिष्ट पक्षान्तर **प्रवाहण इवाचचरति** को उद्धृत करके 'आद्यच् को वृद्धि नहीं हो सकती दोष' का निवारण **व्यत्ययेन इण इञो वा तद्धितकार्यकरत्वेन तदुपपत्तेः** (व्यत्यय से इण् वा इञ् प्रत्यय के तद्धितकार्यकारी होने से शब्द की निष्पत्ति हो जायेगी) लिखकर देने का प्रयास किया है। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरणानुसार सम्पूर्ण वाङ्मय में कोई भी ऐसा शिष्ट प्रयोग नहीं है जिस में कृत् प्रत्यय में तद्धित कार्य होता हो। अतः दृष्टान्त के अभाव में उक्त कल्पना ऐसी कल्पना मात्र है, जो व्याकरण शास्त्रज्ञों के गले नहीं उतारी जा सकती। हमने अपनी आलोचना में भाष्यकार के **इकारप्रत्ययस्तु** रूप-सामान्य निर्देश के अनुसार दुर्जन संतोष न्याय से 'इञ् वा इण् प्रत्यय की कल्पना करके 'आद्यच् को वृद्धि नहीं होगी' दोष दर्शाया था। प्रत्यालोचक ने उसी का अनुवाद करके अपने शास्त्र के अज्ञान को उद्घाटित किया है। प्रावाहणि शब्द तै० सं० में आद्युदात्त है। अतः यदि कृत् प्रत्यय की कल्पना भी उन्हें करनी थी तो इञ् की करते। इण् से तो अन्तोदात्तत्व होगा। वस्तुतः यदि हम **प्रवाहण इवाचरति** इस काल्पनिक पक्ष को उपस्थित न करते तो इन को इस पक्ष का बोध ही न होता। यदि उक्त कल्पना में कुछ भी औचित्य होता तो कुतुहलवृत्तिकार, जो कि अच्छे=वैयाकरण थे, इस कल्पना को अवश्य उद्भावित करते। परन्तु उन्होंने तो भाष्यकार उद्धृत ब्राह्मण वचन को तथा **इकारप्रत्ययस्तु** कल्पना को व्याकरणशास्त्र–विरुद्ध होने से छुआ भी नहीं।

यहां एक बात और विचारणीय है। वेदार्थपारिजात के तथाकथित लेखक स्वामी करपात्री जी ने अनेक स्थानों पर सायणभाष्य के अनुसार मन्त्रों में भी वसिष्ठ विश्वामित्र वामदेव भृम्यश्व प्रभृति ऋषि मुनि और राजाओं का इतिहास माना है। इतिहास मानते हुए वेद को नित्य सिद्ध करने के लिये **यः कल्पः स कल्पपूर्वः** पक्ष को स्वीकार करके प्रतिकल्प वसिष्ठ विश्वामित्रादि की उत्पत्ति मानी है। शबर स्वामी को ऐसा वेद का नित्यत्व अभिप्रेत नहीं था। वह तो सृष्टि और वेद को अनादिसिद्ध मानता है। अन्यथा **इकारप्रत्ययस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायां कर्तरि** की कल्पना न करता। प्रतिकल्प प्रवाहण के अपत्य बबर आदि की उत्पत्ति मानकर नित्यत्व कह सकता था।

यः कल्पः स कल्पपूर्वः यह शास्त्रीय सिद्धान्त तो है, परन्तु यह अचेतन सृष्टि विषयक है। **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्** (ऋ० १०।१६०।३) श्रुति में जड़

सृष्टि का ही उल्लेख है। यदि प्रतिकल्प वसिष्ठ विश्वामित्र प्रभृति की आत्माएं जन्म लेती रहेंगी तो सर्वशास्त्रप्रतिपादित मोक्ष तो किसी आत्मा को प्राप्त होगा ही नहीं। आप के मतानुसार तो प्रति कल्प वैवस्वतमन्वन्तर के अट्ठाइसवें कलियुग में यवनों और अंग्रेजों के राज्य ने होना ही है और हिन्दुओं ने विधर्मी बनना ही है। सम्भवतः यही सोचकर पौराणिक पण्डित और साधुसमाज आर्य (हिन्दू) जाति के ह्रास की ओर ध्यान नहीं देता है। किसी अज्ञानवश अयथार्थ मान्यताओं को स्वीकार कर लेने और उन्हें ही गांठ बांध कर बैठे रहने से वैदिक वाङ्मय, वैदिक संस्कृति, देश जाति और समाज की ये लोग जो भारी हानि कर रहे हैं, उस से तभी छुटकारा होगा जब प्रभु ही उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करेंगे।

पृष्ठ १५७, पं० १—अपराधात्तु—सूत्र पाठ में कहीं कहीं **स्त्र्यपराधात्** पाठ मिलता है।

पृष्ठ २१६, पं० ४—'भट्ट कुमारिल ने' यहां 'दूसरा श्रुतिनाश— भट्ट कुमारिल ने' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २१६, पं० १६—'मूर्तिपूजा के प्रामाण्यबोधन में प्रमाण हो सकता है?' के स्थान में 'मूर्तिपूजा के प्रामाण्य का बोधक हो सकता है' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ २१६, पं० ८—'संख्या विशिष्ट शिखाओं से गोत्र का परिज्ञान होता है।' इस पर टिप्पणी देवें—द्र० मी० १।३।१५ भाष्य—**यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते केचित् त्रिशिखाः, केचित् पञ्चशिखाः।**

'**पृष्ठ २२१, पं० २४**—'श्रुति के साथ विरोध स्पष्ट है।' इस के आगे बढ़ावें वस्तुतः **जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनाऽदधीत** यह उपलक्षण मात्र है।' शतपथ २।१।३।६ में कहा है—**तस्माद् यदैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेद् अथाग्नी आदधीत, न श्वः श्वमुपासीत, को हि मनुष्यस्य श्वो वेद।**

पृष्ठ २२४, पं०३—तत्र स्पर्शनस्य क्लृप्तंमूलम्, कल्पयं स्मृतेः इस पर टिप्पणी—तन्त्रवार्तिक की सुधा व्याख्या पृष्ठ १६० में सर्ववेष्टन को श्रुतिमूलता दर्शाई है। है। द्र० मीमांसाकोष, पृष्ठ १७३३।

पृष्ठ २३२, पं० १७—'स्मृतियां प्रमाण होवें' के स्थान में 'स्मृतियां (अविरुद्धम्) अविरुद्ध प्रमाण होवें (इति चेत्) ऐसा कहें तो' पाठ शोधें

पृष्ठ २६५, पं० २६—'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्' यहां 'अन्याय्याश्चानेकशब्दत्वम्' पढ़ें।

पृष्ठ २६८, पं० ४ यहां [इत्] इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर···। इस पाठ में [इत] पद बढ़ाना व्यर्थ है। टि०१ में 'तै० सं० १।१।१२; आप० श्रौत २।१४।१' अंश भी निकालने योग्य है। द्र० मी० २।१।८, पृष्ठ ४७६ का विवरण पं० १६—२२।

पृष्ठ २६६, पं० ८—[इत] इन्द्र ऊर्ध्वो ऽध्वरः' से लेकर पं० १०[इतः]पद त्रुटित हैं' पर्यन्त भाग निकाल दें। द्र० मी० २।१।८, पृष्ठ ४७६ का विवरण पं० १६-२२।

पृष्ठ ३१४, पं० २२–'उपशय कहते हैं' पर टिप्पणी—**उपशयः यूपानां समीपे शेते इत्युपशयोऽन्यो यूपः ···स च वितष्टः विशेषेणोपर प्रदेशेऽपि तष्टः।** सायणभाष्य शत० ३।७।२।१॥

वितष्टः का अर्थ है—अष्टाश्रि (=आठ कोने वाला) न किया गया। यह पितृभूति का मत है (द्र० कात्या० श्रौत ८।८।२२ कर्कभाष्य की टिप्पणी)। कात्या० श्रौत के टीकाकार विद्याधर मिश्र ने **वितष्टम्** का अर्थ **अतष्टम्**=बिना छीला किया है। यहां कात्या० श्रौत ८।८।२४ सूत्र और उसकी टीका द्रष्टव्य है।

उपरप्रदेश—उपर = अवट=गड्ढा, जिसमें यूप खड़ा किया जाता है। **अष्टाश्रि करोत्युपरवर्जम्** (कात्या० श्रौत ६।१।२६) गड्ढे में यूप का जितना भाग गाड़ना हो उतने भाग को छोड़ कर। इस प्रकार **उपरप्रदेश** का अर्थ होगा यूप को गड्ढे में गाड़ने योग्य प्रदेश।

विशेषेण उपरप्रदेशेऽपि तष्टः— द्र० सर्वमुपशयं तक्षति। आप० श्रौत १४।५।८॥ 'सर्वं सोपरं तक्षति' ऐसा टीकाकार ने लिखा है। अर्थात् उपशय का सोपर=उपर भाग सहित तक्षण करे। यद्यपि उपशय गाड़ा नहीं जाता है फिर भी अन्य यूपवत् कुछ भाग बिना तक्षण के न छोड़े।

द्वितीय भाग में

पृष्ठ ३३६, पं. ४—**चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः।** इस विषय में **चोद्यते विधिना गम्यते इति चोदनापरमापूर्वम्** (कुतुहलवृत्ति ३।८।७ द्र०)।

पृष्ठ ३६७, पं० १६-२४ इन पङ्क्तियों के सम्बन्ध में मी० २।३।१६ सूत्र का विवरण पृष्ठ ५७६ पर देखें। वहां आपस्तम्ब टीकाकार के वचन से लिखा है कि पात्नीवत त्वाष्ट्र पशु का उत्सर्ग करने के पश्चात् उस पशु के जितने अवदान होवें उतनी वार घृत से अवदान करे। तथा घृत की आहुतियां देते समय **छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि** ऐसा ही प्रैष देवे। इसी प्रकार पशु पुरोडाश हवि के लिये भी **त्वष्ट्रे छागस्य वपाया मेदसः** ऐसा संप्रेष होता है।

पृष्ठ ४३१, पं. ८–**द्वे तु प्रयोजने क्रियेते**—इस विषय में मी० ३।३।१४ लिङ्गबलीयस्त्वाधिकरण भी द्रष्टव्य है।

पृष्ठ ४४४, पं. २२– [**यजति जुहोति ददाति में**] इसके स्थान में [एक प्रकरण में श्रुत **यजति जुहोति ददाति में**] इस प्रकार पाठ शोधें।

पृष्ठ ४४४, पं. २६—जानना चाहिये के आगे नया सन्दर्भ जोड़ें—

विशेष—सूत्रस्थ **शब्दान्तरे** कर्मभेदः के साथ यह जानना चाहिये—**एकप्रकरणे सति शब्दान्तरत्वं कर्मभेदे कारणम्** अर्थात् एक प्रकरण होते हुए शब्दान्तरत्व कर्मभेद में कारण होता है। शब्दान्तर मात्र नहीं। यह विशेष बात भाष्यकार के **अस्ति ज्योतिष्टोमः** पदों से ज्योतिष्टोम प्रकरण के निर्देश से जानी जाती है।

पृष्ठ ५२०, पं. १—'सर्वस्योक्तत्वात्' के स्थान में 'सर्वस्य वोक्तत्वात्' शोधें।

पृष्ठ ६७९, पं. ९-१०—'अर्थात् उद्देश्य गत संख्या...................... वहां द्रव्याभिधान के मुख्य होने से तद्गत................।' पाठ में इस प्रकार संशोधन करें—

'अर्थात् उद्देश्यगत=प्रधानगत संख्या......................वहां द्रव्याभिधान के याग के प्रति गुणभूत होने से तद्गत..............।'

पृष्ठ ६८०, पं. २७—'इसी प्रकरण यहां भी' इस में 'प्रकरण' के स्थान में 'प्रकार' पाठ शोधें।

पृष्ठ ७०१, पं. २२—'ह्रस्व इकारान्त भाष्य पाठ अशुद्ध है।' कुतुहलवृत्ति ३।२।१ ह्रस्व इकारान्त 'रजि' शब्द भी मिलता है। अतः भाष्यपाठ को अशुद्ध नहीं मानना चाहिये। राजि राजी दो स्वतन्त्र शब्द जानने चाहिये।

तृतीय भाग में

पृष्ठ ८२८, पं. २५ सन्दर्भ के अन्त में बढ़ावें—कठ कपिष्ठल स. ३८।३ के **न द्वादशाग्निष्टोमस्य कुर्यात् अशान्तानिमृज्युः, न तिस्रोऽहीनस्य** वचन में प्रत्यक्ष अग्निष्टोम की द्वादश उपसत्ता और अहीन की तीन उपसत्ता का प्रतिषेध किया है।

पृष्ठ ८४५, पं. २४ सन्दर्भ के अन्त में बढ़ावें—भट्टभास्कर ने तै. सं. ६।२।११ के भाष्य में सन्तर्दन के विषय में लिखा है—**दीर्घसोमे द्विरात्रादौ ते सन्तृद्ये। उक्थ्यादिदीर्घसोम इत्यन्ये।** अर्थात् दीर्घसोम=द्विरात्रादि में अधिषवण फलकों का सन्तर्दन करना चाहिये। अन्यों का मत है उक्थ्यादि दीर्घसोम में सन्तर्दन करना चाहिये।

पृष्ठ ८९०, पं. ८ में **पितृलोकं न प्रजानीयात्**—पाठ है, परन्तु आगे ८९२ में **स्वर्गलोकं न प्रजानीयात्** पाठ मिलता है। क्या यह **पितृलोकं** का शब्दार्थ रूप है अथवा पाठ भ्रंश? इस पर विचार करना चाहिये।

पृष्ठ ९१६, पं० ८—**य० सोमंवमति** इस के स्थान में **'यः सोमं वमिति'** शोधें।

पृ० ९१८, पं० ४—**आग्नेयाद्यष्टाकपाल** इस के स्थान में **आग्नेयाष्टाकपाल०** पढ़ें।

पृष्ठ ६४३, पं० २—**स्विष्टकृदननुष्ठाना०** के स्थान में **'स्विष्टकृदाद्यननुष्ठाना०'** शोधें'

पृष्ठ ६६४, पं. २० प्रयन्तु सदस्यानाम् से लेकर पं. २७ के अन्त तक कात्यायन श्रौत ६।११।३ के व्याख्याता विद्याधर शास्त्री का जो मत लिखा है। उसमें प्रतिवेद तीन कर्मोपद्रष्टा सदस्यों का आपस्तम्ब १०।१।१० के वचनानुसार प्रतिषेध किया है। परन्तु मैत्रायणी सं. ४।८।३ तथा गोपथ ब्राह्मण २।३।१८ में दक्षिणा काल में **सदस्येभ्यो ददाति** बहुवचन के श्रुत होने से शाखान्तरीय कर्म में तीन उपद्रष्टा सदस्यों की सत्ता भी प्रमाणित होती है। आश्चर्य इस बात है कि गोपथ ब्राह्मण २।३।१८ में मैत्रा० संहितावत् **सदस्येभ्यो ददाति** में बहुवचन है और उसी गोपथ ब्राह्मण १।५।२४ में **सप्तदशं सदस्यं तं कीर्तयन्ति पुराविदः** में एक सत्रहवें सदस्य का निर्देश है। यहां **पुराविदः** पद भी द्रष्टव्य है। प्रतीत होता है गोपथ ब्राह्मण में विभिन्न स्रोतों से संकलन के कारण यह मत भेद संग्रहीत हुआ है। गोपथ ब्राह्मण का संकलन विभिन्न स्रोतों से हुआ है, इसका निर्देश श्री पं· विजयपाल जी विद्यावारिधि ने स्वसम्पादित गोपथ ब्राह्मण के उपोद्घात में सप्रमाण निर्देश किया है।

पृष्ठ १०१३, पं०१—**'अग्नीषोमीयताधिकरणम्'** के स्थान में **'अग्नीषोमीयधर्मताधिकरणम्'** पाठ शोधें।

पृष्ठ १०८६, पं० १—**'आध्वर्यवादीष्वध्वर्यवादीनां'** के स्थान में **आध्वर्यवादीष्वेवाध्वर्यवादीनां'** पाठ शोधें।

मीमांसा-शाबर-भाष्य-व्याख्या की विषय-सूची

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

सं०	विषय	पृष्ठ

तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः

तृतीयाध्याये षष्ठः पादः

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

मीमांसा-शाबर-भाष्यम्

[हिन्दी-व्याख्या-सहितम्]

तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

[लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाऽधिकरणम् ॥१॥]

इह मन्त्रा उदाहरणम्—'बर्हिर्देवसदनं दामि'[1] इत्येवमादयः। किं मुख्ये एवाऽभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपीति ? कः पुनर्मुख्यः, को वा गौण इति ? उच्यते—यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमाऽर्थो मुख्यः। मुखमिव भवतीति मुख्य इत्युच्यते। यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चाद्भावाज्जघनमिव भवतीति जघन्यः। गुणसम्बन्धाच्च गौण इति।

व्याख्या—यहां (=इस अधिकरण में) मन्त्र उदाहरण हैं—बर्हिर्देवसदनं दामि (=देव=यज्ञीय पदार्थ वा पात्रों का सदन=आश्रय[2] रूप बर्हि=कुशा को काटता हूं) इत्यादि। क्या मुख्य अर्थ में ही मन्त्रों का विनियोग होता है, अथवा गौण अर्थ में भी होता है ? मुख्य अर्थ कौनसा है, और गौण कौनसा ? जो अर्थ शब्दमात्र से ही जाना जाता है, वह प्रथम अर्थ मुख्य है। मुख के समान [प्रमुख] होता है, इस कारण वह मुख्य कहाता है। और जो ज्ञात हुए अर्थ से किसी सम्बन्ध के द्वारा जाना जाता है, वह पीछे होने से जघन (=जङ्घा) के समान होने से जघन्य कहाता है। और गुण का सम्बन्ध होने से [यह] गौण होता है।

विवरण—तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में श्रुति से विनियोग कहा है। लिङ्ग से विनियोग श्रुतिविनियोग का उपजीव्य है। इसलिए श्रुतिविनियोग के पश्चात् अब लिङ्ग से मन्त्रों का विनियोग कहते हैं। लिङ्ग नाम है—मन्त्रों का अर्थप्रत्यायन (=अर्थ का बोध करना) रूप सामर्थ्य। **देवसदनम्** इसका अर्थ है—देव बैठते हैं जिस पर। यहां देव उपपद होने पर अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय है। **उपपदमतिङ्** (अष्टा० २।२।१९) से उपपद समास, और **समासस्य** (अष्टा० ६।१।२२३) से अन्तोदात्तत्व प्राप्त होने पर **गतिकारकोपपदात् कृत्** (अष्टा० ६।२।१३९) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होने पर ल्युट् प्रत्यय के लित् होने से **लिति** (अष्टा० ६।१।१९३) से ल्युट्=अन

---

१. मै० सं० १।१।२॥ २. यहां सामान्य अर्थ दर्शाया है। विशेषार्थ विवरण में देखें।

यद्येवं सर्व एव मुख्यः। सर्वो हि शब्दाद् गम्यते। यथैव ह्यग्निर्ज्वलतीत्युक्ते ज्वलन-सम्प्रत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवक इति शब्द एव उच्चारिते माणवके सम्प्रत्ययः। अथोच्येत, यस्मिन् निरुपपदाच्छब्दात् सम्प्रत्ययः स मुख्यः, यस्मिन् सोपपदात् स गौण इति। नैतद् युक्तम्। यस्य हि शब्दस्य रूपं कस्यचिदर्थस्य निमित्तम्, सोपपदस्यापि तदेव रूपं, निरुपपदस्यापि। न च शक्यं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न भवितुम्। किमतः? यद्येवम्, इदं न शक्यते वदितुम्—उपपदादृते न सोऽर्थो भवति, उपपदे तु सञ्जाते सोऽर्थः सञ्जनिष्यते इति। न चासौ समुदायार्थः शक्यते विज्ञातुम्। अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते। अथ वाक्यार्थोऽयमित्युच्यते। नैवं शक्यम्। न ह्यन-

---

प्रत्यय से पूर्व सद् धातु का अकार उदात्त होता है। उत्तरपद प्रकृतिस्वर के दर्शन से देव उपपद होने पर अधिकरण में ल्युट् का उपसंख्यान (=विधान) जानना चाहिये। सदन शब्द में अधि-करण में ल्युट् प्रत्यय करके **देवानां सदनम्=देवसदनम्** रूप निष्पन्न हो सकता है। **इध्मप्रव्रश्चनः पलाशशातनः** के समान **कृद्योगा च षष्ठी समस्यते** (वा० २।२।८) से षष्ठी समास होने पर **समासस्य** (अष्टा० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त होना चाहिए। यतः यहां उत्तरपद प्रकृतिस्वर देखा जाता है, अतः उपपदसमास का उपसंख्यान करना ही युक्त है। **मुखमिव भवतीति मुख्यः, जघनमिव भवतीति जघन्यः**—मुख और जघन शब्दों के शाखादिगण (गणपाठ ५।३।१०३) में पठित होने से **शाखादिभ्यो यत्** (अष्टा० ५।२।१०३) से इवार्थ में यत् प्रत्यय होता है। **प्रथमाऽर्थो मुख्यः पश्चाद्-भावात्''' जघन्यः**—दूर से देखने पर प्रथम पुरुष का मुख दिखाई पड़ता है, और कुछ समीप होने पर जङ्घा=अधोभाग पीछे दिखाई देता है। यही उपमार्थ **मुखमिव मुख्यः, जघनमिव जघन्यः** से अभिप्रेत है। **गुणसम्बन्धात्**—किसी गुण के योग से जो अर्थ जाना जाता है, वह गौण अर्थात् अप्रधान होता है।

व्याख्या—यदि ऐसा है, तो सभी अर्थ मुख्य हैं। सभी अर्थ शब्द से जाने जाते हैं। जैसे कि 'अग्निर्ज्वलति' ऐसा कहने पर आग अर्थ में प्रतीति होती है, उसी प्रकार 'अग्निर्माणवकः' ऐसा [अग्नि] शब्द के ही उच्चरित होने पर माणवक अर्थ में प्रतीति होती है। यदि यह कहो कि उप-पदरहित (=समीप में पदान्तर के उच्चरित न होनेवाले) शब्द से जिस अर्थ में प्रतीति होती है वह मुख्य है, और जिस अर्थ में उपपदसहित पद के उच्चारण से प्रतीति होती है वह गौण है, तो यह कथन युक्त नहीं है। जिस शब्द का स्वरूप (=विशिष्ट वर्णानुपूर्वी) किसी अर्थ का निमित्त है, उपपदसहित का भी वही स्वरूप निमित्त है, और उपपदरहित का भी। यह नहीं हो सकता है कि निमित्त [रूप शब्द] के होने पर नैमित्तिक (=निमित्त=शब्द से ज्ञेय अर्थ) न होवे। इस से क्या? यदि ऐसा है, तो यह नहीं कह सकते कि—उपपद के विना वह [गौण] अर्थ नहीं होता है, उपपद के होने पर वह अर्थ उत्पन्न होता है। और यह [गौण] अर्थसमुदाय (=अग्नि और माणवक उपपद) का अर्थ है, यह नहीं जाना जा सकता है। अन्वय और व्यतिरेक से विभाग जाना जाता है। और यदि यह कहो कि यह [गौण अर्थ] वाक्य का अर्थ है, तो यह नहीं कह

न्वितः पदार्थो भवति वाक्यार्थः। तदेवं दृश्यताम्—अग्निशब्द एवायं ज्वलनवचनः। अग्निशब्द एव माणवकस्याभिधातेति। तस्मान्न गौणो मुख्य इति कश्चिद्विशेषः।

अथोच्यते, यः सुष्ठु प्रसिद्धः स मुख्यः, यो मनागिव स गौणः इति। इदमपि नोपपद्यते। प्रसिद्धिर्नाम प्रज्ञानम्, न च प्रज्ञाने कश्चिद्विशेषोऽस्ति। अथोच्येत, यस्य बहुशः प्रयोगोऽस्ति स मुख्यः, अल्पशः प्रयुज्यमानो गौण इति। नैतदेवम्। अल्पशोऽपि प्रयुज्यमानो नासति सामर्थ्ये प्रत्याययेत्। अतः सोऽपि शब्दात् प्रतीयते इति मुख्य एव।

सकते। क्योंकि अनन्वित (=एकदूसरे से असम्बद्ध) पदार्थ वाक्यार्थ नहीं होता है। इसलिए ऐसा जानना चाहिये कि—अग्नि शब्द ही ज्वाला का वाचक है। और अग्नि शब्द ही माणवक को कहनेवाला है। इसलिए यह अर्थ गौण है यह मुख्य, ऐसा कोई भेद नहीं है।

विवरण—निरुपपदाच्छब्दात्—समीप में अनुच्चरित पदान्तरवाले अर्थात् असहाय (=अकेले) अग्नि शब्द से। जैसे—**अग्निर्ज्वलति** यहां अग्नि शब्द अकेला है। **सोपपदात्—अग्निर्माणवकः** यहां अग्नि के साथ समानविभक्त्यन्त माणवक पदान्तर उच्चरित है। **यस्य हि शब्दस्य रूपम्—अग्निर्ज्वलति** यहां अग्नि शब्द का जो स्वरूप जलते हुए अर्थ का वाचक है, वही अग्नि शब्द का स्वरूप **अग्निर्माणवकः** में तेजस्वी बालक अर्थ का बोधक है। **न चासौ समुदायार्थः**— 'अग्नि के समान तेजस्वी' अर्थ अग्नि और माणवक दो पदों के समुदाय का नहीं है। **अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते—अग्निर्माणवकः** में अग्निशब्द के उच्चरित होने पर ही 'तेजस्वी' अर्थ जाना जाता है। उसके उच्चारण न करने पर अर्थात् केवल **माणवकः** कहने पर 'तेजस्वी' अर्थ नहीं जाना जाता है। इसी प्रकार **अग्निर्माणवकः** में 'माणवकः' शब्द के प्रयोग होने पर ही बालक अर्थ की प्रतीति होती है, प्रयोग न होने पर नहीं होती है। इससे जाना जाता है कि **अग्निर्माणवकः**= 'तेजस्वी बालक है' में तेजस्वी अर्थ अग्नि का है, और बालक अर्थ माणवक का है। **नह्यनन्वितः पदार्थः वाक्यार्थो भवति**—तेजस्वी और बालकरूप पदार्थ जब तक परस्पर में अन्वित नहीं होते, तब तक 'यह बालक तेजस्वी है' यह वाक्यार्थ उपपन्न नहीं होता है। इस कारण वाक्यार्थ की उपपत्ति भी अग्नि का अर्थ तेजस्वी और माणवक का अर्थ बालक स्वीकार करने पर ही होती है।

व्याख्या—**यदि यह कहो कि—'जो लोक में अच्छे प्रकार प्रसिद्ध है वह मुख्य अर्थ है, और जो स्वल्पसा (=किञ्चित्सा) प्रसिद्ध है वह गौण अर्थ है, तो यह भी उपपन्न नहीं होता है। प्रसिद्धि नाम प्रज्ञान (=सुष्ठु ज्ञान) का है। प्रज्ञान में कोई विशेष (=मुख्यता वा गौणता) नहीं है। यदि यह कहो कि—'जिसका अधिकता से प्रयोग होता है वह मुख्य है, और अल्पता से प्रयुक्त होनेवाला गौण होता है'। यह भी ठीक नहीं है। अल्पता से प्रयुज्यमान शब्द भी 'सामर्थ्य न होने पर' अर्थ का बोध नहीं करायेगा। इस कारण वह अर्थ भी शब्द से प्रतीत होता है, इस कारण मुख्य ही है।**

अत्रोच्यते—अस्त्यत्र विशेषः। माणवको नाग्निशब्दात् प्रतीयते। कथमवगम्यते? उक्तम्—'अन्यायश्चानेकार्थत्वम्'[1] इति। कथं न विपर्ययः? उच्यते, अनादृत्यैव माणवक-प्रत्ययं ज्वलनमग्निशब्दात् प्रतियन्तो दृश्यन्ते, न त्वनादृत्य ज्वलनप्रत्ययं माणवकमग्नि-शब्दात् प्रतियन्ति। कुत एतत्? यो योऽग्निसदृशो विवक्ष्यते, तत्र तत्राग्निशब्दो नियत इति। अत एव विगतसादृश्यवति तु दृश्यते। अतोऽग्निसादृश्यमस्य प्रवृत्तौ निमित्तम्। न च ज्वलने अप्रतीते तत्सादृश्यं प्रतीयते। तस्माज्ज्वलनस्याग्निशब्दो निमित्तम्, न माणवकस्य। तस्माज्ज्वलने मुख्यो, न माणवके। एवमेव तृणप्रत्ययस्य बर्हिःशब्दो निमित्तम्, न तृणसदृशप्रत्ययस्य। तदेवं द्वैते सति 'मुख्यपरता शब्दस्य, उत गौणपरता-ऽपि' इति युक्तो विचारः।

विवरण—यस्य बहुशः प्रयोगः—जिस ज्वलन अर्थवाले अग्नि का बहुतायत से प्रयोग होता है, वह प्रयोग मुख्य है। और जिस तेजस्वी अर्थवाले अग्नि शब्द का अल्प प्रयोग होता है, वह गौण है। यहां विशिष्ट अर्थवाले शब्दप्रयोग की मुख्यता, और गौणता की दृष्टि से उस उस शब्द के अर्थ की मुख्यता वा गौणता जाननी चाहिये।

व्याख्या—**इस विषय में कहते हैं—यहां (=अग्निर्माणवकः में) विशेष है। माणवक अर्थ अग्नि शब्द से प्रतीत नहीं होता। यह कैसे जाना जाता है? कह चुके हैं—'एक शब्द का अनेक अर्थ होना अन्याय है'। (आक्षेप) विपर्यय (=उल्टापन) क्यों न होवे, अर्थात् अग्नि का माणवक अर्थ मुख्य होवे, और ज्वलन अर्थ गौण होवे? (समाधान) माणवक ज्ञान का आदर न करके (=माणवक ज्ञान का बोध न कराके) ही अग्निशब्द से ज्वलन अर्थ का ज्ञान करते हुए लोग दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ज्वलन ज्ञान का अनादर करके अग्नि शब्द से माणवक को नहीं जानते। यह कैसे जाना जाता है? जो-जो अग्निसदृश विवक्षित है, वहां-वहां अग्नि शब्द नियत है। इस लिए सादृश्यरहित में यह अग्नि शब्द देखा जाता है। इस कारण अग्नि का सादृश्य [अग्नि-र्माणवकः में] अग्नि शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त है। ज्वलन अर्थ की प्रतीति हुए विना तत्सादृश्य (=ज्वलन सादृश्य) प्रतीत नहीं होता है। इसलिए ज्वलन अर्थ का अग्निशब्द निमित्त है, माणवक का निमित्त नहीं है। इसी कारण ज्वलन अर्थ में अग्नि का मुख्य प्रयोग है, माणवक में मुख्य नहीं है। इसी प्रकार तृणज्ञान का बर्हिशब्द निमित्त है, न कि तृणसदृश ज्ञान का। इस प्रकार प्रयोग में द्विविधता होने पर 'शब्द की मुख्यपरता स्वीकार करनी चाहिए अथवा गौणपरता भी ग्रहण करनी चाहिये' यह विचार युक्त है।**

विवरण अन्यायश्चानेकार्थत्वम्—इस विषय पर पूर्व पृष्ठ २७३ टि० १, तथा मीमांसा-कोश भाग १, पृष्ठ ४६२ द्रष्टव्य हैं। भाष्यकार ने इस विषय पर विशेष विचार ७।३।३५ के भाष्य में किया है—यदि शब्द का अन्यार्थ कल्पित होवे, तो एक शब्द अनेकार्थवाला हो जाये।

---

१. द्र०—भाग १, पृष्ठ २७३, टि० १।

किं तावद् प्राप्तम् ? मुख्ये गौणे च निनियोगः। कुतः ? उभयस्य शक्यत्वादुभयमपि बर्हिशब्देन शक्यते प्रत्याययितुम्—तृणं च तृणसदृशं च। तृणं साक्षात्, तृणसदृशं तृणप्रत्ययेन। यच्च नाम दर्शपूर्णमासयोः साधनभूतेन बर्हिशब्देन शक्यते प्रत्याययितुं, तत् सर्वं प्रत्याययितव्यम्। विनिगमनायां हेत्वभावात्। अपि चैवमाश्रीयमाणे पूषाद्यनुमन्त्रणादीनि[1] दर्शपूर्णमासाभ्यां नोत्कृष्यन्ते। तत्रैव गौणेनाभिधानेन प्रकृतां देवतामभिवादष्यन्ति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

अनेकार्थवाला होने पर क्या दोष है ? शब्द के उच्चरित होने पर संशय होवे, अर्थ का ज्ञान न होवे। इस अवस्था में लौकिक व्यवहार सिद्ध न होवे। शब्द का प्रयोग व्यवहार के लिये ही है। अर्थविशेष की प्रतिपत्ति में प्रकरणादि कारणान्तर अपेक्षणीय होवें। एकार्थक होने पर अर्थप्रत्यय निरपेक्ष होता है। इसलिए अनेकाकार्थत्व अन्याय है। **विगतसादृश्यवति तु दृश्यते**—यहां काशी मुद्रित पाठ **विगतसादृश्याद् अयं तु दृश्यते** है। यह पाठ अशुद्ध है। हमने पूना संस्करण के सम्पादक द्वारा निर्दिशित पाठ स्वीकार किया है।

व्याख्या—**तो यहां क्या प्राप्त होता है ? मुख्य और गौण अर्थ में विनियोग है। किस कारण से ? [मुख्य और गौण] दोनों अर्थों का [शब्द द्वारा प्रत्यायन करना] शक्य होने से बर्हिः-शब्द से दोनों तृण और तृणसदृश अर्थ जनाये जा सकते हैं। तृण अर्थ साक्षात् [बर्हि शब्द से], और तृणसदृश तृण के ज्ञान से। दर्शपूर्णमास में जो कोई भी साधनभूत द्रव्य बर्हिःशब्द से जनाया जा सकता है, उस सब को जानना चाहिए। [मुख्य का ही बोध कराये, गौण का नहीं, इस] निश्चय में हेतु न होने से। और भी, इस प्रकार (=दोनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण करने पर) पूषा आदि देवता के अनुमन्त्रण आदि मन्त्रों का दर्शपूर्णमास से उत्कर्ष नहीं होगा। वहीं (=दर्शपूर्णमास में ही) गौण अभिधान से [दर्शपूर्णमास में] प्रकृत देवता को पूषा आदि शब्द कहेंगे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण तृणसदृश से कुतुहलवृत्तिकार आदि 'उपलराजि' का ग्रहण मानते हैं। उपलराजि शब्द का अर्थ पूर्व ३।१।२४ के विवरण (भाग २, पृष्ठ ७०१) में देखें। **पूषाद्यनुमन्त्रणादीनि**—काठक सं० ५।१ में यजमान द्वारा दर्शपूर्णमास में हुत देवों से मांगी गई आशीः के मन्त्रों का पाठ है। यथा—**अग्नीषोमाभ्यां यज्ञश्चक्षुष्मांस्तयोरहं देवयज्यया चक्षुषा चक्षुष्मान् भूयासम्,** इत्यादि। इसी अनुवाक में **पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्, आदित्या अहं देवयज्यया प्रतिष्ठां गमेयम्** इत्यादि पूषा आदि के अनुमन्त्रणमन्त्र पठित हैं। पूषा आदित्य आदि देवता दर्शपूर्णमास में नहीं हैं। अतः इन मन्त्रों का विकृतियागों में जहां पूषा आदित्य आदि देवता होंगे, वहां उत्कर्ष होगा, यह सिद्धान्त है। आप० श्रौत ४।९।१४ में लिखा है—स्विष्टकृत् देवता के अनुमन्त्रण से पूर्व अन्य शाखाध्येता अन्य देवता के अनुमन्त्रण मन्त्रों का भी पाठ करते हैं। ऐसा निर्देश करके आप० श्रौत ४।१०।१ में इन्द्र वैमृध, इन्द्र त्राता, पूषा, विश्वेदेव, अर्यमा, इन्द्र इन्द्रियवान्

---

१. द्र०—काठक सं. ५।१॥

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥ (उ०)

मुख्ये एव विनियोक्तव्यो मन्त्रो, न गौणे इति। कुतः? उभयाशक्यत्वात्। प्रकरणे हि समाम्नानात् प्रधानेनैकवाक्यतामुपैति। तत्रैतदापतति—यच्छक्नुयादनेन मन्त्रेण साधयितुं, तथा साधयेदिति। स चासावर्थाभिधानसंयोगाच्छक्नोत्युपकर्तुं न गौणमर्थं शक्नोत्यभिधातुम्। तस्मान्न गौणे विनियोगः।

ननु मुख्यप्रत्ययाच्छक्यते गौणः प्रत्याययितुम्। सत्यमेतत्। मुख्यप्रत्यायनेनैवास्य

देवताओं के अनुमन्त्रणमन्त्रों का निर्देश करके लिखा है—**यथालिङ्गं वैकृतिः**। अर्थात् इन मन्त्रों से यथालिङ्ग विकृतियागस्थ देवताओं का अनुमन्त्रण करे। **दर्शपूर्णमासाभ्यां नोत्कृष्यन्ते**—शब्द के द्वारा मुख्य और गौण दोनों अर्थों का ग्रहण स्वीकार करने पर प्रकृत दर्शपूर्णमास में अनिर्दिष्ट पूषा आदि देवतावाचक शब्द गौणी वृत्ति से 'पूषा=पुष्टि करनेवाला' अर्थ स्वीकार करके दर्शपूर्णमासस्थ अग्नि आदि देवता को कह सकेगा। इस अवस्था में पूषादि देवताओं के अनुमन्त्रण मन्त्रों का विकृति में उत्कर्ष नहीं करना पड़ेगा।

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु……नित्यसंयोगात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(अर्थाभिधानसामर्थ्यात्) अर्थ के कहनेरूप सामर्थ्य से (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेषभावः) क्रतु के प्रति शेषभाव (स्यात्) होवे, (तस्मात्) इस कारण शब्द का (अर्थेन) मुख्य अर्थ के साथ (उत्पत्तिसम्बन्धः) स्वाभाविक=अकृत्रिम सम्बन्ध है। (नित्यसंयोगात्) मुख्यार्थ के साथ शब्द का नित्यसंबन्ध होने से [बर्हि आदि शब्द मुख्य अर्थ को कहते हैं, गौण को नहीं]।

विशेषः—सुबोधिनी और कुतुहलवृत्ति में **अर्थाभिविधानसंयोगात्** पाठभेद है। इससे अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता है। **उत्पत्तिसम्बन्धः**—उत्पत्ति शब्द से सत्तारूप नित्य अर्थ विवक्षित है। द्रष्टव्य—**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः** (मी० १।१।५) का भाष्य।

व्याख्या—[बर्हिर्देवसदनं दामि] **मन्त्र [बर्हि के] मुख्य अर्थ तृण में ही विनियोग करने योग्य है, गौण (=तृणसदृश) में नहीं। किस हेतु से? दोनों अर्थों का ग्रहण शक्य (सम्भव) न होने से। [दर्शपूर्णमास के] प्रकरण में पठित होने से [यह मन्त्र] प्रधान के साथ ही एकवाक्यता को प्राप्त होता है। उस अवस्था में यह प्राप्त होता है कि—इस मन्त्र से जो सिद्ध किया जा सके, उसको उस प्रकार सिद्ध करे। वह** [बर्हिर्देवसदनं दामि] **मन्त्र अर्थ के कथन (=प्रकाशन) के संयोग से [प्रधान को उपकृत कर सकता है, गौण अर्थ को कहने के लिए समर्थ नहीं होता है। इसलिए गौण अर्थ में विनियोग नहीं होता है।**

(आक्षेप) [तृणरूप] मुख्य अर्थ के परिज्ञान से गौण (=तृणसदृश) अर्थ का बोध करा सकता है। (समाधान) यह सत्य है। मुख्य अर्थ के बोध कराने से ही इसकी प्रयोजनवत्ता सिद्ध

प्रयोजनवत्ता निर्वृत्ता। इति न गौणं प्रति विनियोगे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। मुख्ये विनियोगेन त्वानर्थक्यं परिह्रियते। परिहृते आनर्थक्ये न गौणाभिधानमापतति। न ह्यनभिधाय मुख्यं गौणमभिवदति शब्दः। अतः प्रमाणाभावान्न गौणे विनियुज्येत।

अपि च, गौणस्य प्रत्यायने सामर्थ्याद् बहवोऽभ्युपायाः प्राप्नुवन्ति। सामर्थ्यं च शब्दैकदेश इत्युक्तम्—**अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्**[1] इति। तत्र मन्त्रे नियोगतो गौणं प्रति विनियुज्यमान उपायान्तरं विना प्रमाणेन बाध्येत। मन्त्राम्नानं प्रमाणमिति चेद्, न तस्योपायान्तरनिवृत्तौ सामर्थ्यमस्ति। ननु मुख्येऽपि विनियुज्यमानस्यैष एव दोषः। नेत्युच्यते। यदि मुख्येऽपि न विनियुज्येत, नैव प्रधानस्योपकुर्यात्। तत्र चास्योत्पत्तिरनर्थिकैव स्यात्। तस्मादस्ति गौणे मुख्ये च विशेषः।

हो जाती है। इस कारण गौण अर्थ के प्रति विनियोग में कुछ भी प्रमाण नहीं है। मुख्य अर्थ में विनियोग से तो [मन्त्र की] अनर्थकता दूर हो जाती है। अनर्थकता का परिहार हो जाने पर गौण अर्थ का कथन प्राप्त नहीं होता है। मुख्य अर्थ का कथन विना किये शब्द गौण अर्थ को नहीं कहता है। इस कारण प्रमाण न होने से गौण अर्थ में [मन्त्र का] विनियोग नहीं होगा।

और भी, गौण अर्थ के बोध कराने में सामर्थ्य से भिन्न बहुत से उपाय प्राप्त होते हैं। सामर्थ्य शब्द का एकदेश है, यह कह चुके हैं— अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् (मी० १।४।३०) [अर्थ=सामर्थ्य से जिसकी कल्पना हो सकती है, उसकी करनी चाहिये। सामर्थ्य के शब्द का एकदेश होने से]। इस अवस्था में मन्त्र के नियमतः गौण अर्थ के प्रति विनियोग किये जाने पर उपायान्तर (=सामर्थ्य) विना प्रमाण के बाधित होवे। यदि कहो कि मन्त्र का पाठ ही सामर्थ्यरूप उपायान्तर के बाध में प्रमाण है, तो यह ठीक नहीं, उस [मन्त्रपाठ] का [सामर्थ्यरूप] उपायान्तर की निवृत्ति में सामर्थ्य नहीं है। (आक्षेप) मुख्य अर्थ में भी विनियुज्यमान का यही दोष है [अर्थात् वह भी गौण अर्थग्राहक उपायान्तर की निवृत्ति में समर्थ नहीं है]। (समाधान) ऐसा नहीं है। यदि मन्त्र मुख्य अर्थ में भी विनियुक्त न होवे, तो वह प्रधानकर्म का उपकारक न होवे। इस अवस्था में इस (=बर्हिमन्त्र) की उत्पत्ति (=पाठ) अनर्थक ही होवे। इसलिए गौण और मुख्य में विशेष है।

विवरण—सामर्थ्याद् बहवोऽभ्युपायाः—यहां 'भिन्नाः' पद का लोप जानना चाहिये—'सामर्थ्य से भिन्न बहुत से उपाय'। अथवा—ल्यब्लोप में पञ्चमी जाननी चाहिये—**सामर्थ्यमतिरिच्य बहवोऽभ्युपायाः**=सामर्थ्य को छोड़कर अन्य बहुत से उपाय। शब्द मुख्य अर्थ को छोड़कर गौण अर्थों को क्यों कहते हैं? इस विषय में न्यायदर्शन २।२ का ६१ वां सूत्र—**'सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधन-आधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटक-अन्न-पुरुषेषु अतद्भावेऽपि तदुपचारः'** सूत्र और इसका भाष्य द्रष्टव्य है॥

---

१. मी० १।४।३०॥

अपि च, यो गौणे मन्त्रं विनियुङ्क्ते, स वक्तव्यः—किमर्थं मुख्यं प्रत्याययसीति ? स चेद् ब्रूयाद्--नान्यथा गौणप्रत्ययोऽस्तीति । प्रतिब्रूयादेनम्—अन्येऽपि गौणप्रत्ययस्याभ्युपायाः सन्तीति । अथ स एवमभियुक्तः प्रतिब्रूयाद्—मुख्यप्रत्ययोऽपि पाक्षिकोऽभ्युपाय इति । ब्रूयादेनम्—न तर्हि नियोगतो गौणे विनियोजनीयः । यदा गौणप्रत्ययाय मुख्यमुपादत्ते, तदैतदापतितं भवति—मुख्य एव विनियोग इति । अर्थेन च प्रतीतेन प्रयोजनं न प्रत्यायकेन मन्त्रेण । अतोऽन्येनाप्युपायेन गौणः प्रत्याययितव्यः । न स एव मन्त्र आदर्त्तव्यः । अथापि मन्त्रेण प्रत्यायकेन प्रयोजनं स्यात्, तथापि मुख्यप्रत्ययनेनैव निर्वृत्तं प्रयोजनम्, इति नतरां गौणे विनियुज्येत । **तस्मान्मुख्यगौणयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय** इति सिद्धम् ॥१॥

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥२ (उ०)

व्याख्या—और भी, जो गौण अर्थ में मन्त्र का विनियोग करता है, उसे कहना चाहिये कि – तुम [गौण अर्थ के बोध के लिए] मुख्य अर्थ का प्रत्यायन (=बोध=ज्ञान) क्यों कराते हो ? यदि वह कहे कि—विना [मुख्य प्रत्यय के [गौण अर्थ का ज्ञान नहीं होता है । तो उसके प्रति कहना चाहिये—अन्य भी गौण प्रत्यय के उपाय हैं । और यदि इस प्रकार आक्षिप्त हुआ कहे कि—[गौण अर्थ के प्रत्यायन में] मुख्य प्रत्यय भी पाक्षिक उपाय है । उसे उत्तर देवे कि–तब तो नियमतः गौणार्थ में विनियोग नहीं करना चाहिए । जब गौण अर्थ के ज्ञान के लिए मुख्य का उपादान किया जाता है, तब ही यह प्राप्त होता है कि—'मुख्य अर्थ में ही विनियोग होता है' । प्रतीत हुए अर्थ से प्रयोजन है, न कि प्रत्यायक (=बोधक) मन्त्र से । इस लिए अन्य उपाय से भी गौण अर्थ का बोध कराना चाहिए । उस (=बर्हिर्देवसदनं दामि) एक ही मन्त्र का आदर नहीं करना चाहिए । और यदि प्रत्यायक मन्त्र से प्रयोजन होवे, तो इस प्रकार भी मुख्य अर्थ के परिज्ञान से ही प्रयोजन सिद्ध हो गया, तब तो गौण अर्थ में किसी प्रकार विनियुक्त नहीं होगा । इसलिए मुख्य और गौण में मुख्य में काय का ज्ञान होता है, यह सिद्ध होता है ॥१॥

विवरण—मुख्यगौणयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः—लौकिक न्याय है । वैयाकरण भी इसे **गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः** के रूप में स्वीकार करते हैं । उनके यहां **अग्नेर्ढक्** (अष्टा० ४।२।३३) सूत्र में **साऽस्य देवता** (=वह इसकी देवता है) इस अर्थ में अग्निशब्द से विधीयमान 'ढक्' प्रत्यय ज्वलनवाची मुख्य अग्निशब्द से ही होता है—**आग्नेयो मन्त्रः, आग्नेयं हविः** । **अग्निर्माणवकः** में प्रयुक्त गौण अग्निशब्द से ढक् प्रत्यय नहीं होता है (द्र०—सीरदेवीय परिभाषावृत्ति संख्या १०३, पृष्ठ १६४, काशी सं०) ॥१॥

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ॥२॥

सूत्रार्थ—[पूषाद्यनुमन्त्रण मन्त्र] (संस्कारकत्वात्) अर्थप्रकाशलक्षण संस्कार का जनक होने से (अचोदिते) अकथित पूषा आदि देवता में (न) नहीं (स्यात्) होवे । अर्थात् दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवताओं का कथन न होने से पूषादि अनुमन्त्रण मन्त्र दर्शपूर्णमास में संबद्ध नहीं होगा । जहां पूषादि देवता होंगे, वहां उन मन्त्रों का उत्कर्ष होगा ॥

अथ यदुक्तम्—पूषाद्यनुमन्त्रणादीनामुत्कर्षो न भविष्यतीति । युक्तस्तेषामुत्कर्षः, संस्कारको हि मन्त्रः । सोऽसति संस्कार्येऽनर्थक । इति यत्रार्थवान्, तत्र नायिष्यते । न च कश्चिद्दोषो भविष्यति ॥२॥ इति लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाऽधिकरणम् ॥१॥ बर्हिर्न्यायः ॥

—:०:—

[इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाऽधिकरणम् ॥२॥]

अग्नौ श्रूयते—निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते[1] इति । तत्र सन्देहः—किमिन्द्रस्योपस्थानं कर्त्तव्यम्, उत गार्हपत्यस्येति ? 'कुतः पुनर्गार्हपत्यमुपतिष्ठते इत्येवं विस्पष्टे वचने संशय इति ? उच्यते, यद्धि वाक्येनोपस्थानम् तत्, स्तुतिवचनेन संस्करणम्, न समीपस्थानमात्रम् । न चैन्द्रेण मन्त्रेणाग्नेरभिधानं शक्यते कर्त्तुम् । अतो 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति न गार्हपत्यार्थमुपस्थानमेतत् । इति जायेत शङ्का-

---

व्याख्या—**और जो यह कहा है कि—[गौण अर्थ में विनियोग होने पर] पूषादि के अनुमन्त्रण मन्त्रों का उत्कर्ष नहीं होगा । उन [पूषाद्यनुमन्त्रण मन्त्रों] का उत्कर्ष होगा, क्योंकि मन्त्र संस्कारक है । वह [संस्कारक मन्त्र दर्शपूर्णमास में] संस्कार्य [पूषादि देवता] के न होने पर अनर्थक है । इस लिए जहां वह [पूषाद्यनुमन्त्रण मन्त्र] अर्थवान् हो सकता है, वहां ले जाया जायेगा । और [इस उत्कर्ष में] कोई दोष नहीं होगा ॥२॥**

विवरण—**अग्नीषोमाभ्यां यज्ञश्चक्षुष्मांस्तयोरहं देवयज्यया चक्षुषा चक्षुष्मान् भूयासम्... पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्** (काठक सं० ५।१) इत्यादि मन्त्रों की **इष्टानुमन्त्रण** (कुतुहल-वृत्ति) अथवा **यागानुमन्त्रण** (तन्त्रवार्तिक) संज्ञा होने से दर्शपूर्णमास में पूषा आदि देवताओं के इष्ट होने से, अथवा उनके लिए याग न होने, से तथा मन्त्र में **देवयज्यया** पद के सामर्थ्य से यागसंबन्ध के गम्यमान होने से जहां विकृतियागों में पूषादि देवताओं के लिए याग होगा, वहां उन का उत्कर्ष करना युक्त है ॥२॥

व्याख्या—**अग्नि** (=**अग्निचयन**) **में श्रुत है**—निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते (=**'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' इस इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है**) **। इस में सन्देह होता है कि क्या** [निवेशनः संगमनो वसूनाम् **मन्त्र से] इन्द्र का उपस्थान करना चाहिये, अथवा गार्हपत्य अग्नि का ?** (आक्षेप) **'गार्हपत्य का उपस्थान करे' ऐसा विस्पष्ट वचन होने पर किस कारण संशय होता है । ?** (समाधान) **जो [ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते] वाक्य से उपस्थान कहा है, वह स्तुतिवचन होने से संस्कार है, समीप ठहरनामात्र नहीं है । और ऐन्द्र मन्त्र से [गार्हपत्य] अग्नि का कथन नहीं किया जा सकता है । इस कारण** 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' **यह गार्हपत्य अग्नि के लिए उपस्थान नहीं है, इस से शङ्का होती**

---

१. मै० सं० ३।२।४॥

गार्हपत्ये उपस्थानार्थो भवेदिति ? तादृशश्च शब्दो नास्ति तृतीयान्तः सप्तम्यन्तो वा। तस्माद् विचारः—कथमुपपन्नं भवतीति ?

किं तावत् प्राप्तम्? सामर्थ्यादिन्द्रोपस्थानम्। अशक्यत्वाच्च गार्हपत्योपस्थानस्य। कथं द्वितीया विभक्तिरिति चेत् ? अविवक्षितेप्सितार्था वा सम्बन्धमात्रप्रधाना। यद्वा-उपस्थानविशेषणं सम्बन्धाद् गार्हपत्यशब्दः। तस्माद् गार्हपत्यविशिष्टमुपस्थानमिन्द्रार्थं

है कि—गार्हपत्य अग्नि के समीप में उपस्थानार्थ [यह निर्देश] होवे। इस प्रकार का (=गार्हपत्य की समीपता का बोधक) तृतीयान्त अथवा सप्तम्यन्त शब्द नहीं है। इसलिए विचार है कि—यह वचन कैसे उपपन्न होता है ?

विवरण— निवेशनः संगमनो वसूनाम्—यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—**निवेशनः संगमनो वसूनाꣳ विश्वा रूपाण्यभिचष्टे शचीभिः। देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्** (मै० सं० २।७।१२)। इसका अर्थ इस प्रकार है-(वसूनाम्) धनों का (निवेशनः) आवास करानेहारा, और (संगमनः) आश्रितों में प्राप्त करानेहारा इन्द्र (शचीभिः) स्वकर्मों से (विश्वा रूपाणि) सब रूपों=वस्तुओं को (अभिचष्टे) प्रकाशित करता है। (देव इव सविता) सविता देव के समान (सत्यधर्मा) अबाधित रक्षा आदि करने का स्वभाववाला (इन्द्रः) इन्द्र (पथीनां समरे) यज्ञकर्मरूप मार्गों के संगमन में (न तस्थौ) स्थित व्यापृत नहीं होता है ? अर्थात् व्यापृत होता ही है। यहां **तस्थौ** क्रिया के उदात्त होने से **न तस्थौ** यह काकु=ध्वनिविशेष है। इस मन्त्र के इन्द्र देवतावाला होने से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान कैसे होगा ? यह विचार किया है। **उपस्थानम्**—उपस्थान शब्द का अर्थ है—समीप स्थितिपूर्वक मन्त्रकरण=मन्त्र साधक है जिस कर्म में वह स्तुति। **उपतिष्ठते** में पाणिनि के **उपान्मन्त्रकरणे** (अष्टा० १। ३।२५) से आत्मनेपद होता है। **तृतीयान्तः सप्तम्यन्तो वा**—इसका भाव है-**गार्हपत्येन गार्हपत्ये वा** ऐसा पाठ नहीं है। यदि तृतीयान्त अथवा सप्तम्यन्त पाठ होता, तो 'गार्हपत्य अग्नि के साथ' अथवा 'गार्हपत्य अग्नि के समीप में' इन्द्र का उपस्थान करे, यह अर्थ हो सकता था। **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** में द्वितीया है। अतः गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान जाना जाता है। इस से मन्त्रगत इन्द्रपद 'दीप्तिमान्' इस गौण अर्थ का वाचक होकर दीप्त गार्हपत्य को कहेगा। इन्द्रपद का मुख्यार्थ इन्द्र देवता ग्रहण करने पर उससे गार्हपत्य अग्नि का कथन न होने से गार्हपत्य=गृहपतिसम्बन्धी ऐसा गौण अर्थ करना होगा=गृहपति सम्बन्धी इन्द्रदेवता का उपस्थान करे॥

व्याख्या **क्या प्राप्त होता है ? [मन्त्रगत इन्द्र पद के] सामर्थ्य से इन्द्र का उपस्थान प्राप्त होता है। गार्हपत्य अग्नि के [इन्द देवतावाली ऋचा से] उपस्थान के अशक्य होने से। यदि कहो कि [यदि गार्हपत्य का उपस्थान अशक्य है, तो गार्हपत्य में] द्वितीया विभक्ति कैसे होगी ? तो यह ठीक नहीं है। अविवक्षित ईप्सितार्थवाली अथवा सम्बन्धमात्रप्रधाना द्वितीया हो जायेगी, अथवा गार्हपत्य शब्द [यज्ञसाधनरूप] सम्बन्ध से उपस्थान का विशेषण होगा। इसलिए गार्ह-**

कर्त्तव्यमिति। गार्हपत्यश्च देशेन विशिष्यात्। मुख्यमेव कार्यं मन्त्राणाम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥ (उ०)

नैतदस्ति—'इन्द्रार्थमुपस्थानमिति'। अयथार्थमैन्द्री स्यात्। कुतः? वचनसामर्थ्यात्। वचनमिदं भवति—'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति। गार्हपत्ये द्वितीया विभक्तिः प्राधान्यमाह। किमिव वचनं न कुर्यात्? नास्ति वचनस्यातिभारः। तस्माद् गार्हपत्यार्थमुपस्थानम् ॥३॥

पत्यविशिष्ट उपस्थान इन्द्र के लिए करना चाहिए। गार्हपत्य शब्द देश (=स्थान) से विशेषित करेगा। इस प्रकार मन्त्रों का मुख्य कार्य (=इन्द्र का उपस्थान) होगा। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—अविवक्षितेप्सार्था—अविवक्षित ईप्सित अर्थात् अनीप्सित अर्थ में भी **तथायुक्तं चानीप्सितम्** (अष्टा० १।४।५०) से द्वितीया देखी जाती है—**विषं भक्षयामि, चौरान् पश्यति।** यहां विष मारक होने से, तथा चौर हिंसक वा लुण्ठक होने से कर्त्ता के ईप्सित अर्थ नहीं हैं। **सम्बन्धमात्रप्रधाना**-कारकमात्र प्रधान। यथा **सक्तून् जुहोति** (द्र०—तै० सं०३।३।८) में द्वितीया तृतीया के अर्थ में है—**सक्तुभिर्जुहोति** (द्र०—भाट्ट दीपिका अ० २, पाद १, अधि० ४)। ० **प्रधाना वा**-यहां वा शब्द पक्षान्तर के विकल्पार्थ है। **सम्बन्धाद् गार्हपत्यशब्दः**—'सम्बन्धात्' का अर्थ है—यज्ञ-साधनत्वरूप संबन्ध से। 'गृहपति यजमान का यह' इस सम्बन्ध से गार्हपत्य शब्द इन्द्र का वाचक हो जायेगा। **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) से **अस्य इदम्** इस अर्थ में गृहपति शब्द से ण्य प्रत्यय होगा। **गार्हपत्यश्च देशेन विशिष्यात्**— का अभिप्राय है गार्हपत्य के समीप में बैठा हुआ इन्द्र की स्तुति करे।

वचनात् त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। पूर्व अधिकरण न्याय से प्राप्त ऐन्द्री का मुख्य अर्थ अभिप्रेत नहीं है। (वचनात्) **ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते** में द्वितीयाश्रुति वचन से (ऐन्द्री) इन्द्र देवतावाली ऋक् (अयथार्थम्) अयथा=असदृश=बाधित अर्थ है जिसका ऐसी (स्यात्) होवे। अर्थात् **गाहपत्यमुपतिष्ठते** वचनसामर्थ्य से ऐन्द्रया पद गौणीवृत्ति से अयथार्थ=मुख्यार्थवाचक न होकर गौण अर्थ 'इन्द्र=परमैश्वर्यवान् देवता है जिसका' इस प्रकार अग्नि का वाचक समझा जाये ॥

व्याख्या **'इन्द्र के लिये उपस्थान है' यह नहीं है। अयथा अर्थवाली ऐन्द्री ऋक् होवे। किस हेतु से? वचनसामर्थ्य से। यह वचन होता है**—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। **गार्हपत्य में श्रुत द्वितीया विभक्ति उसकी प्रधानता को कहती है। तो फिर वचन किस प्रकार न करे? वचन का अतिभार नहीं है। इसलिए गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है ॥३॥**

अत्राह, नन्वेतदुक्तम्—नैन्द्रेण मन्त्रेण गार्हपत्योपस्थानं भविष्यतीति ? उच्यते—वचनाद् भविष्यति। आह, न वचनशतेनापि शक्यमेतत्। इन्द्रशब्देनाग्निं प्रत्याययेदिति ब्रुवन् विहन्येत। यथा अग्निना सिञ्चेदिति, उदकेन दीपयेदिति। न हि शास्त्रहेतुकः शब्दार्थयोः सम्बन्धो भवति। नित्योऽसौ लोकतोऽवगम्यते इत्युक्तम्—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध'[1] इति। ननु शब्दलक्षणोऽपि भवति शब्दार्थयोः सम्बन्धः कृत्रिमः। यथा देवदत्तो यज्ञदत्त इति। भवति कश्चिद् यत्र सम्बन्धस्य विधायकं वाक्यं भवति। न त्वेतद्वाक्यं शब्दार्थयोः सम्बन्धस्य विधायकम्—गार्हपत्यस्येन्द्रशब्दो नामेति। कथं तर्हि ? सिद्धसम्बन्धेन इन्द्रशब्देन गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति। न च शक्यते परशब्देन परो वदितुम्। किमत्र वचनं करिष्यति ? अत्रोच्यते—

गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात्, सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥ (उ०)

विवरण—अयथार्थमैन्द्री स्यात्—निवेशनः संगमनो वसूनाम् ऋक् अयथा अर्थवाली अर्थात् इन्द्र पद से मुख्यार्थरूप प्रतीयमान इन्द्र देवतावाली नहीं है, अपितु मन्त्रगत 'इन्द्र' पद **इदि परमैश्वर्ये** धातु के यौगिक अर्थ से परमैश्वर्यवान् विशेषणरूप देवता का वाचक है। वह परमैश्वर्यवान् देवता **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** वचनसामर्थ्य से अग्निदेवता है। इस प्रकार ऐन्द्री पद में विशेषणरूप इन्द्र से तद्धितप्रत्यय जानना चाहिये ॥३॥

व्याख्या—(आक्षेप) यह जो कहा है कि—ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान नहीं होगा ? (समाधान) वचनसामर्थ्य से हो जायेगा। (आक्षेप) यह (=इन्द्र शब्द से गार्हपत्य का निर्देश) सौ वचनों से भी सम्भव नहीं है। इन्द्र शब्द से अग्नि को जाने, ऐसा कहता हुआ विरुद्ध होवे। जैसे अग्नि से सींचे, जल से प्रज्वलित करे। शास्त्रनिमित्तक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नहीं होता है। यह (=शब्दार्थसम्बन्ध) नित्य है, लोक से जाना जाता है, यह कह चुके हैं—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (मी० १।१।५)। (समाधान) **शब्दलक्षण (=शब्द से बोधित) भी कृत्रिम शब्दार्थसम्बन्ध होता है। जैसे—देवदत्त यज्ञदत्त। (आक्षेप) कोई [शब्दार्थ सम्बन्ध शास्त्रलक्षण] होता है, जहां सम्बन्ध का विधायक वाक्य होता है। किन्तु यह (=ऐन्द्र्या** गार्हपत्यमुपतिष्ठते) **वाक्य शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विधायक नहीं है—गार्हपत्य का इन्द्र शब्द नाम है। तो क्या है ? प्रसिद्धसम्बन्धवाले (=जिसका सम्बन्ध ज्ञात है, उस) इन्द्र शब्द से गार्हपत्य का उपस्थान करे। पर (=अन्य के वाचक) शब्द से पर (=अन्य अर्थ) नहीं कहा जा सकता है। यहां वचन क्या करेगा ? (समाधान) इस विषय में कहते हैं—**

गुणाद् वाप्यभिधानं स्यात्, संबन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द 'इन्द्र शब्द से गार्हपत्य का कथन नहीं होगा' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। (गुणात्) गुण से (अपि) भी (अभिधानम्) कथन (स्यात्) होवे (सम्बन्धस्य) शब्दार्थसम्बन्ध के (अशास्त्रहेतुत्वात्) शास्त्रनिमित्तक न होने से, अर्थात् नित्य होने से ॥

---

1. मी० १।१।५॥

यद्यपि नेदं वाक्यं शब्दार्थसम्बन्धस्य विधाने हेतुभूतम्, तथाप्यनेनेन्द्रशब्देन शक्यं कर्त्तुं गार्हपत्याभिधानम् कुतः ? 'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति'। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति। अस्ति तु चास्येन्द्रसादृश्यम्। यथैव इन्द्रो यज्ञसाधनमेव गार्हपत्योऽपीति। अथवा—इन्दतेरैश्वर्यकर्मण इन्द्रो भवति। भवति च गार्हपत्यस्यापि स्वस्मिन् कार्ये ईश्वरत्वम्। तस्मादिन्द्रशब्देन यः प्रत्याय्यतेऽर्थः, स प्रतीतः सादृश्याद् गार्हपत्यं प्रत्याययिष्यति, ऐश्वर्य्याद् वा प्रत्याययिष्यतीति न दोषः ॥४॥ **इतीन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाऽधिकरणम् ॥२॥ गार्हपत्यन्यायः ॥**

व्याख्या—**यद्यपि यह** (ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते) **वाक्य शब्दार्थसम्बन्ध के विधान में हेतुभूत नहीं है, फिर भी इस इन्द्र शब्द से गार्हपत्य अग्नि का कथन कर सकते हैं। किस हेतु से ? गुण के संयोग से यह गौण कथन होगा। गुण [के संयोग] से भी कथन होता है। जैसे**—सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवकः। **इसी प्रकार यहां भी जो इन्द्र नहीं है ऐसे गार्हपत्य में इन्द्र शब्द [प्रयुक्त] होगा। और इस (=गार्हपत्य) का इन्द्रसादृश्य तो है। जैसे इन्द्र यज्ञ का साधन है, इसी प्रकार गार्हपत्य भी [यज्ञ का साधन] है। अथवा—ऐश्वर्य अर्थवाली इन्द (=इदि) धातु से इन्द्र [शब्द निष्पन्न] होता है** [=य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्र ईश्वरः= **अर्थात् इन्द्र= परम ऐश्वर्यवाला ईश्वर=स्वामी]। और गार्हपत्य का भी अपने कार्य में ईश्वरत्व है। इसलिए इन्द्र शब्द से जो अर्थ जनाया जाता है, वह ज्ञात हुआ सादृश्य से गार्हपत्य का भी ज्ञान करायेगा, अथवा ऐश्वर्यसम्बन्ध से बोध करायेगा। इससे कोई दोष नहीं है ॥४॥**

विशेष—विनियोग का मुख्य लक्षण है—**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति** (गोपथ २।२।६)=अर्थात् यही यज्ञ का समृद्धपना=यथार्थपना है, जो रूपसमृद्ध होना है। जिस क्रियमाण कर्म को ऋक् वा यजु कहता है। ऐसा ही वचन ऐतरेय ब्राह्मण १।४ में भी है। यहां **यजुर्वा** पद नहीं है, शेष अर्थ पूर्ववत् है। इस वचन के अनुसार **निवेशनः संगमनो वसूनाम्** ऋक् का इन्द्र के उपस्थान में ही विनियोग होना चाहिये। परन्तु यज्ञकर्म में बहुत्र अयथार्थ= गौणविनियोग भी होता है। निरुक्तकार यास्क ने ७।२० में लिखा है—**तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते**—अर्थात् दाशतयी =दशमण्डलरूप विभागवाली सभी ऋक्शाखाओं में जातवेदस् देवता और गायत्री छन्दवाला एक ही तृच (=तीन ऋचाओंवाला सूक्त) है। इसलिए यज्ञकर्म में जो भी अग्निदेवतावाला गायत्रछन्दस्क तृच् है, वह जातवेदस् देवतावालों के स्थान में विनियुक्त होता है। इसी प्रकार यास्क ने निरुक्त १२।४० में वैश्वानर देवतावाले तृच के सन्बन्ध में लिखा है—**तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।** अर्थात् समस्त ऋक् शाखाओं में विश्वदेव देवतावाला

[आह्वानप्रकाशकमन्त्राणाम् आह्वाने विनियोगाऽधिकरणम् ॥३॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ। तत्रेदं समाम्नायते—हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति¹ इति। तत्र

गायत्री छन्दवाला एक ही तृच है। इसलिए जो कोई भी बहुदेवतावाला गायत्र तृच है, वह वैश्वदेव देवतावालों के स्थान में विनियुक्त होता है। जो भी विश्वलिङ्गवाला तृच है, वह वैश्व-देवों के स्थान में विनियुक्त होता है, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है।

काल्पनिक विनियोग—मीमांसक वा याज्ञिक लोग मन्त्र और ब्राह्मण में विनियोग की दृष्टि से ब्राह्मण को प्रमुखता देते हैं। इस कारण यहां मन्त्रस्थ इन्द्र पद को ऐश्वर्यवान् विशेषण-रूप गौण अर्थ का वाचक माना गया है। यहां तक तो विनियोग कुछ यथार्थ हो सकता है। क्योंकि यहां मन्त्रगत पद इन्द्र के अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता है। परन्तु याज्ञिक सम्प्रदाय में तो अयथार्थ विनियोग की ऐसी भी कल्पना देखी जाती है, जहां पद के मुख्य वा गौण अर्थ का भी परित्याग होता है। यथा—**दधिक्राव्णो अकारिषमिति वा संबुभूषन् दधिभक्षम्** (शांखा० श्रौत ४।१३।२); तथा **दधिक्राव्णो अकारिषमिति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य** (आश्व० श्रौत ६।१३) में **दधिक्राव्णो अकारिषम्** मन्त्र को दही के भक्षण में विनियुक्त किया है। मन्त्रगत दधिक्रावा शब्द अश्व का वाचक है। इस पद के अन्तर्गत दधि शब्द 'कि' प्रत्ययान्त 'दधत्'='पैर रखता हुआ' अर्थ का वाचक है। इसका दहीवाचक दधि के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर भी शब्दसाम्यमात्र से दही के भक्षण में विनियोग किया गया है। इसी प्रकार कात्यायन गृह्यसूत्र में कर्णशब्द श्रवणमात्र से **भद्रं कर्णेभिः**; तथा **वक्ष्यन्तीवेदागनीगन्ति कर्णम्** मन्त्रों का कर्णवेध में विनियोग देखा जाता है। उत्तरकाल में पदस्थ एक आध वर्णसामान्य से विनियोग होने लगा। अग्निवेश **गृह्य** ५; वैखानस **गृह्य** ४।१३,१४; तथा बोधायन गृह्यशेष अ० १६,१७ में **शन्नो देवी** मन्त्र शनैश्चर ग्रह की; और **उद्-बुध्यस्व** मन्त्र बुधग्रह की पूजा में विनियुक्त देखा जाता है। इस प्रकार के पदैकदेश, अथवा पदों के वर्णसादृश्यमात्र से होनेवाले विनियोगों के परिप्रेक्ष्य में ही याज्ञिकों में **मन्त्रानर्थक्यवाद** का प्रचलन हुआ—**अनर्थका हि मन्त्राः** (निरुक्त १।१५)। इस विषय में हमने 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के अन्तर्गत 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' नामक निबन्ध में विस्तार से विवे-चना की है (द्र०—पृष्ठ ८०-९५) ॥४॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास हैं। वहां पढ़ा है—हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति (=

१. अनुपलब्धमूलम्। तु०—कार्या हविष्कृदेहीति त्रिरवहन्ति अवघ्नन् वा। आप० श्रौत १।१९।७॥ इदमत्रावधेयम्—माध्यन्दिनसंहितायां **'हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि'** इति द्विः पठ्यते (१।१५); काण्वसंहितायां (१।५।४); मै० संहितायां (१।४।१०; ४।१।६), काठकसंहितायां (३१।७); तै० ब्राह्मणे (३।२।५।८) च **'हविष्कृदेहि'** इति सकृदेव पठ्यते। यद्यपि काण्वसंहितायां सकृत् पठ्यते, तथापि काण्वशतपथे (२।१।३।१६) माध्यन्दिनवद् द्विरेव पाठ उपलभ्यते।

सन्देहः—किमेष मन्त्रोऽवहन्तिं प्रत्युपदिश्यते, उत हन्तिरस्य कालं लक्षयतीति ? कथं हन्तिं प्रत्युपदिश्यते, कथं वा कालं लक्षयेत् ? यद्येवं सम्बन्धः क्रियेत—हविष्कृदेहीत्यवघ्नन्निति, ततो हन्तिं प्रत्युपदिश्यते। अथावघ्नन्नाह्वयतीति, ततोऽस्य कालं लक्षयतीति। किं तावत् प्राप्तम् ?

तथाऽऽह्वानमपीति चेत् ॥५॥ (पू०)

तथा आह्वानमपि। यथा ऐन्द्री गार्हपत्यं प्रत्युपदिश्यते, एवमेष मन्त्रो हन्तिं प्रत्युपदिश्यते। एवं श्रुतिरनुगृहीता भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्। हन्तिकालस्य मन्त्रस्य च सम्बन्धो भवेत्। न हन्तेर्मन्त्रस्य। एवं च सत्याह्वयतीत्ययमनुवादः—आह्वानं करोति। यो हि एहीति ब्रूते, स आह्वयति। तत्र केनचिद् गुणेन मन्त्रो हन्तिं प्रत्याययिष्यति ? तस्मान्नाह्वाने विनियोक्तव्यः ॥५॥

'हविष्कृदेहि' इस मन्त्र से अवघात करता हुआ तीन बार बुलाता है)। इसमें सन्देह है—क्या यह मन्त्र अवहनन कर्म के प्रति उपदिष्ट है, अथवा अवहनन इस मन्त्र के [प्रयोग] काल को लक्षित करता है ? कैसे अवहनन कर्म के प्रति [मन्त्र का] उपदेश होता है, अथवा कैसे [अवहनन] काल को लक्षित करता है ? ऐसा सम्बन्ध करते हैं कि–हविष्कृदेहीत्यवघ्नन्, तो यह [मन्त्र] अवहनन कर्म के प्रति उपदिष्ट होता है, और अवघ्नन्नाह्वयति [ऐसा सम्बन्ध करते हैं, तो] इससे अवहनन काल लक्षित होता है, [अवहनन के समय 'हविष्कृदेहि' मंत्र को तीन बार बोले]। तो क्या प्राप्त होता है—

तथाऽऽह्वानमपीति चेत् ॥५॥

सूत्रार्थः—[जैसे ऐन्द्री ऋक् गार्हपत्य के प्रति गौणी वृत्ति से उपदिष्ट है] (तथा) उसी प्रकार (आह्वानमपि) आह्वान='एहि' पद घटित **हविष्कृदेहि** मन्त्र भी अवहनन के प्रति उपदिष्ट होवे, (चेत्) यदि ऐसा माने तो, ॥

व्याख्या—**उसी प्रकार आह्वान मन्त्र** (=हविष्कृदेहि **मन्त्र**) **भी। जैसे ऐन्द्री ऋक्** [**गौणी वृत्ति से**] **गार्हपत्य के प्रति उपदिष्ट होती है, इसी प्रकार** (हविष्कृदेहि) **मन्त्र अवहनन के प्रति उपदिष्ट होता है। इस प्रकार श्रुति अनुगृहीत होती है, अन्यथा लक्षणा होवे। अवहनन काल का और मन्त्र का सम्बन्ध होवे। अवहनन और मन्त्र का सम्बन्ध न होवे। इस प्रकार मानने पर आह्वयति** (=**बुलाता है**) **पद अनुवाद होवे–आह्वान करता है। जो 'एहि' ऐसा कहता है, वह आह्वान करता है। वहां किसी गुण से मन्त्र अवहनन के प्रति बोधित करायेगा? इसलिए आह्वान में** [हविष्कृदेहि **मन्त्र को**] **विनियुक्त नहीं करना चाहिये ॥५॥**

विवरण—मन्त्रो हन्तिं प्रत्युपदिश्यते—इसका भाव है—'एहि' पदघटित मन्त्र भी अवघात के प्रति उपदिष्ट होता हुआ कर्तृसाधन हविष्कृत् शब्द हविःसाधन मात्र गौणी वृत्ति से अवघात को प्रकाशित करता है। **इतरथा लक्षणा स्यात्**—'अवघ्नन्' पद में लक्षण होगी। अवहनन काल में **हविष्कृदेहि** मन्त्र बोले ॥५॥

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥ (उ०)

नैतदस्ति—हन्ति प्रत्युपदिश्यते इति। किं तर्हि ? काललक्षणा स्यात्। कुतः ? **त्रिराह्वयति** इति त्रित्वमत्र विधीयते। यद्यस्मिन्नेव वाक्ये मन्त्रो विधीयेत, अनेकगुण-विधानाद् वाक्यम्भिद्येत। तस्मान्नैवमभिसम्बन्ध—एवमवघ्नन्निति। कथं तर्हि ? अवघ्नन्नाह्वयतीति। नन्वस्मिन्नपि पक्षे मन्त्रो विधीयते कालश्च। तत्र स एव दोषो भवेत्। नेति ब्रूमः। अवहननकाल एवार्थेन हविष्कृदाह्वातव्या। तत्रायमेव सम्बन्धोऽनूद्यते, केवला तु त्रिरावृत्तिर्विधीयते। यत्तु काललक्षणाऽर्थः शब्द इति। नैष दोषः। लौकिकी हि लक्षणा, मन्त्रोऽपि च रूपादेवाह्वाने प्राप्तः। सोऽप्यनूद्यते एव। चोदितश्च वाक्यान्तरेणाऽवघातः, शक्नोति कालं लक्षयितुम्। तस्मादाह्वाने विनियोक्तव्यम् इति ॥६॥

न कालविधिश्चोदितत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(न) मन्त्र अवघात के प्रति उपदिष्ट नहीं है। (कालविधिः) काल=अवहनन काल की विधि होवे, (चोदितत्वात्) 'त्रिराह्वयति' से त्रित्व का कथन=विधान होने से ॥

व्याख्या—['हविष्कृदेहि' मन्त्र] **अवघात के प्रति उपदिष्ट है, ऐसा नहीं है। तो क्या है ? काल की लक्षणा होवे। किस हेतु से ?** त्रिराह्वयति (=**तीन बार बुलाता है) से यहां त्रित्व का विधान किया जाता है। यदि इसी वाक्य में मन्त्र का [अवघात के प्रति] विधान किया जाये, तो अनेक गुणों के विधान से वाक्यभेद होवे। इसलिए ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि**—एवमवघ्नन्। **तो कैसे है ?** अवघ्नन्नाह्वयति (=**अवघात करता हुआ बुलाता है)। (आक्षेप) इस पक्ष में भी मन्त्र का विधान किया जाता है और काल का भी। अतः यहां भी वही (=वाक्यभेद) दोष होवे। (समाधान)नहीं है,ऐसा हम कहते हैं। अवहननकाल में ही अर्थ(=अवहननरूप)प्रयोजन से हविष्कृत् का आह्वान करना चाहिये। वहां यही सम्बन्ध अनूदित होता है, केवल तीन बार आवृत्ति का विधान किया जाता है। और जो कहा कि काल की लक्षणा के लिए [अवघ्नन्] शब्द होगा। यह दोष नहीं है। लक्षणा लौकिकी (=लोकप्रसिद्ध) है, और मन्त्र भी रूप (=स्वसामर्थ्य) से ही आह्वान में प्राप्त है। वह भी अनूदित होता ही है। वाक्यान्तर से अवघात कथित है, वह काल को लक्षित कर सकता है। इसलिए आह्वान में मन्त्र का विनियोग करना चाहिए ॥६॥**

विवरण—काललक्षणा स्यात्—का भाव है 'अवघ्नन्' शब्द अवहननकाल को लक्षित करता है। 'अवघ्नन्' में शतृ प्रत्यय **लक्षणहेत्वोः क्रियायाः** (अष्टा० ३।२।१२६) सूत्रानुसार **अर्जयन् वसति** के समान हेतु अर्थ में होता है। इस प्रकार **अवहननहेतोराह्वयति** अवहनन के निमित्त आह्वान करता है, अर्थ जानना चाहिये। **यद्यस्मिन्नेव वाक्ये मन्त्रो विधीयेत** यद्यपि भाष्यकार ने वाक्यभेददोष के कारण मन्त्र का अवघात में विधान नहीं माना है। तथापि आपस्तम्ब श्रौत १।१९।७ **हविष्कृदेहीति चिरमवहन्ति अवघ्नन् वा हविष्कृतं ह्वयति** सूत्रद्वारा हविष्कृदेहि मन्त्र अवहनन में विनियुक्त किया है, तथा पक्ष में आह्वान में। आह्वानपक्ष में आप० श्रौत १।१६।१० में **अवरक्षो**

गुणाभावात् ॥७॥ (उ०)

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । अथ कस्मान्न गुणादवहन्ति ब्रूते ? हविष्करोति हि अवहन्तिः । तस्माद् हविष्कृत् । किमेवं भविष्यति ? रूपादेवावहन्तौ मन्त्रे प्राप्ते केवलं त्रिरावृत्तिमेव वक्ष्यति । न भविष्यति वाक्यभेद इति ।

अत्रोच्यते—गुणाभावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवतीति । न ह्यसौ आहूतोऽस्मीत्यवगच्छति । तत्र अदृष्टार्थमाह्वानं स्यात् । यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थमाह्वानम् । तस्मान्न हन्तिमन्त्र इति ॥७॥

दिवस्सपत्नं वध्यासमित्यवहन्ति सूत्र द्वारा अवहननकार्य में **अवरक्षो दिवस्सपत्नं वध्यासम्** मन्त्र का विनियोग दर्शाया है । प्रथम मन्त्र का धूर्तस्वामी कृत भाष्य, रामाग्निचित् कृत भाष्यवृत्ति, तथा रुद्रदत्तकृत सूत्रवृत्ति यहां द्रष्टव्य है । **चोदितश्च वाक्यान्तरेणाऽवघातः**—अवघातविधायक वाक्यान्तर भाष्यकार ने अगले ६ वें सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है—**अपहतं रक्ष इत्यवहन्ति, अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति** (अनुपलब्धमूल वाक्य) ॥६॥

गुणाभावात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(गुणाभावात्) गौण अभिधान अवहन्ति=अवहनन में सम्भव न होने से मन्त्र अवघात को नहीं कहता है ॥

व्याख्या—**यह सूत्र कुछ पदों के अनन्तर पढ़ा गया है [वे पद हैं—'हविष्कृदेहि' मन्त्र] । गौणीवृत्ति से अवघात को क्यों नहीं कहता है ? हविष्करोति=हवि का निष्पन्न करनेवाला अवघात ही है । इस कारण [अवघात] हविष्कृत् है । ऐसा करने से क्या होगा ? स्वरूप से ही अवघात में मन्त्र के प्राप्त होने पर केवल तीन आवृत्ति को ही [उक्त वचन] कहेगा । इस प्रकार वाक्यभेद नहीं होगा ।**

इस विषय में कहते हैं—गुण का अभाव होने से अवहननक्रिया में गौण अभिधान सम्भव नहीं है । वह [अवघात] 'मैं बुलाया गया हूं' ऐसा नहीं जानता है [क्योंकि वह अचेतन है] । उस अवस्था में आह्वान अदृष्टार्थ होगा । हवि को निष्पन्न करनेवाली यजमान की पत्नी में आह्वान दृष्टार्थ है । इसलिये यह अवघात का मन्त्र नहीं है ॥७॥

विवरण—इदं पदोत्तरं सूत्रम्—इसका भाव यह है कि सूत्रकार के मन में कुछ कथनीय पद थे । उन्हें न कहकर सूत्रकार ने यह सूत्र रचा है । महाभाष्यकार भी बहुत स्थानों पर वार्तिक से पूर्व कुछ कथनीय विषय का निर्देश करके, और **अत उत्तरं पठति** का निर्देश करके वार्तिक पढ़ते हैं । यथा—**ऋलृक्** (प्रत्या० सूत्र २, पृष्ठ१६)[1]; **इको गुणवृद्धी** (अष्टा० १।१।३, पृष्ठ ४७); **रलो व्युपधाद्०** (अष्टा० १।२।२६, पृष्ठ २०२) आदि । **हविष्करोति हि अवहन्तिः—हविष्करोतीति हवि-**

---

१. यह पृष्ठ संख्या डा० कीलहार्न सम्पादित महाभाष्य के संस्करण की हैं ।

लिङ्गाच्च ॥८॥ (उ०)

लिङ्गं च भवति—**वाग्वै हविष्कृत्, वाचमेवैतदाह्वयति**[1] इति। न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति। अस्ति तु यजमानस्य पत्न्या। सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः। अवहन्तिस्तु न स्त्री, न पुमान्, न नपुंसकमिति। नन्ववहन्तेरपि स्त्रीलिङ्गः शब्दोऽस्ति—'क्रिया' इति। अत्र ब्रूमः—न नियोगतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः। पुँल्लिङ्गोऽपि तस्याऽस्ति 'अवघातः' इति। नपुंसकलिङ्गोऽपि 'कर्म' इति। अपि च, पत्न्याः स्वरूपेण सादृश्यम्। अवहन्तेः पररूपेण शब्देन। तस्मात् पत्न्यां हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥८॥

ष्कृत् इस सामान्य व्युत्पत्ति से हविनिष्पादन में साधनभूत अवघात क्रिया भी गौणवृत्ति से हविष्कृत् है। **रूपादेव**—उक्त निर्वचन से **हविष्कृदेहि** मन्त्र अपने स्वरूप से ही अवहननक्रिया में विनियुक्त हो जाता है। **गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति**—हविष्कृत् का गौण कथन अवहननक्रिया में सम्भव नहीं है। **हविष्कृदेहि** में हविष्कृत् सम्बोधन है, और **एहि** आगमन क्रिया को कहता है। गौणी वृत्ति से हविष्कृत् शब्द से कही जानेवाली अवहननक्रिया में न सम्बोधन उपपन्न होता है, और ना ही अवहननक्रिया यह जानती है कि 'मुझे बुलाया जा रहा है'। इस कारण इस पक्ष में आह्वान अदृष्टार्थ होगा। हविष्कृत् शब्द के मुख्य वृत्ति से यजमान की पत्नी को कहने पर उसम सम्बोधन उपपन्न होता है,और वह 'मुझे बुलाया जा रहा है', ऐसा जानती है। अत: इस पक्ष में हविनिष्पादनरूप कर्म के लिए आह्वान दृष्टार्थक है ॥७॥

लिङ्गाच्च ॥८॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गात्) लिङ्ग से (च) भी यहां हविष्कृत् शब्द से यजमानपत्नी विवक्षित है ॥

व्याख्या – **लिङ्ग भी होता है**--वाग्वै हविष्कृत्, वाचमेवैतद अ ह्वयति (= **वाक् ही हविष्कृत्**) है, **वाक् को ही यह बुलाता है। और वाक् का अवहन्ति के साथ कोई सादृश्य नहीं है। यजमान की पत्नी के साथ तो [वाक् का] सादृश्य है। वह [पत्नी] स्त्री है, और वाक् भी स्त्रीलिङ्ग है। अवहन्ति न स्त्री है, न पुमान्, और न नपुंसकलिङ्ग।** (आक्षेप) **अवहन्ति का भी स्त्रीलिङ्ग शब्द है—'क्रिया'।** (समाधान) **इस विषय में कहते हैं अवहन्ति का नियमतः स्त्रीलिङ्ग शब्द नहीं है। उसका पुँल्लिङ्ग भी शब्द है—'अवघात'। और नपुंसकलिङ्ग भी है—'कर्म'। और भी, [वाक् का] पत्नी के साथ स्वरूप से सादृश्य है। अवहन्ति का पररूप [क्रिया] शब्द से सादृश्य है। इसलिये पत्नीरूप हविष्कृत् में लिङ्ग अनुरूपतर (=अधिक अनुरूप) होता है ॥८॥**

विवरण—वाग्वै हविष्कृत्—यह भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु० कार्या— हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति वाग्वै हविष्कृद्, वाचमेवैतद् विसृजते। शत० १।१।४।११॥

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥९॥ (उ०)

अवहन्तिमन्त्रे सति अस्मिन्मन्त्रे विध्यन्तरकोपः स्यात । **अपहतं रक्ष इत्यवहन्ति**[1], **अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति**[1] इति । तत्र पक्षे अभावान्नित्यवच्छ्रुतिरुपरुद्धयेत । तस्माद-वघ्नन्निति काललक्षणार्थः [मन्त्रोऽप्यवहननार्थः][2] इति ॥९॥ **इत्याह्वानप्रकाशकमन्त्राणाम् आह्वाने विनियोगाऽधिकरणम्** ॥३॥

इससे मिलता हुआ एक वचन है— **वाग्वै हविष्कृत्, वाचमेवैतद् विसृजते** (शत० १।१।४।११) । हविर्ग्रहण के काल में वाग्यमन का विधान है— **कर्मणे वामिति शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादाय वाचं यच्छति** (कात्या० श्रौत ३।२।१०) । **हविष्कृता वा** (कात्या० श्रौत ३।४।६) सूत्र से **हविष्कृदेहि** मन्त्र का उच्चारण करते हुए वाक् का विसर्जन कहा है । यही विधान शतपथ में भी है । इस लिए शतपथ के वचन का भाव स्पष्ट है—'वाक् ही हविष्कृत् है, इस कारण इस मन्त्र से वाक् का विसर्जन करता है' । इस के अनुसार भाष्यकारोक्त वचन में भी **वाचमेवैतदाह्वयति** का तात्पर्य वाणी के आह्वान अर्थात् विसर्जन में है । **न नियोगतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः**— जिस प्रकार सिद्धान्ती ने अवहन्ति के नियमतः स्त्रीलिङ्ग शब्द का प्रतिषेध करते हुए उसका पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्द दर्शाया है, उसी प्रकार पत्नी शब्द का पुँल्लिङ्ग शब्द दारा और नपुंसकलिङ्ग कलत्र शब्द है, ऐसा कहा जा सकता है । परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है । दारा और कलत्र पत्नी के वाचक नहीं हैं, भार्या के पर्याय हैं । पत्नी शब्द का तो **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे** (अष्टा० ४।१।३३) के नियम से यज्ञसंयोग में ही साधुत्व माना गया है । अतएव कर्मकाण्ड में सर्वत्र पत्नी शब्द का ही प्रयोग होता है, भार्या दारा कलत्र आदि का नहीं होता है ॥८॥

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(उपदेशे) 'हविष्कृदेहि' मन्त्र के अवघात में उपदेश मानने पर (विधिकोपश्च) विध्यन्तर **अपहतं रक्षः इत्यवहन्ति** इत्यादि विधि का कोप=विरोध (स्यात्) होवे ॥

व्याख्या—इस मन्त्र के 'अवहन्ति' मन्त्र होने पर अपहतं रक्षः इत्यवहन्ति (=**'अपहतं रक्षः' मन्त्र से अवहनन करे**), अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति (=**'अपहता यातुधानाः' मन्त्र से अवहनन करे)विध्यन्तर का विरोध होगा)। वहां(=हविष्कृदेहि मन्त्र को अवहनन मन्त्र मानने पर) 'अपहतं रक्षः', अपहता यातुधानाः' मन्त्रों का पक्ष में अर्थात् विकल्प होने पर अभाव होने से नित्यवत् प्रतीयमान श्रुति बाधित होवे । इसलिए 'अवघ्नन्' यह काललक्षणार्थ है** ॥९॥

विवरण— अपहतं रक्षः इत्यवहन्ति यह वचन और उत्तर वचन हमें वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हुए । कुतुहलवृत्तिकार ने संभवतः इसी कारण **अव रक्षो दिवः सपत्नमित्यवहन्ति**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. अयमाचार्यपादैः प्रवर्धितः पाठः ।

[अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाऽधिकरणम् ॥४॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**उत्तिष्ठन्नन्वाह, अग्नीदग्नीन् विहर**[1] इति । तथा **व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति**[2] इति । तत्र सन्देहः—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत कालार्थः संयोग इति ?

(आप० श्रौत १।१९।१०) वचन उद्धृत किया है । **पक्षे अभावात्**—भाष्यकार ने भी अवहनन के दो मन्त्र उद्धृत किये हैं। उनमें भी विकल्प होने से नित्यवच्छ्रुति का पक्ष में उपरोध होगा। इसका समाधान यह है कि भाष्यकारोद्धृत वचन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के होने से, और व्यवस्थित विकल्प होने से नित्यवच्छ्रुति का अवरोध नहीं होता है ॥९॥

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—उत्तिष्ठन्नन्वाह, अग्नीदग्नीन् विहर (= **अध्वर्यु उठता हुआ कहता है - हे अग्नीत्! अग्नियों को विहरण करो**) । **तथा** व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति (=**व्रत ग्रहण करो, ऐसा कहता हुआ वाक् का विसर्जन करता है**) । **यहां सन्देह है—क्या उत्थान और वाग्विसर्जन के प्रति मन्त्रों का उपदेश है, अथवा काल के लिए संयोग है ?**

विवरण—उत्तिष्ठन्नन्वाह, अग्नीदग्नीन् विहर—सोमयाग में बहिष्पवमान स्तोत्र के अनन्तर अध्वर्यु अग्नीत् को अग्नि के विहरण का प्रैष देता है । आपस्तम्ब श्रौत १२।१७।१९ की रुद्रदत्त की वृत्ति में **आसीन एव संप्रेष्यति** लिखा है । अगले सूत्र (१२।१७।२०) में **अथैकेषां स्तुते उत्तिष्ठन्नन्वाहाग्नीदग्नीन् विहर** निर्देश किया है । अतः शाखान्तरीय कर्म में अध्वर्यु खड़े होकर प्रैष देता है । गार्हपत्य से अग्नि को लेकर आहवनीय और दक्षिणाग्नि में प्राप्त कराना अग्निविहरण कहाता है । (द्र०—श्रौतपदार्थ-निर्वचन सं० ४११-४१२)। **व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति**(तै० सं० ६।१।४।३) के अनुसार नक्षत्रों के उदित[3] होने पर **व्रतं कृणुत** मन्त्र से अध्वर्यु के प्रैष देने पर वाक् का विसर्जन कहा है । दीक्षा के अनन्तर यजमान को वाग्यम होने का विधान है–**स वाग्यतस्तपस्तप्यमान आस्ते आ नक्षत्रस्योदेतोः** (आप० श्रौत १०।१२।३।। अगले (चतुर्थ) सूत्र से गौ के एक स्तन को छोड़कर अन्य ३ स्तनों से व्रत (दुग्ध) का दोहन करके **याः पशूनामृषभे वाचः** आदि मन्त्र का जप करके **व्रतं कृणुत** से वाक् का विसर्जन कहा है ।

---

१. आप० श्रौत १२।१७।२०।।

२. तै० सं० ६।१।४।३।।

३. शतपथ और कात्यायन श्रौतसूत्र में सूर्य के अस्त होने पर वाग्विसर्जन कहा है । (द्र०—शत० ३।२।२।४; का० श्रौत ७।४।१४–१५) ।

तथोत्थानविसर्जने ॥१०॥ [अतिदेशः]

अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते—यस्तत्र पूर्वः पक्षः स इह पूर्वः पक्षः । यस्तत्र सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः ।

'अग्नीदग्नीन्' इत्येवम् 'उत्तिष्ठन्नन्वाह' इति । **व्रतं कृणुतेत्येवं वाचं विजसृति** इति पूर्वः पक्षः । लक्षणाऽभावादुत्तिष्ठन्नन्वाहेति सिद्धान्ते सम्बन्धः । **व्रतं कृणुत** इत्युच्यमाने **वाचं विसर्जति** इति वाक्येन पूर्वः पक्षः । लिङ्गेन सिद्धान्तः ।

यद्यपि च शक्यते 'उत्थानक्रियया अग्नीदग्नीन् विहर' इति वक्तुम् । उत्थानेनाग्निरिध्यते, वह्निश्च विह्रियते इति । **व्रतं कृणुत** इति च वागभिधानम् । तथाप्यदृष्टार्थं वचनं

तथोत्थानविसर्जने ॥१०॥

सूत्रार्थः—[यथा **हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति** में अवघ्नन् काललक्षणार्थ है, और **हविष्कृदेहि** मन्त्र का मुख्य अर्थ आह्वान में विनियोग कहा है] (तथा) उसी प्रकार मुख्य अर्थ में (उत्थानविसर्जने) उत्तिष्ठन्=उत्थान, और **व्रतं कृणुत इति वाचं विसृजति** वाक् का विसर्जन काल के लक्षण के लिये है,और विहरणरूप तथा व्रतकरणरूप मुख्य अर्थ में विनियोग है ॥

विशेष—भाष्यकार ने सूत्रस्थ 'तथा' पद से उत्थान, और वाग्विसर्जन दोनों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त उभयपक्षों का अतिदेश किया है । सुबोधिनी और कुतुहलवृत्ति में पूर्वपक्ष का स्थापन सूत्र से बाहर करके सूत्र द्वारा पूर्व अधिकरणोक्त सिद्धान्त का अतिदेश किया है । हमने भी सूत्रार्थ सिद्धान्त का अतिदेश मानकर ही दर्शाया है ।

व्याख्या—**यहां पूर्व अधिकरण का न्याय का अतिदेश करते हैं—वहां (=पूर्व अधिकरण में) जो पूर्व पक्ष था वही यहां पूर्व पक्ष है । और जो वहां सिद्धान्त है वही यहां सिद्धान्त है ।**

अग्नीदग्नीन् [विहर] ऐसा [अध्वर्यु] **खड़ा होता हुआ कहता है । तथा व्रतं कृणुत से वाक् का विसर्जन करता है, यह पूर्वपक्ष है । [तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष में अग्नीदग्नीन् विहर मन्त्र उत्थान में, व्रतं कृणुत मन्त्र वाग्विसर्जन में विनियुक्त होता है ।] लक्षणा होने से** उत्तिष्ठन् **अन्वाह ऐसा सिद्धान्त में सम्बन्ध है ।** व्रतं कृणुत ऐसा कहने पर वाचं विसृजति **वाक्य से [वाक् का विसर्जन होता है, ऐसा] पूर्वपक्ष है । मन्त्रलिङ्ग से ['व्रतं कृणुत' मन्त्र व्रतकरण में विनियुक्त होता है] ऐसा सिद्धान्त है ।**

यद्यपि उत्थानक्रिया से 'अग्नीदग्नीन् विहर' **ऐसा कहा जा सकता है । [अध्वर्यु के] उत्थान से अग्नि को दीप्त,और अग्नि का विहरण किया जाता है। तथा** व्रतं कृणुत **से वाक् का कथन किया जा सकता है । तथापि** [अग्नीदग्नीन् विहर **और** व्रतं कृणुत] **वचन अदृष्टार्थ होता है ।**

भवतीति । न मन्त्रयोरुत्थानविसर्जनार्थता कल्प्येत । कल्प्यमानायां च मन्त्रान्तरं विहितं बाध्येत—**याः पशूनामृषभो वाचः** इति। अपि च उत्थानवाग्विसर्गौ प्रति मन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्थौ स्याताम् । प्रेषणे तु दृष्टार्थौ । तत् लक्षणैवात्र न्याय्या ॥१०॥ **इत्यग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाऽधिकरणम् ॥४॥**

—:०:—

[सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताऽधिकरणम् ॥५॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**[1] इति । तत्र सन्देहः—किं सूक्तवाकः प्रस्तर प्रहरणंप्रत्युपदिश्यते, उत इयं काललक्षणेति ? तदुच्यते—

इस कारण दोनों मन्त्रों की उत्थानार्थता और वाग्विसर्जनार्थता कल्पित नहीं की जा सकती है। और [यदि व्रतं कृणुत से वाग्विसर्जन की] कल्पना करने पर मन्त्रान्तर विहित बाधित होवे— याः पशूनामृषभे वाच [**इत्यादि से वाग्विसर्जन करे]। और भी, उत्थान और वाग्विसर्जन के प्रति मन्त्र विधीयमान होने पर अदृष्टार्थ होवें । प्रेषण (=प्रेरित करने) में तो मन्त्र दृष्टार्थ होते हैं। इसलिए यहां लक्षणा ही न्याय्य है ॥१०॥**

विवरण—मन्त्रान्तरं विहितं बाध्येत—याः पशूनाम्०—भाष्यकार ने **याः पशूनामृषभे वाचः** को वाग्विसर्जन का मन्त्र कहा है। हमें यह विधि इस रूप में उपलब्ध नहीं हुई। आपस्तम्ब श्रौत १०।१२।४ में **याः पशूनामृषभे०** मन्त्र का जप करके **व्रतं कृणुत** से वाग्विसर्जन कहा है—**याः पशूनामृषभे······ पुनरायन्तु वाच इति जपित्वा व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजते**। मानव-श्रौत २।१।२।२७ में **नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजते व्रतं चरत याः पशूनामित्युदिते** इस में रात्रि में नक्षत्रदर्शन के पश्चात् **व्रतं चरत** मन्त्र से, तथा सूर्योदय होने पर **याः पशूनाम्** मन्त्र से वाग्विसर्जन कहा है ॥१०॥

—:०:—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (**=सूक्तवाक्संज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है**) । **इसमें सन्देह है—क्या सूक्तवाक् प्रस्तर के प्रहरण (=अग्नि में प्रक्षेप) के प्रति उपदेश किया जाता है, अथवा यह काल की विधि है लक्षणा से ? इस विषय में कहते हैं—**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । सूक्तवाकमन्त्रस्यानेकानि वाक्यान्यस्मिन्नधिकरणे भाष्यकृतोद्धृतानि । उत्तराधिकरणेऽपि सूक्तवाकविषयक एव विचारः प्रस्तूयते । अतोऽत्र कृत्स्नोऽपि सूक्तवाकमन्त्र उद्ध्रियते—

इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत् । आर्ध्म सूक्तवाकम् । उत नमोवाकम् । ऋध्यास्म सूक्तोच्यमग्ने । त्वं सूक्तवागसि । उपश्रितो दिवः पृथिव्योः । ओमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥ (पू०)

विवरण—सूक्तवाकेन—दर्शपूर्णमास में कर्म के अन्त में पठ्यमान **इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत् । आर्ध्मसूक्तवाकम् । उत नमोवाकम् ······ नमो देवेभ्यः** मन्त्र सूक्तवाक कहाता है। इसे होता पढ़ता है। **इदं द्यावापृथिवी** आदि सूक्तवाक का पाठ तै० ब्राह्मण ३।५।१० में समाम्नात है। तै० सं० २।६।६ में इसका व्याख्यान मिलता है। शत० ब्रा० १।६।३।१०–२२ तक द्रष्टव्य हैं। **प्रस्तरं प्रहरति**— दर्शपूर्णमास के लिए जो चार मुट्ठी दर्भ काटा जाता है। उस में प्रथम मन्त्र से संस्कृत जो दर्भमुष्टि वेदि में जूहू के नीचे बिछाई जाती है, उसे 'प्रस्तर' कहते हैं।[1] इस के बिछाने की विधि इस प्रकार है—पहले वेदि में पूर्वाग्र कुशा बिछाई जाती है। तदनन्तर जहां जुहू-संज्ञक पात्र को रखना है, वहां कुशा के ऊपर दो विधृतिसंज्ञक तृण उदग्र (अग्रभाग उत्तर में) रखे जाते हैं। उन पर पूर्वाग्र प्रस्तर बिछाया जाता है। पूर्व बिछाई कुशा और प्रस्तर दोनों पूर्वाग्र बिछाये जाते हैं। उन को परस्पर में पृथक् करने के लिये उदग्र दो विधृतिसंज्ञक तृण रखे जाते हैं।[2] प्रस्तर को विशेषरूप से धारण करने, तथा पार्थक्य बनाये रखने के कारण इन्हें 'विधृति' कहते हैं। उक्त सूक्तवाक मन्त्र के अन्त में अध्वर्यु प्रस्तर के एक तृण को छोड़कर प्रस्तर को प्रागग्र (=प्रस्तर का अग्रभाग प्राची दिशा में रखता हुआ) आहवनीय में छोड़ता है।

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(सूक्तवाके) **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** वाक्य में तृतीयान्त निर्देश से (काल-

---

स्ताम् । शङ्क्ये जीरदानू । अत्र स्नू अप्रवेदे । उरुगव्यूती अभयं कृतौ । वृष्टिद्यावारीत्यापा । शंभुवौ मयोभुवौ । उर्जस्पती पयस्वती च । सूपचरणा च स्वधिचरणा च । तयोराविदि । अग्निरिदं हविजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । सोम इदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । अग्निरिदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । प्रजापतिरिदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । अग्नीषोमाविदं हविरजुषताम् । अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्। इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम् । अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम् । इन्द्र इदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । महेन्द्र इदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । देवा आज्यपा आज्यमजुषन्त । अवीवृधन्त महो ज्यायोऽक्रत । अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषत । अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत । अस्यामृधद्धोत्रायां देवंगमायाम् । आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ । आयुराशास्ते । सुप्रजास्त्वमाशास्ते । सजातवनस्यामाशास्ते । उत्तरां देवयज्यामाशास्ते । भूयो हविष्करणमाशास्ते । दिव्यं धामाऽऽशास्ते । विश्वं प्रियमाशास्ते । यदनेन हविषाऽऽशास्ते । तदश्यात् तदृध्यात् । तदस्मै देवा रासन्ताम्। तदग्निर्देवो देवेभ्यो वनते । वयमग्नेर्मानुषाः । इष्टं च वीतं च । उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्पाताम् । इह गतिर्वामस्येदं च । नमो देवेभ्यः ॥ तै० ब्रा० ३।५।१०॥ अस्य व्याख्यानं तै० संहितायां (२।६।६) द्रष्टव्यम् ।

१. द्र० —श्रौतपदार्थनिर्वचन पृष्ठ १२, पदार्थ ८७; कात्या० श्रौत २।७।१८॥

२. प्रागग्रबर्हिस्तरण—द्र०—कात्या० श्रौत २।७।१६,२१,२२॥ बर्हि पर उदग्र दो विधृतियों का रखना—कात्या० श्रौत २।२।५॥ विधृतियों पर प्रस्तर-परिस्तरण—कात्या० श्रौत २।८।१०॥

काललक्षणेति । कुतः ? सूक्तवाकस्य देवतासङ्कीर्त्तनार्थत्वात्, प्रस्तरप्रहरणं च प्रत्यशक्तेः, प्रस्तरस्य च स्रुग्धारणार्थत्वात् ॥११॥

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥ (उ०)

उपदेशो वा प्रस्तरप्रहरणं प्रति मन्त्रस्य स्यात् । एवं श्रुतिविहितोऽर्थो भवति । सूक्तवाकेनेति करणविभक्तिसंयोगात् । इतरथा लक्षणा स्यात्—'सूक्तवाकेन लक्षणेन प्रस्तरं प्रहरेदिति' । एवञ्च कृत्वा याज्याशब्द उपपन्नो भवति—**सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः**[1] इति ॥१२॥

विधिः) काल का विधान जाना जाता है । (परार्थत्वात्) सूक्तवाक और प्रस्तर के परार्थ होने से । सूक्तवाक देवता की स्तुति के लिए, और प्रस्तर स्रुक् के धारण के लिये होता है ॥

व्याख्या—**[यहां] काल की लक्षणा है । किस हेतु से ? सूक्तवाक के देवता के संकीर्तन के लिए होने से, और प्रस्तर के [अग्नि में] छोड़नेरूप कर्म में अशक्त होने से, तथा प्रस्तर के स्रुक् के धारण के लिए होने से ॥११॥**

विवरण—काललक्षणा—'होता के द्वारा सूक्तवाक मन्त्र के पढ़े जाते हुए, अर्थात् उसके पाठकाल में अध्वर्यु प्रस्तर का अग्नि में प्रहरण करे' ऐसा जानना चाहिए । **प्रस्तरस्य च स्रुग्धारणार्थत्वात्**—यदि प्रस्तर भी देवता के लिये होता, तो अङ्गाङ्गीभाव जाना जा सकता था । परन्तु प्रस्तर का प्रयोजन तो स्रुक्धारण है । (द्र०—कात्या० श्रौत २।८।१२) ॥११॥

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् 'सूक्तवाकेन' का निर्देश काललक्षणा के लिए नहीं है । (उपदेशः) 'सूक्तवाकेन' में करणवाची तृतीया विभक्ति का निर्देश सूक्तवाक मन्त्र से प्रस्तरप्रहरण के अङ्गत्वरूप से विधान के लिये है । (याज्याशब्दो हि) सूक्तवाक के लिए **'सूक्तवाक एव याज्या'** वचन में याज्या शब्द का प्रयोग (अकस्मात्) आकस्मिक (न) नहीं है, अपितु सूक्तवाक के अङ्गत्वबोधन के लिए है ॥

व्याख्या—**अथवा प्रस्तर के प्रहरण के प्रति मन्त्र का उपदेश होवे। इस प्रकार 'सूक्तवाकेन' इस करण विभक्ति के संयोग से श्रुतिविहित अर्थ उपपन्न होता है । अन्यथा 'सूक्तवाकरूप लक्षण से प्रस्तर का प्रहरण करे' इस प्रकार लक्षणा होवे । इसी प्रकार (=प्रस्तरप्रहरण के प्रति सूक्तवाक मन्त्र की विधि) होने पर [सूक्तवाक के लिये] याज्याशब्द उपपन्न होता है**—सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः (=**सूक्तवाक याज्या है, और प्रस्तर आहुति है**) ॥१२॥

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥ (उ०)

यदुक्तम्—'देवतासङ्कीर्तने सूक्तवाकः समर्थः, न प्रस्तरप्रहरणे इति'। उच्यते—न देवतावचनं प्रहरणेन न सम्बध्यते[1]। प्रहरणं हि यजिः। मान्त्रवर्णिको देवताविधिः। एवमभिसम्बन्धः—**अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत**[2] इत्येवं देवतामनुक्रम्य, **आशास्तेऽयं यजमानः** इत्युक्त्वा **इदमिदमाशास्ते** इति च। **यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्** इति प्रस्तरं हविर्निर्दिशति, अग्न्यादींश्च देवताविशेषान्। तेन प्रहरतिर्यजतिः। एवं सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहर्तुं शक्यते, यदि प्रहरतिर्यजतिरग्न्यादिदेवताकश्च। तस्मात् सूक्तवाकस्य हरतिसंयोगेऽपि देवतार्थता घटते एव। यदि, **अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत** इत्येवमाद्येव श्रूयेत, न **आशास्तेऽयं यजमानः** इत्येवमादीनि अपराणि, 'ततोऽग्न्यादय एवेष्टा नान्तरिताः' इत्येव पर्यवसितं वाक्यं भवेत्। यतस्तु खलु **आशास्तेऽयं यजमान** इत्येवमादीन्यपराणि

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(सः) वह सूक्तवाक (देवतार्थः) इष्टदेवता के संकीर्तन के लिये है। वह (तत्संयोगात्) तृतीया श्रुति के संयोग से प्रस्तर-प्रहरण का अङ्ग होता है॥

व्याख्या—**और जो यह कहा है कि—'सूक्तवाक देवता के संकीर्तन में समर्थ है, प्रस्तर के प्रहरण में समर्थ नहीं है।' इस विषय में कहते हैं—देवतावचन प्रहरण के साथ सम्बद्ध नहीं होता है ऐसा नहीं है, अर्थात् प्रहरण के साथ सम्बद्ध होता ही है। [अग्नि में प्रस्तर का] छोड़ना याग है। देवता की विधि मन्त्रवर्ण से प्राप्त है। इस प्रकार सम्बन्ध है—**अग्निरिद हविरजुषतावीवृधत (=**अग्नि ने इस हवि का प्रीति से सेवन किया और बढ़ा)** इस प्रकार देवता का उपक्रम करके **आशास्तेऽयं यजमानः (=**यह यजमान चाहना करता है) ऐसा कहकर इस-इस की कामना करता है [ऐसा निर्देश है]।** यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात् (=**इस प्रस्तररूप हवि से यजमान जो चाहता है, वह उसकी चाहना पूरी होवे)) में प्रस्तररूप हवि का, और अग्नि आदि देवताविशेषों का निर्देश किया है। इस कारण (=देवता और हवि का सम्बन्ध होने से) 'प्रहरति' यागार्थक है। इस प्रकार सूक्तवाक से प्रस्तर का अग्नि में प्रहरण किया जा सकता है, यदि 'प्रहरति' यागार्थक होवे, और [सूक्तवाक] अग्नि आदि देवता को कहनेवाला होवे। इस कारण से सूक्तवाक की 'हरति' के संयोग में भी देवतार्थता घटित होती ही है। यदि '**अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत**' इत्यादि ही सुना जाये, और '**आशास्तेऽयं यजमानः**' इत्यादि अपर [आशीर्वचन] न सुने जायें, तो 'अग्नि आदि इष्ट अव्यवहित देवता' इस प्रकार ही वाक्य पर्यवसित होवे [अर्थात् पूर्व इष्ट देवता के स्मरण में सूक्तवाक वाक्य का तात्पर्य होवे]। जिस कारण '**आशास्तेऽयं यजमानः**' इत्यादि अपर वचन भी सुने जाते हैं, इस कारण [सूक्तवाक वाक्य की]**

---

१. 'उच्यते—स देवतावचनः प्रहरणेन न सम्बद्ध्यते' इति पाठान्तरम्।

२. अयं भाग उत्तरत्र च निर्दिष्टा अंशाः सूक्तवाकस्यैव द्रष्टव्याः।

श्रूयन्ते, तेनेह पर्यवसानम्—'अग्न्यादयः पुरोडाशादिभिरिष्टाः, अपरं तु यजमान आशास्ते तदनेन प्रस्तरेण प्राप्नुयादिति'।

ननु सत्स्वप्येतेषु देवतासङ्कीर्त्तने एव पर्यवस्येत्, पुरोडाशादिभिरिष्टा अग्न्यादयः। तत एव यजमान आयुरादीन्यप्याशासानः प्राप्नुयादिति। उच्यते—उभयथा सम्बन्धे सति प्रहरणे विनियोक्तव्यः। लिङ्गं च न बाधितं भविष्यति, वाक्यं चानुग्रहीष्यते इति। अथ वा अग्निरिदं हविरजुषत इति प्रस्तर एव हविर्निर्दिश्यते। एवम् 'इदम्' इति सन्निहितवचनमुपपन्नं भविष्यतीति ॥१३॥

प्रतिपत्तिरिति चेत् स्विष्टकृद्वद् उभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥ (आ० नि०)

अथ स्रुग्धारणे विनियुक्तस्य प्रस्तरस्य प्रहरणं प्रतिपत्तिरित्युच्यते, तत्र प्रति-

---

समाप्ति—'अग्नि आदि देवता पुरोडाश आदि से यजन किये गये, और यजमान अपर (=दूसरे फल) की चाहना करता है, उसे इस प्रस्तर के प्रहरण से प्राप्त करे'—में होती है।

(आक्षेप) इन (=यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्) **इत्यादि वचनों के होने पर भी** [सूक्तवाक] **देवता के संकीर्तन में ही पूर्ण होवे, अग्नि आदि देवता पुरोडाश आदिकों से इष्ट हैं। उन्हीं [इष्ट देवताओं] से यजमान आयु आदि की चाहना करता हुआ प्राप्त करे।** (समाधान) **दोनों प्रकार (=इष्टदेवता-संकीर्तन और चाहना की प्राप्तिरूप) सम्बन्ध होने पर प्रहरण में ही [सूक्तवाक का] विनियोग करना चाहिए। इस प्रकार लिङ्ग बाधित नहीं होगा, और वाक्य भी अनुगृहीत होगा। अथवा** 'अग्निरिदं हविरजुषत' **में** [इदं हविः से] **प्रस्तर हवि ही निर्दिष्ट है। इस प्रकार** 'इदम्' **यह** सन्निहित (=समीप) **अर्थ को कहनेवाला वचन उपपन्न होगा ॥१३॥**

प्रतिपत्तिरिति चेत् स्विष्टकृद्वद् उभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—[प्रस्तरप्रहरण] (प्रतिपत्तिरिति चेत्) प्रतिपत्तिरूप कर्म होवे, तो ठीक नहीं है। (स्विष्टकृद्वत्) स्विष्टकृत् के समान अर्थात् जिस प्रकार स्विष्टकृत् कर्म यागांश में अदृष्टार्थ, और पुरोडाश के अग्नि में प्रक्षेपांश के रूप में प्रतिपत्ति कर्म होता है, तद्वत् प्रस्तर-प्रहरण (उभयसंस्कारः) उभयसंस्कार=यागांश में अदृष्टार्थ, और प्रस्तरप्रहरणरूप में प्रतिपत्त्यर्थ (स्यात्) होवे ॥

विशेष—यहां एक कर्म की ही उभयात्मकता (=यागात्मकता और प्रतिपत्त्यात्मकता) उभयसंस्कार शब्द से विवक्षित है— **उभयात्मकत्वमुभयसंस्कारशब्देन विवक्षितम्** (द्र०—तन्त्र वार्तिक)।

व्याख्या—स्रुक् के धारण में विनियुक्त प्रस्तर का प्रहरण प्रतिपत्तिकर्म होवे, यदि ऐसा

वचनम्—स्विष्टकृद्वदेतत् स्यादिति। यथेज्यार्थात् पुरोडाशाद् वचनप्रामाण्यात् स्विष्टकृदिज्यते, यागश्चैवं[1] स भवति, प्रतिपाद्यते च पुरोडाशः, एवं प्रतिपाद्येतैव हि प्रस्तरः, यागश्च निर्वर्त्यते, इति न दोषः। प्रतिपाद्यमानोऽपि हि त्यज्यते, प्रत्यक्षतः प्रतिपाद्यते। वचनादिज्यां साधयतीत्येवं गम्यते। तस्मात् सूक्तवाकः प्रहरतिमन्त्र इति ॥१४॥

इति सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताऽधिकरणम् ॥५॥ प्रस्तरप्रहरणन्यायः ॥

—:०:—

[सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम् ॥६॥]

दर्शपूर्णमासयोः—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति[2] इति श्रूयते। तत्र सन्देहः। किं पौर्णमास्यां कृत्स्नः सूक्तवाकः प्रयोक्तव्यः, कृत्स्नोऽमावास्यायाम्, उत यथासामर्थ्यं निष्कृष्य यथायथं प्रयोग इति? तदुच्यते—

कहते हो, तो इसका उत्तर है—स्विष्टकृत् के समान यह (=प्रस्तर-प्रहरण) होवे। जैसे याग-प्रयोजनवाले पुरोडाश से वचनप्रामाण्य से स्विष्टकृत् [देवता के लिये] यजन होता है, और इस प्रकार वह याग होता है, और पुरोडाश का प्रतिपादन (=अग्नि में प्रहरण) भी होता है, इसी प्रकार प्रस्तर का प्रतिपादन भी होवे, और याग भी निष्पन्न होता है, इस कारण दोष नहीं होता है। प्रतिपाद्यमान [द्रव्य] भी त्यक्त हो जाता है, और प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादित होता है। वचन-सामर्थ्य से याग को सिद्ध करता है, ऐसा जाना जाता है। इसलिए सूक्तवाक [प्रस्तर के] प्रहरण (=त्याग) का मन्त्र है ॥१४॥

विवरण—प्रतिपत्तिरित्युच्यते—किसी अन्यकार्य में उपयुक्त द्रव्य का अन्यविहित स्थान में स्थापनरूप संस्कार प्रतिपत्तिकर्म कहाता है—**उपयुक्तस्य द्रव्यस्य अन्यत्र विहिते स्थाने निःक्षेपरूपः संस्कारः प्रतिपत्तिकर्म इत्युच्यते**[3]। **यागश्चैवं स भवति**—यहां **यागश्च स भवति** पाठान्तर है, अर्थ समान है ॥१४॥

—:०:—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में**—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (=**सूक्तवाकसंज्ञक मन्त्र से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है) ऐसा सुना जाता है। उस में सन्देह है। क्या सम्पूर्ण सूक्तवाक का पौर्णमासी में प्रयोग करना चाहिए और सम्पूर्ण का अमावास्या में, अथवा यथासामर्थ्य (=सामर्थ्यानुसार) [सूक्तवाक में से] निकालकर यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये? इस विषय में कहते हैं**—

---

१. 'यागश्च स भवति' इति पाठान्तरम्। २. अनुपलब्धमूलम्।

३. कृतप्रयोजनस्य द्रव्यस्य रिक्तीकरणादृष्टफलः संस्कारोऽन्यत्रापनयनात्मकः प्रतिपत्तिरित्युच्यते। कुतुहलवृत्तिः ३।२।१३॥

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥ (पू०)

उभयत्र सर्ववचनमिति । कुतः? कृत्स्नो हि मन्त्रः सूक्तवाक इत्युच्यते । स पदेनापि विना सूक्तवाको न स्यात् । । तत्र सूक्तवाकेन न प्रहृतं भवेत् । तस्मादुभयत्र कृत्स्नः सूक्तवाको वदितव्यः ॥१५॥

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥ (उ०)

ये पौर्णमासीदेवतावाचिनः शब्दाः, ते पौर्णमास्यां प्रयोक्तव्याः, नाऽमावास्यायाम । ये अमावास्यादेवतावाचिनस्ते अमावास्यायां, न पौर्णमास्याम् । शेषभूतमर्थं संस्कुर्वन्तो मन्त्रा उपकुर्वन्ति, नान्यथेत्युक्तम् । तस्माद् ये यत्रोपकुर्वन्ति, ते तत्र प्रयोक्तव्याः इति । न कृत्स्नः पौर्णमास्यां, न कृत्स्नश्चामावास्यायामिति ॥१६॥

कृत्स्नोपदेशाद् उभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥

सूत्रार्थः— (कृत्स्नोपदेशात्) पूरे मन्त्र का उपदेश (=पाठ) होने से (उभयत्र) पौर्णमासी और अमावास्या में (सर्ववचनम्) पूरा पढ़ना चाहिए ॥

व्याख्या—**दोनों (पौर्णमासी और अमावास्या) में पूरा पढ़ना चाहिए । किस हेतु से? पूरा मन्त्र ही सूक्तवाक कहाता है । वह एक पद के विना (रहित) भी सूक्तवाक नहीं होगा । उस अवस्था (=तत्तत्कर्म सम्बन्धी पदों को निकालकर पाठ करने) में [प्रस्तर] सूक्तवाक से प्रहृत (=प्रक्षिप्त) न होगा । इस कारण उभयत्र सम्पूर्ण सूक्तवाक मन्त्र को बोलना चाहिये ॥१५।**

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥

सूत्रार्थः— (वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है । कृत्स्न सूक्तवाक का पाठ नहीं करना चाहिए । (यथार्थम्) प्रयोजन के अनुकूल पदों को निकालकर प्रयोग करना चाहिये, (शेषभूतसंस्कारात्) दर्शपूर्णमास के शेषभूत=अङ्गभूत देवता के सस्कारक होने से ॥

व्याख्या—**जो पौर्णमासी के देवता के वाचक शब्द हैं, उन्हें पौर्णमासी में प्रयोग करना चाहिये, अमावास्या में प्रयोग नहीं करना चाहिए । और जो अमावास्या के देवतावाचक शब्द हैं, उन्हें अमावास्या में पढ़ना चाहिये, पौर्णमासी में नहीं बोलना चाहिये । शेषभूत (=याग के अङ्गभूत) अर्थ को संस्कृत करते हुए मन्त्र उपकारक होते हैं, अन्य प्रकार से उपकारक नहीं होते हैं, यह कह चुके हैं । इस प्रकार जो शब्द जहां उपकारक होते हैं, उन्हें वहां प्रयोग करना चाहिये । इसलिये न पौर्णमासी में कृत्स्न सूक्तवाक पढ़ना चाहिए, और न ही सम्पूर्ण अमावास्या में पढ़ना चाहिये ॥१६॥**

विवरण—यथाप्रयोजन विभाग करके सूक्तवाक का पौर्णमासी और अमावास्या में प्रयोग करने से इष्टदेवता की सस्काररूप दृष्टार्थता होती है । उभयत्र सकल पाठ करने पर अदृष्टार्थता स्वीकार करनी होगी ॥१६॥

वचनादिति चेत् ॥१७॥ (आशङ्का)

अथ यदुक्तम्—वचनमिदं भविष्यति **सूक्तवाकेन प्रहरति इति**। तत्र पदेनापि ऊनेन न सूक्तवाकेन प्रहृतं भवेत्। कृत्स्नस्य हि सूक्तवाकस्योपदेश इति ॥१७॥

तदुच्यते—

प्रकरणाविभागाद् उभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥ (आ० नि०)

उभे पौर्णमास्यमावास्ये प्रति एष कृत्स्नशब्दः। उभयोः **प्रकरणात्** उभयोरसौ कृत्स्न उच्यते, अवयवेऽवयवे इति।

नैतदेवम्। न हि सापेक्षाणाम् इतिकर्त्तव्यतया सम्बन्धः। न हि इतिकर्त्तव्यता एतद्विशिष्टा श्रूयते। इतिकर्त्तव्यताविशिष्टास्त्वेते गम्यन्ते। कुतः? न हि इतिकर्त्तव्यतां

वचनादिति चेत् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(वचनात्) **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** इस वचन से कृत्स्न सूक्तवाक का पौर्णमासी और अमावास्या में प्रयोग होगा, (इति चेत्) ऐसा माना जाये तो॥

व्याख्या—**और जो यह कहा है—यह वचन [कृत्स्न सूक्तवाक के पौर्णमासी और अमावास्या में प्रयोग का हेतु] होगा**—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति (=**सूक्तवाक से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है**)। **उस वचन के होने पर एक पद से न्यून होने पर भी सूक्तवाक से प्रस्तर प्रहृत नहीं होगा। क्योंकि कृत्स्न सूक्तवाक का ही [प्रस्तर के प्रहरण में] उपदेश किया है॥१७॥**

इस विषय में कहते हैं—

प्रकरणाविभागाद् उभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥

सूत्रार्थः—(प्रकरणाविभागात्) पौर्णमासी और अमावास्या के प्रकरण का अविभाग होने से (उभे प्रति) दोनों=पौर्णमासी और अमावास्या के प्रति मिलकर (**कृत्स्नशब्दः**) सूक्तवाक कृत्स्न शब्द होता है॥

विशेष—कुतुहल वृत्तिकार ने **प्रकरणाविभागात्** में समाहार द्वन्द्व मानकर **प्रकरणाद् अविभागाच्च** (=प्रकरण और अविभाग से) ऐसा व्याख्यान किया है। पूरा सूत्रार्थ वहीं देखें।

व्याख्या—**दोनों पौर्णमासी और अमावास्या के प्रति यह कृत्स्न शब्द कहा है। दोनों का प्रकरण होने से दोनों के अवयव-अवयव में यह कृत्स्न शब्द कहा है।**

(आक्षेप) **ऐसा नहीं है। सापेक्षों की इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध नहीं होता है। इतिकर्त्तव्यता इस(=अवयव) से विशिष्ट नहीं सुनी जाती है। इतिकर्तव्यता से विशिष्ट ये जाने जाते हैं। किस हेतु से? इतिकर्तव्यता के प्रति कर्मों का विधान नहीं होता है, फल के प्रति उन(=कर्मों) की विधि**

प्रति कर्माणि विधीयन्ते, फलं प्रति तेषां विधिः। इतिकर्त्तव्यता तु कर्मणां विधीयते। तत्र सन्निधानाविशेषात् कस्य किं विधीयते, कस्य नेति न गम्यते विशेषः। साधनत्वेन च सर्वेषां निर्देशाद्, इतिकर्त्तव्यतायाः सन्निधानाच्च, वचनाच्चास्य। प्रकरणलिङ्गस्याविशेषात्, एकैकस्य कृत्स्नं प्रकरणं निराकाङ्क्षस्य, न सहायमपेक्षमाणस्य। तस्मादेकैकं प्रति कृत्स्नः सूक्तवाक उपदिश्यते। संविभागेऽपि प्रधानानां कृत्स्न एव प्रयोक्तव्य इति। यानि यत्रानर्थकानि पदानि, तान्यपि तत्र प्रयोक्तव्यानि। अदृष्टाय भविष्यन्ति 'सूक्तवाकेन प्रहरतीति वचनात्। नास्ति वचनस्यातिभारः। गुणेन वा केनचिदभिधानं तासां देवतानां निर्वर्त्तयिष्यन्तीति।

अत्रोच्यते—नैतदेवम्। उक्तम्—'मुख्यमेव कार्य्यं मन्त्राणां, न गौणमिति'। संस्कारार्थत्वादेवोत्कर्षो न्याय्यः, न गौणमभिधानमिति। कस्तर्हि कृत्स्नसंयोगस्य समाधिरुच्यते इति? एष समाधिः—न ह्येतदेकं वाक्यं यः कृत्स्नः सूक्तवाकः, बहून्येतानि वाक्यानि।

होती है। इतिकर्तव्यता तो कर्मों की कही जाती है। ऐसी अवस्था में सन्निधान के अविशेष होने से किस का क्या विधान किया जाता है, किस का विधान नहीं किया जाता है, ऐसा नहीं जाना जाता है। साधनरूप से सब [मन्त्र के अवयवों] का निर्देश होने से, और इतिकर्त्तव्यता की सन्निधि से, और इसका वचन होने से। प्रकरणलिङ्ग के अविशेष (= समान) होने से, एक-एक निराकाङ्क्ष का कृत्स्न प्रकरण है, परस्पर साहाय्य की अपेक्षा रखनेवाले का प्रकरण नहीं है। इसलिए एक-एक [पौर्णमासी और अमावास्या] के प्रति कृत्स्न सूक्तवाक का उपदेश किया जाता है। प्रधानकर्मों के विभाग (विभक्त) होने पर भी सम्पूर्ण [सूक्तवाक] ही बोलना चाहिये। जो पद जहां अनर्थक (अनुपयुक्त) हैं, उन्हें भी वहां प्रयोग करना चाहिये। [वे अनर्थक पद] 'सूक्तवाकेन प्रहरति' वचन से अदृष्टार्थ होंगे। वचन कोई भार नहीं है। अथवा [अनर्थकपद] किसी गुण से उन देवताओं का कथन करेंगे।

विवरण—इतिकर्तव्यता—इस का अर्थ है–इस प्रकार कर्त्तव्यविशेष। तात्पर्य यह है कि प्रकृतियाग में जो-जो हविर्निर्वापादि कर्त्तव्य कर्म कहे हैं, वे इतिकर्त्तव्यता कहे जाते हैं। सापेक्ष कर्मों का इतिकर्त्तव्यता सम्बन्ध नहीं होता है। **नहि इतिकर्त्तव्यता एतद्विशिष्टा—**इतिकर्त्तव्यता अवयवविशिष्ट = अवयवों से सम्बद्ध नहीं सुनी जाती है। **फलं प्रति तेषां विधिः—**कर्मों का विधान स्वर्गादि फल के प्रति है। इतिकर्तव्यता के प्रति कर्मों का विधान नहीं है।

व्याख्या—(समाधान) ऐसा नहीं है। कह चुके हैं कि–'मन्त्रों का मुख्य [अर्थ का प्रकाशन] ही कार्य है, गौण [अर्थ का प्रकाशन] नहीं'। [सूक्तवाक के अवयवों का देवता के] संस्कारार्थ होने से ही [प्रकृत पौर्णमासी वा अमावास्या में अनुपयुक्त = अनर्थक पदों का जहां उनकी सार्थकता है वहां] उत्कर्ष ही न्याय्य है, गौण अभिधान न्याय्य नहीं है। अच्छा तो [सूक्तवाक के] कृत्स्न संयोग का समाधान क्या कहते हो? यह समाधान है—यह कृत्स्न सूक्तवाक एक वाक्य नहीं है, ये बहुत से

येषां प्रधानदेवताभिधायीनि पदानि मध्ये, साधारणानि तन्त्रपदानि पुरस्तादुच्चार्यन्ते, तथा परस्तात्। यथा—**अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महोज्यायोऽकृत, अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्** इत्येवमादीनि। तेषां पुरस्तात्तन्त्रम्, यथा—**इदं द्यावापृथिवी** इति। परस्तादपि, यथा—**अस्यामृधद्** इति। तान्येतानि सर्वाणि सूक्तवचनेन सूक्तवाकशब्दं लभन्ते। न च तेषां समुदायः कञ्चिदर्थं वदति। तस्मान्न समुदायः सूक्तवाकः। न च साक्षात् साधनम्। सूक्तवाकसामान्यस्यैकत्वात् 'सूक्तवाको वर्त्तते' इत्येकवचनं भवति। **सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति** इति तु येन केनचित् सूक्तवाकेन प्रह्रियमाणे यथाश्रुतं कृतं भवति। तस्मान्न समुदायः सूक्तवाकः। यत्तु अमावास्यादेवतावाचीनि पदानि न पौर्णमास्यां प्रयुज्यन्ते, न तत्र सूक्तवाकशब्दो बाध्यते। प्रकरणं तत्र लिङ्गेन बाधितम्। तच्च न्याय्यमेव। तस्मात् पौर्णमास्याममावास्यायां च विभज्य सूक्तवाकः प्रयोक्तव्य इति॥१८॥

इति **सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम्** ॥६॥ **सूक्तवाकन्यायः** ॥

—:०:—

वाक्य हैं। जिनके मध्य में प्रधान देवता को कहनेवाले पद हैं, साधारण तन्त्र-(=उभयार्थ प्रयोजक) पद पहले उच्चारित किये जाते है, तथा पीछे उच्चारित किये जाते हैं। जैसे—अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महोज्यायोऽकृत, अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेताम् इत्यादि [ये प्रधान देवता के अभिधायी मध्य में पठित पद हैं]। उनके आरम्भ में तन्त्रपद, जैसे–इदं द्यावापृथिवी इत्यादि। अन्त में भी [तन्त्रपद], जैसे—अस्यामृधद् इत्यादि। ये सब पद सु+उक्त वचन से सूक्तवाक शब्द को प्राप्त करते हैं। उन पदों का समुदाय किसी [एक] अर्थ को नहीं कहता है। इसलिए समुदाय सूक्तवाक नहीं है। और वह [पदसमुदाय] साक्षात् साधन भी नहीं है। सूक्तवाकसामान्य के एक होने से 'सूक्तवाको वर्तते' में एकवचन प्रयुक्त होता है। सूक्तवाकेन प्रस्तर प्रहरति यह वचन तो जिस-किसी सूक्तवाक से [अग्नि में प्रस्तर] छोड़ा जाता हुआ यथाश्रुत किया हुआ होता है। इसलिए समुदाय सूक्तवाक नहीं है। और जो अमावास्या से सम्बद्ध देवतावाची पद पौर्णमासी में प्रयुक्त नहीं होते हैं, वहां (=उस अवस्था में) सूक्तवाक शब्द बाधित नही होता है। वहां प्रकरण लिङ्ग (=शब्दसामर्थ्य) से बाधित होता है। और वह न्याय्य ही है। इसलिये पौर्णमासी और अमावास्या में विभक्त करके सूक्तवाक का प्रयोग करना चाहिये ॥१८॥

विवरण—तन्त्रपदानि–तन्त्र शब्द अनेकार्थ है। यहां इस का अर्थ 'उभयार्थप्रयोजक' जानना चाहिये (द्र०—शब्दकल्पद्रुम कोश)। **प्रकरणं तत्र लिङ्गेन बाधितम्**–अन्य याग के प्रकरण में अन्य याग से सम्बद्ध देवतापदों के प्रयोग में लिङ्ग=शब्दसामर्थ्य से बाधित होता है। वहां वे पद सम्बद्ध नहीं होते हैं ॥१८॥

—:०:—

[काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम् ॥७॥]

इह काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्[1] उदाहरणम्--**इन्द्राग्नी रोचना दिवः, प्रचर्षणिभ्यः**[2]; **इन्द्राग्नी नवतिं पुरः श्नथद् वृत्रम्**[3] इत्येवमाद्या ऋचः। अपरा अपि काम्या इष्टयः[4]—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाता वियायुः**[5]; **ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान्**[6]; **अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् रुक्कामः**[7]; **अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् सपत्नमभिद्रोक्ष्यन्**[8] इत्येवमाद्याः। तदेता याज्यानुवाक्याः प्रति सन्देहः। किं यावत् किञ्चिदैन्द्राग्नं कर्म, तत्र सर्वत्रानेन ऐन्द्राग्नेन याज्यानुवाक्यायुगलेन भवितव्यम्, उतैतस्यामेव ऐन्द्राग्न्यामिष्टौ काम्यायामिति ? एवं वैश्वानरीययोर्याज्यानुवाक्ययोः। एवं सर्वत्र।

व्याख्या—यहां काम्य याज्यानुवाक्यासंज्ञक काण्ड उदाहरण है—इन्द्राग्नी रोचना दिवः, प्रचर्षणिभ्यः; इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम् इत्यादि ऋचाएं। और अन्य भी काम्य इष्टियां हैं—ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् यस्य सजाताः वियायुः (=इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे जिस के सजात=सम्बन्धी मरते हों); ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान् (=इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे शत्रुवाला); अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् रुक्कामः (=वैश्वानर अग्नि के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे दीप्ति की कामनावाला); अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् सपत्नमभिद्रोक्ष्यन् (=वैश्वानर अग्नि के लिये द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे शत्रु से द्रोह करता हुआ) इत्यादि। इन याज्या और अनुवाक्याओं के प्रति सन्देह है। क्या जितना भी इन्द्राग्नी देवतावाला कर्म है, वहां सर्वत्र इस इन्द्राग्नीवाले याज्या और अनुवाक्या के जोड़े को प्रयुक्त होना चाहिये, अथवा इस इन्द्राग्नीदेवतावाली काम्या इष्टि में ही प्रयुक्त होना चाहिये ? इसी प्रकार वैश्वानरीय याज्या और अनुवाक्या में भी सन्देह होता है। इसी प्रकार सर्वत्र (याज्यानुवाक्या काण्ड में) जानना चाहिये।

विवरण—काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्—काम्ययाज्यानुवाक्याएं मै० संहिता काण्ड ४, प्रपा० १०-१४ में पठित हैं। 'याज्यानुवाक्या' पद में याज्या के अल्पाच् होने से पूर्व निपात होता है। कर्म में पहले अनुवाक्यासंज्ञक ऋचा पढ़ी जाती है, तत्पश्चात् याज्या। **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** यह ऐन्द्राग्न कर्म की अनुवाक्या है, और **प्रचर्षणिभ्यः** यह ऐन्द्राग्न कर्म की याज्या है (द्र०—मै०सं० ४।११।१)। इसी प्रकार **इन्द्राग्नी नवतिं पुरः** ऐन्द्राग्न कर्म की अनुवाक्या है, और **श्नथद् वृत्रम्** यह ऐन्द्राग्न कर्म की याज्या है (द्र०—मै० सं० ४।११।१)।

---

१. द्र०—मै० सं० काण्ड ४, प्रपा० १०-१४॥ २. मै० सं० ४।११।१।
३. मै० सं० ४।११।१॥ ४. द्र०—मै० सं० कां० २, प्रपा० १-४॥
५. मै० सं० २।१।१॥ ६. मै० सं० २।१।१॥ ७. अनुपलब्धमूलम्।
८. अनुपलब्धमूलम्। तु० कार्या—अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् समान्तमभिद्रोक्ष्यन्। मै० सं० २।१।२॥

किं तावत् प्राप्तम् ? यावत् किञ्चिदैन्द्राग्नं वैश्वानरीयमग्नीषोमीयं जातवेदसं च, सर्वत्रैता याज्यानुवाक्या भवेयुः। कुतः ? लिङ्गात्। ननु क्रमसमाख्याने विशेषके भविष्यतः। सत्यम्, तथापि क्रमं समाख्यां च शक्नोति लिङ्गं बाधितुमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥ (उ०)

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् तास्वेव काम्यास्वेता याज्यानुवाक्याः, इति गम्यते। य एव हि लिङ्गक्रम एषां कर्मणां, स एवासां याज्यानुवाक्यानाम्। तेन तासामेव ताः शेषभूता इति।

ननु लिङ्गं बलवत्तरम् इत्युक्तम्। सत्यमेतत्। इह तु समाख्या बलीयसी। न ह्येताः समाख्यानादृते एषां काम्यानां कर्मणां प्राप्नुवन्ति। न भिन्नदेशानां कर्मणाम्। कुतः ?

व्याख्या—क्या प्राप्त होता है ? जितना भी ऐन्द्राग्न वैश्वानरीय अग्नीषोमीय जातवेदस कर्म है, सर्वत्र ये याज्यानुवाक्याएं प्राप्त होवें। किस हेतु से ? लिङ्ग=मन्त्रगत पद के सामर्थ्य से। (आक्षेप) क्रम और समाख्यान (संज्ञा=नाम) विशेषक होंगे। (समाधान) ठीक है, तथापि क्रम और समाख्या को लिङ्ग बाध सकता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विवरण—शक्नोति लिङ्गं बाधितुम्—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् (मी० ३।३।१४) इस सूत्र के अनुसार क्रम=स्थान और समाख्या से लिङ्ग बलवान् होता है।

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गक्रमसमाख्यानात्) लिङ्ग के अनुग्रह से क्रम से और समाख्या=संज्ञा से (काम्ययुक्तम्) काम्येष्टि से संयुक्त (समाम्नानम्) मन्त्रों का पाठ है। इस कारण काम्येष्टियों की याज्यानुवाक्या में ही इन्द्राग्नी रोचना दिवः आदि मन्त्र प्रयुक्त होते हैं॥

व्याख्या—लिङ्ग क्रम और समाख्यान से उन्हीं काम्य इष्टियों में ही ये याज्या और अनुवाक्या [प्रयुक्त होती हैं], ऐसा जाना जाता है। जो ही लिङ्ग का क्रम इन [काम्य] कर्मों का है, वही इन याज्या और अनुवाक्याओं का है। इस हेतु से उन्हीं [काम्य इष्टियों] की ही वे [याज्या और अनुवाक्या] शेषभूत (=अङ्गभूत) हैं।

(आक्षेप) लिङ्ग अधिक बलवान् होता है, ऐसा कहा है। (समाधान) यह सत्य है। यहां तो समाख्या अधिक बलवती है। ये [याज्या और अनुवाक्या] समाख्या के बिना इन काम्य कर्मों को प्राप्त नहीं होती हैं। न भिन्न देशस्थ कर्मों को ही। किस हेतु से? समाख्या के बिना इन

समाख्यामन्तरेण आसाम् ऋचां याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते, कुतो भिन्नदेशानां कर्मणां याज्यानुवाक्या भविष्यन्ति इति ? या चैषां समाख्या, सा काम्यानामेव याज्यानुवाक्यात्वमाचष्टे, न सर्वेषाम् । यदि समाख्या नाऽऽद्रियते, याज्यानुवाक्यात्वमेवैषां न भवति । यदि आद्रियते, तदा काम्यानामेव । एवं हि तत् समाख्यायते —**काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्ड**मिति ।

अथ किमर्थमुभयमुपदिश्यते—'लिङ्गक्रमादिति समाख्यानादिति च' ? अस्ति तत्र पाथिकृतीयं[1] व्रातपतीयं[2] च कर्म, सामिधेनीकार्यमप्यस्ति, याज्यानुवाक्याकार्यमपि । यदि लिङ्गक्रमादित्येतावदेवोच्येत, सामिधेनीकार्येऽपि लिङ्गेन तासां विनियोगः स्यात् । अथ किमर्थं लिङ्गक्रमौ व्यपदिश्येते? सर्वा याज्यानुवाक्याकार्य एव विनियुज्येरन्, सामिधेनीषु विनियोगो न स्यात् । अथ पुनः समाख्यानाल्लिङ्गक्रमाच्च निर्वृत्ते याज्यानुवाक्याकार्ये

ऋचाओं का याज्यानुवाक्यात्व ही नहीं जाना जाता है, तो फिर भिन्नदेशस्थ कर्मों की याज्यानुवाक्या कैसे होंगी ? और जो इन [ऋचाओं] की समाख्या है, वह काम्य कर्मों के ही याज्यानुवाक्यत्व को कहती है, सब के नहीं । यदि समाख्या का आदर नहीं करते हैं, तो इन ऋचाओं का याज्यानुवाक्यात्व ही नहीं होता है । और यदि [समाख्या का] आदर किया जाता है, तब ये काम्य इष्टियों की ही होंगी । 'काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्ड'—इस प्रकार ही वह कहा जाता है ।

विवरण—समाख्यानादृते—जिस प्रकरण में ये याज्यानुवाक्या पढ़ी गई हैं, वह **काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्ड** के नाम से कहा जाता है । **याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते** – यदि इस प्रकरण का नाम 'याज्यानुवाक्याकाण्ड' न होवे, तो इन ऋचाओं का याज्यानुवाक्यात्व ही नहीं जाना जायेगा । **न सर्वेषाम्**—यदि 'काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्ड' इस समाख्या को स्वीकार किया जाता है, तो तत्तद् देवतावाले सभी कर्मों की ये याज्यानुवाक्या नहीं हो सकती हैं ।

व्याख्या—(आक्षेप) **'लिङ्गक्रम से और समाख्यान से' इन दोनों का उपदेश किसलिये किया है ?** (समाधान) **वहां** (=काम्येष्टियों में) **पथिकृत् देवता और व्रतपतिदेवतासम्बन्धी कर्म हैं, सामिधेनीकार्य भी है, और याज्यानुवाक्या का कार्य भी है । यदि 'लिङ्गक्रमात्' इतना ही कहें, तो सामिधेनीकार्य में भी लिङ्ग से उनका विनियोग होगा ।**(आक्षेप)**लिङ्ग और क्रम का कथन किसलिये किया जाता है ?** (समाधान)**[यदि केवल समाख्यान का निर्देश करें, तो] सब ऋचाएं याज्यानुवाक्या कार्य में ही विनियुक्त होवें, सामिधेनियों में विनियोग न होवे ।[दोनों के ग्रहण करने पर] समाख्यान से और लिङ्गक्रम से याज्यानुवाक्या कार्य के सिद्ध हो जाने पर सामिधेनियों में**

---

१. अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद् यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्येत । मै० सं० २।१।१०॥

२. अग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालं निर्वपेद् य आहिताग्निः सन् प्रवसति व्रत्येत् । मै० सं २।१।१०॥

सामिधेनीषु विनियोगः सिद्धो भवति। यथा—आग्निवारुण्या इष्टेः क्रमेऽतीते[1], सौमारौद्रीणामनागते[2] **मनोर्ऋचः**[3], ताः सामिधेनीषु धाय्या इत्युच्यन्ते, तथा पृथुपाजाः, तं सम्बाधः[4] इति द्वे धाय्ये कल्प्येते । तस्मादुभयं व्यपदेष्टव्यमिति ॥१९॥ इति **काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम्** ॥७॥

विनियोग सिद्ध होता है। जैसे—अग्नि-वरुणदेवतासम्बन्धी इष्टि के याज्यानुवाक्या-क्रम के समाप्त हो जाने पर, और सोमरुद्रदेवतासम्बन्धी याज्यानुवाक्याओं के आरम्भ होने से पूर्व जो मनुदृष्ट ऋचाएं पढ़ी हैं,वे सामिधेनियों में धाय्या कही जाती हैं, इसी प्रकार–पृथुपाजाः, तं सम्बाधः ये दो धाय्या कल्पित होती हैं। इसलिये दोनों (='लिङ्गक्रमात्' और 'समाख्यानात्') का कथन करना चाहिये ॥१९॥

विवरण—अस्ति तत्र पाथिकृतीयं व्रातपतीयं च कर्म—मै० सं० के काम्येष्टियों में २।१।१० में **अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेद् यस्य प्रज्ञातेष्टिरतिपद्येत** (=जिसकी प्रज्ञातेष्टि=दर्शपूर्णमासादि का अतिपात=उल्लङ्घन हो जावे, वह पथिकृत् अग्नि देवता के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे), तथा **अग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालं निर्वपेद् य आहिताग्निः सन् प्रवसति व्रत्येत्**[5] (=जो आहिताग्नि होता हुआ प्रवास करता है, [[6]व्रत के दिन में स्त्री को प्राप्त होता है=मैथुन करता है, अथवा मांस का भक्षण करता है] वह व्रतपति अग्नि देवता के लिए अष्टाकपाल-पुरोडाश का निर्वाप करे) । **सामिधेनीकार्यमप्यस्ति**—पाथिकृतीय आदि काम्य कर्मों में १७ सामिधेनियों का विधान है—**सप्तदश सामिधेनीरिष्टाऽनुब्रूयात्** (शत० १।३।५।१०) । इस पर सायणाचार्य ने लिखा है—यहां इष्टि से मित्रविन्दादि काम्येष्टियों का ग्रहण जानना चाहिए। **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या** इस अतिदेश से प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास से १५ सामिधेनियां विकृति में प्राप्त हैं। अवशिष्ट दो सामिधेनियों की और आवश्यकता होती है । **सामिधेनी-**

---

१. अग्निवारुण्या याज्यानुवाक्ये **त्वं नो अग्ने, स त्वं नो अग्ने** ऋचौ । मै० सं० ४।११।२॥

२. सौमारौद्र्या याज्यानुवाक्ये **सोमारुद्रा युवम्, सोमारुद्रा धारयेथाम्** ऋचौ । मै० सं० ४।११।२॥

३. प्रथमद्वितीय टिप्पण्योरुक्तानां याज्यानुवाक्यानां मध्ये **अग्निं वः पूर्व्यं गिरा** इत्यारभ्य **उपक्षरन्ति सिन्धवः** इत्यन्ताः पञ्च मनोर्ऋचः (ऋ० ८।३१।१४-१८) । मै० सं० ४।११।२॥

४. मै० सं० ४।११।२॥

५. मूलपाठ में '**व्रत्येत्**' में 'व्र' और 'त्ये' दोनों उदात्त हैं। हमारे पास मै० संहिता का पदपाठ नहीं है। अतः इस का पदच्छेद वा स्वरूप अस्पष्ट है।

६. यह [ ] कोष्ठ में परिवर्धित पाठ निर्वापसम्बन्धी वचन के व्याख्यान में किये गये निदश के अनुसार है।

कार्येऽपि लिङ्गेन तासां विनियोगः स्यात्—इसका भाव यह है कि यदि **समाख्यानात्** ग्रहण न करें, तो सप्तदश संख्या की पूर्ति के लिए उपादीयमान दो सामिधेनियों में भी लिङ्ग-क्रम से उन का विनियोग हो जायेगा। **अथ किमर्थं लिङ्गक्रमौ व्यपदिश्येते**—इस का भाव यह है कि याज्यानुवाक्या में विनियोग के लिये **समाख्यानात्** का ग्रहण करते हैं, और लिङ्गक्रम का ग्रहण नहीं करते, तो सारी ऋचायें जो याज्यानुवाक्याकाण्ड में पठित हैं, याज्यानुवाक्या में ही विनियुक्त होवेंगी, सामिधेनीकार्य में विनियुक्त नहीं होंगी। **अथ पुनः सामिधेनिषु विनियोगः सिद्धो भवति**—इस का भाव यह है कि समाख्या और लिङ्गक्रम से याज्यानुवाक्याकाण्ड में पठित ऋचाओं का याज्यानुवाक्याकार्य में विनियोग हो जाने पर अवशिष्ट ऋचाओं का सामिधेनीकार्य में विनियोग सिद्ध होता है। यथा **आग्निवारुण्या इष्टेः क्रमातीते**—अग्नि और वरुणदेवताक इष्टि का वर्णन काम्येष्टिप्रकरण में मै० सं० २।१।४ में किया है—**'आग्निवारुणं चरुं निर्वपेत् समान्ताभिद्रुहृचामयावी वा'**। **सौमारौद्रीणामनागते**—सोम और रुद्रदेवताक इष्टि का वर्णन मै० सं० २।१।५ में किया है—**सौमोरौद्रं घृते चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चस्कामः**। आग्निवारुणी इष्टि की अनुवाक्या और याज्या हैं **त्वं नो अग्ने** तथा **स त्वं नो अग्ने** (मै० सं० ४।११।२), तथा सौमारौद्री इष्टि की अनुवाक्या और याज्या हैं—**सोमा रुद्रा युवम्** तथा **सोमा रुद्रा धारयेथाम्** (मै० सं० ४।११।२)। इन दोनों के मध्य में **मनोऋचस्ताः सामिधेनिषु धाय्याः** वैवस्वत मनु की **अग्नि वः पूर्व्यं गिरा, मक्षू देववतो रथः; न यजमानो रिष्यसि; ....नकिष्टं कर्मणा नशत्; असदत्र सुवीर्यम्** (ऋ० ८।३१।१४–१८) ऋचाएं पढ़ी हुई हैं। **द्वे धाय्ये**—**पृथुपाजाः, तं संबाधः** (ऋ० ३।२७।५,६) ऋचाएं ये सब **धाय्या** कहाती हैं।[1] विकृतियाग में सामिधेनियों की संख्या की पूर्ति के लिये इन्हें रखा जाता है। पाणिनि ने **धाय्या** पद सामिधेनी अर्थ में **पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या माननहर्विनिवाससामिधेनिषु** (अष्टा० ३।१।१२९) में निपातन किया है। तदनुसार **डुधाञ् दानधारणयोः** (धारणपोषणयोः) से ण्यत् प्रत्यय होता है। तदनुसार जो अन्यत्र से सामिधेनियां धारण की जावें, वे धाय्या होती हैं। धाय्यापदबोधित ऋचाओं का नित्य पञ्चदश सामिधेनियों में पठ्यमान **समिद्धमानवती** (=समिध्यमान पदवाली)—**समिध्यमानोऽध्वरे**, और **समिद्धवती** (=समिद्धपदवाली)—**समिद्धोऽग्न आहुतः** के मध्य में प्रक्षेप होता है। द्र०—**समिद्धमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युः** (मी० ५।३।४)। ऐसा ही आप० श्रौत १९।१८।३ में भी कहा है ॥१६॥

विशेष—मनोऋचः—मै० सं० २।१।५ में लिखा है—**मनोऋचो भवन्ति। मनुर्वै यत्किंचावदत् तद्भेषजमेवावदत् तद् भेषजत्वाय**। लगभग ऐसा ही वचन काठक सं० ११।५; तै० सं० २।२।१० तथा ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।७ में भी मिलता है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य शङ्कर[2]

---

१. द्र०—**मनोऋचः सामिधेनीष्वनुब्रूयात** (काठक सं० ११।५); **मनोऋचः सामिधेन्यो भवन्ति** (ताण्ड्य २३।१६।६); तथा **मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यात्** (तै० सं० २।२।१०)।

२. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य २।२।१॥ ऐसा ही अन्य ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने भी लिखा है।

[आग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम् ॥८॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्रया सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्**[1] इति। तत्र सन्देहः। किं प्रकृताभिरेवँल्लिङ्गवतीभिरुपस्थातव्यम्, उत दाशतयीभ्यः एवँल्लिङ्गा आगमयितव्या: इति? किं तावत् प्राप्तम्?

अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥ (पू०)

से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती[2] पर्यन्त सभी आचार्यों ने इस मनु को स्वायंभुव मनु मानकर मनुस्मृति के प्रामाण्य में उद्धृत किया है। परन्तु यह भूल है। इस प्रकरण में जिन मानवी ऋचाओं का संकेत है, वे ऋ० ८।३१।१४–१८ तक की ऋचाएं हैं। इनका ऋषि वैवस्वत मनु है ॥१९॥

—:o:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते (**=अग्नि-देवतावाली ऋचा से आग्नीध्रसंज्ञक अग्नि का उपस्थान करे**), ऐन्द्रया सदः (**=इन्द्रदेवतावाली ऋचा से सदःस्थान का उपस्थान करे**), वैष्णव्या हविर्धानम् (**=विष्णुदेवतावाली ऋचा से हविर्धानस्थान का उपस्थान करे**)। **इन में सन्देह है। क्या प्रकृत (=अग्निष्टोम में श्रूयमाण) इन-इन लिङ्गोंवाली ऋचाओं से उपस्थान करना चाहिये, अथवा दाशतयी ऋचाओं से इस-इस लिङ्गवाली ऋचाओं की प्राप्ति करनी चाहिये? इस विषय में क्या प्राप्त होता है?**

विवरण **दाशतयीभ्यः** दशमण्डलरूपा अवयवा यस्याः सा दशतयी ऋक्संहिता, तत्र भवा ऋचः दाशतय्यः, ताभ्यो दाशतयीभ्यः='दस मण्डलरूप अवयव जिस के हैं', इस अर्थ में दश शब्द से अवयव अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (अष्टा० ५।२।४२) से तयप् प्रत्यय होता है—**दशतय**। पुनः स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्**······**तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (अष्टा० ४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होता है—**दशतयी** अर्थात् ऋग्वेद। दशतयी शब्द से पुनः भव (=होनेवाला) अर्थ में **तत्र भवः** (अष्टा० ४।३।५३) से अण् प्रत्यय होता है **दाशतय** (=दशतयी में होनेवाला) मन्त्र। दाशतय से स्त्रीलिङ्ग में पुनः पूर्वनिर्दिष्ट सूत्र (अष्टा० ४।१।१५) से ङीप् प्रत्यय होता है—**दाशतयी ऋक्**।

अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—(अधिकारे) ज्योतिष्टोम के अधिकार में=ज्योतिष्टोम क्रतु की सन्निधि में (मन्त्र-

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तु० कार्या आग्नेयर्चाग्नीध्रमभिमृशेद् वैष्णव्या हविर्धानम्···ऐन्द्रया सदः। तै० सं० ३।१।६।१ **उपतिष्ठते; व्युच्छन्त्याम् ऐन्द्रया सदः, आग्नेय्याऽऽग्नीध्रम्, वैष्णव्या हविर्धानम्**। मानव श्रौत २।३।१।१॥ २. द्र०—काशीशास्त्रार्थ (दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह) पृष्ठ २७, रा० ला० क० ट्रस्ट संस्क०।

प्रकरणे च मन्त्रो लिङ्गेन विधीयमानो दाशतयीभ्य एवागमयितव्यः। आग्नेयीत्येवमादिभिर्हि शक्या दाशतय्योऽभिवदितुम्। यश्चायं प्रकृतः स कार्यान्तरे विनियुक्तः न इहाप्युपदेशमर्हति। उपदिष्टोपदेशो हि न न्याय्यः,एवञ्जातीयकस्य। कथञ्जातीयकस्य? यः कस्मिंश्चिद्विशेषेणोपदिष्टः। नासौ सामान्येन लिङ्गेन अन्यत्रोपदेशमर्हति। कथम्? यदि तत् लिङ्गं तस्य लक्षणत्वेन, ततः स विशिष्टो लक्ष्येत—येनानेनैवँलिङ्गेनैतत् करोतीति, ततो नोपदिष्टो भवति। अथोपदिश्यते—'एवँल्लिङ्गेन करोति' इति ततो न लक्ष्यते। तेनोपदिष्टस्यैवञ्जातीयकस्यैवञ्जातीयकः पुनरुपदेशो न न्याय्यः। तस्माद् दाशतया लिङ्गवन्तो मन्त्रा ग्रहीतव्याः।

ननु प्रकरणसामर्थ्यतः प्रकृता ग्रहीतुं न्याय्याः। नेत्युच्यते। लिङ्गं हि प्रकरणाद्

विधिः) जो मन्त्र की विधि है,वह (अतदाख्येषु) अन्य प्रकरण में पठित मन्त्रों में (च) और प्रकृत =प्रकरणपठित मन्त्रों में जाननी चाहिये (शिष्टत्वात्) सामान्यरूप से शिष्ट=विहित होने से॥

व्याख्या—[ज्योतिष्टोम आदि] प्रकरण में लिङ्ग से विधीयमान मन्त्र दाशतयी=ऋग्वेद से ही प्राप्त करना चाहिये। 'आग्नेयी' इत्यादियों से ही विधीयमान दाशतयी(=ऋग्वेदस्थ) ऋचाओं को कहा जा सकता है। जो यह प्रकृत [आग्नेय] मन्त्र है,वह कार्यान्तर में विनियुक्त है। वह यहां (=आग्नीध्र के उपस्थान में) भी उपदेश के योग्य नहीं है [अर्थात् कार्यान्तर में विहित का कार्यान्तर में विधान युक्त नहीं है]। उपदिष्ट का उपदेश (=एक विषय में विहित का अन्यत्र विधान) न्याय्य नहीं है, इस प्रकार के मन्त्र का। किस प्रकारवाले मन्त्र का? जो किसी कार्य में विशेषरूप से उपदिष्ट है। वह सामान्यलिङ्ग से अन्यत्र (=उपस्थान में) उपदेश के योग्य नहीं है, [अर्थात् सामान्य लिङ्ग से उस का अन्यत्र उपदेश युक्त नहीं है]। किस हेतु से? यदि वह [आग्नेयत्व] लिङ्ग उस मन्त्र का लक्षणरूप से है, तो उस (=लिङ्ग) से वह विशेषित मन्त्र लक्षित होता है—जिससे इस लिङ्गवाले इस मन्त्र से इस कार्य को करता है, तो तब वह मन्त्र [विधायक का उपलक्षणरूप होने से कर्मविशेष में] उपदिष्ट नहीं होता है। और यदि [कर्मविशेष में] उपदेश (=विधान) किया जाता है—'इस [आग्नेय्यादि] लिङ्ग से यह करता है', तो [आग्नेयत्वादि से विशिष्ट मन्त्र] उपलक्षित नहीं होता है [अर्थात् आग्नेयमात्र का ग्रहण प्राप्त होता है]। इस कारण कर्मविशेष में उपदिष्ट इस प्रकार के मन्त्र का पुनः इस प्रकार का उपदेश न्याय्य नहीं है। इस हेतु से दशतयी(=ऋग्वेद) में वर्तमान [उस-उस] लिङ्गवाले मन्त्र ग्रहण करने योग्य हैं।

विवरण—यश्चायं प्रकृतः—प्रकृत अग्न आयाहि वीतये इत्यादि। **स कार्यान्तरे विनियुक्तः**—स्तोत्र में विनियुक्त। **अन्यत्रोपदेशमर्हति**—आग्नीध्र के उपस्थान में। **तस्य लक्षणत्वेन**—मन्त्र को लक्षित=चिह्नित करनेवाला। **दाशतया मन्त्राः**—दशतयी में होनेवाले मन्त्र।

व्याख्या—(आक्षेप) प्रकरण-सामर्थ्य से प्रकृत (=प्रकरणपठित) मन्त्र ग्रहण के योग्य हैं। [समाधान) नहीं हैं ऐसा कहते हैं। लिङ्ग प्रकरण से बलवान् है। (आक्षेप) [लिङ्ग

बलीयः। आह—विरोधे सति लिङ्गेन प्रकरणं बाध्येत। न चैतयोर्विरोधः। न वयं प्रकरणमनुजिघृक्षन्तः प्रकृतं लिङ्गवन्तमुपाददाना लिङ्गमुपबाधेमहि। यदि तु प्रकृतं विलिङ्गमुपाददेमहि,ततो बाधेमहि लिङ्गम्। उभयं सम्पादयिष्यामः प्रकरणं लिङ्गञ्च। नैतदेवम्। लिङ्गेन प्रत्ययो भवति—दाशतयेनापि कर्त्तव्यमिति। दाशतय्योऽपि हि आग्नेयीशब्देन शक्यन्ते वदितुम्। स प्रत्ययो लिङ्गजनितो यन्मिथ्येति कल्प्यते, तत् प्रकरणानुरोधात्। स चेत् प्रकरणमनुरुद्धचते, मिथ्येति कल्प्यते। अथ नानुरुद्धचते सम्यगिति। तस्माद् विरोधः। विरोधे च प्रकरणदौर्बल्यम्।

उच्यते—तल्लिङ्गवत्ताऽनेनोपस्थानेनानुग्रहीतव्या, न दाशतयी मन्त्रव्यक्तिः। सा च प्रकृते मन्त्रे उपादीयमाने निरवशेषा उपात्ता भवति। दाशतय्यां पुनर्मन्त्रव्यक्तौ उपादीयमानायां प्रकरणाद् या मन्त्रव्यक्तिः प्राप्नोति, सा बाधिता भवत्यसति विरोधे। न च इह लिङ्गप्रकरणयोर्विरोधः। प्रकरणाद् व्यक्तिः प्रतीयते, लिङ्गात् सामान्यम्। अन्या च व्यक्तिरन्यत् सामान्यम्। तस्मात् प्रकृतो लिङ्गवानुपादेय इति। उच्यते—

और प्रकरण का] विरोध होने पर लिङ्ग से प्रकरण बाधित होता है। और इन दोनों का विरोध नहीं है। हम प्रकरण के अनुग्रह की चाहना करते हुए प्रकृत (=प्रकरणगत) लिङ्गवाले मन्त्र को ग्रहण करते हुए लिङ्ग को बाधित नहीं करते हैं। यदि तो हम प्रकृत भिन्न लिङ्गवाले मन्त्र को ग्रहण करें,तब तो लिङ्ग को बाधित करेंगे। प्रकरण और लिङ्ग दोनों को सम्पादित करेंगे [अर्थात् दोनों को अनुगृहीत करेंगे]। (समाधान) यह ऐसा नहीं है। लिङ्ग से बोध होता है—दशतयीगत मन्त्र से भी [उपस्थानादि] करना चाहिये। दशतयीगत ऋचाएं भी आग्नेयी शब्द से कही जा सकती हैं। वह [आग्नेयी] लिङ्ग से उत्पन्न प्रत्यय (=दशतयीगत आग्नेयी ऋचाओं का बोध) जो 'मिथ्या है' ऐसा जाना जाता है, वह प्रकरण के अनुरोध से होता है [अर्थात् लिङ्ग से उत्पन्न 'दशतयीगत उस लिङ्गवाली सभी ऋचाएं ग्राह्य हैं' यह ज्ञान प्रकरण के अनुरोध से मिथ्या जाना जाता है]। यदि वह [लिङ्गजनित प्रत्यय =दाशतयी ऋचाओं का ग्रहणरूप प्रत्यय] प्रकरण को अनुरुद्ध (=बाधित) करता है, तो [वह प्रत्यय] मिथ्या कल्पित होता है। और यदि प्रकरण को अनुरुद्ध (=बाधित) नहीं करता है, तो वह प्रत्यय सम्यक् है,ऐसा जाना जाता है। इस कारण [यहां लिङ्ग और प्रकरण का] विरोध है। और [लिङ्ग तथा प्रकरण का] विरोध होने पर प्रकरण की दुर्बलता होती है।

(आक्षेप) इस उपस्थान से वह लिङ्गवत्ता अनुगृहीत होनी चाहिये, दशतयी में होनेवाली मन्त्र-व्यक्ति [अनुगृहीत] नहीं होनी चाहिये। और वह (=लिङ्गवत्ता) प्रकृत मन्त्र के ग्रहण करने पर पूर्णतया उपात्त (=गृहीत) होती है। दशतयीस्थ मन्त्रव्यक्ति (=मन्त्रविशेष) को ग्रहण करने पर प्रकरण से जो मन्त्र-व्यक्ति प्राप्त होती है, वह विना विरोध के बाधित होती है। और यहां लिङ्ग और प्रकरण का विरोध नहीं है। प्रकरण से व्यक्ति (=विशिष्ट मन्त्र) प्रतीत होती है, तथा लिङ्ग से सामान्य [तल्लिङ्ग मन्त्रमात्र]। व्यक्ति अन्य है, और सामान्य अन्य है। इसलिये प्रकृत उस

सत्यमेवमेतत्, प्रकृते उपादीयमाने प्रकरणं न बाधितं भवति, लिङ्गमप्यनुगृहीतम्। लिङ्गजनितस्तु प्रत्ययः कश्चिन्मिथ्येति कल्पितो भवति। ननु व्यक्तिरपदार्थः। कथं व्यक्तावनुपादीयमानायां प्रत्ययो बाध्येत? उच्यते—एतदेव न विजानीमो लिङ्गवत्ताऽत्राङ्गं न वेति। किन्तु तद्धितनिर्देशोऽयम्। तत्र देवतया मन्त्रो लक्ष्यते। मन्त्रव्यक्तिर्हि साधनं, न सामान्यं नाम किञ्चिदपरम्। देवतैवात्र सामान्यम्, यथा साधनं लक्षयितव्यम्। न च गम्यते विशेषः—अयमसौ मन्त्रो, नायमसाविति। अनवगम्यमाने विशेषे सर्वे तल्लिङ्गा ग्रहीतव्या इति। दाशतय्यामपि मन्त्रव्यक्तौ भवति प्रत्ययः। स प्रकरणानुरोधेन बाध्येत, इत्यन्याय्यम्। एवं सति न दाशतय्य एवोपादातव्या भवन्ति, प्रकृतमप्युपाददीरन्।

नन्वेतदुक्तम्—कार्य्यान्तरे प्रकृतस्योपदेशः,नासावर्थान्तरे उपदेक्ष्यत इति। उच्यते, न नियोगतः स एवार्थान्तरे वर्त्तते। स चान्यश्च सामान्येन लिङ्गेन। नैवं सति किञ्चिद् दुष्यति। नन्वेतद् दुष्यति—न उभयमनुगृहीतं भवति लिङ्गं प्रकरणञ्च। सत्यम्—नानुगृहीतं

लिङ्गवाला मन्त्र उपादेय है। [समाधान] यह सत्य है कि—प्रकृत मन्त्र के ग्रहण करने पर प्रकरण बाधित नहीं होता है, और लिङ्ग भी अनुगृहीत होता है। किन्तु लिङ्ग से उत्पन्न कोई [सामान्य-रूप] ज्ञान 'यह मिथ्या है' ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) व्यक्ति पदार्थ नहीं है। इस कारण व्यक्ति के ग्रहण न करने पर कैसे प्रत्यय बाधित होगा? (समाधान) यही हम नहीं जानते हैं कि यहां लिङ्गवत्ता (=उस लिङ्ग का होना) अङ्ग है, वा नहीं है। किन्तु [आग्नेयी] यह तद्धित-प्रत्ययान्त का निर्देश है। वहां देवता से मन्त्र लक्षित होता है। मन्त्र-व्यक्ति ही [उपस्थान में] साधन है, कोई अन्य सामान्य नामवाला पदार्थ साधन नहीं है। देवता ही यहां सामान्य है, जिस से साधन (=मन्त्र) को लक्षित करना चाहिये। और [इस अवस्था में] विशेष नहीं जाना जाता है—यह वह मन्त्र है, यह वह मन्त्र नहीं है। विशेष के ज्ञान न होने पर सभी उस लिङ्गवाले मन्त्र ग्रहण के योग्य हैं। दशतयीस्थ [तल्लिङ्ग] मन्त्र-व्यक्ति में भी बोध उत्पन्न होता है। वह [दशतयीस्थ तल्लिङ्ग मन्त्रविशेष ग्राह्य है, ऐसा] ज्ञान प्रकरण के अनुरोध से बाधित होता है, यह अन्याय्य है। ऐसा होने पर [दशतयीस्थ मन्त्र] ही उपादान के योग्य नहीं होते, प्रकृत [मन्त्र] को भी ग्रहण किये जावें।

विवरण—व्यक्तिरपदार्थः—पूर्व (१।३।३०–३५ भाग १, पृष्ठ २७२–२८४) आकृत्यधिकरण में सिद्धान्त किया है कि व्यक्ति=द्रव्य पद का अर्थ नहीं है, आकृति=जाति पद का अर्थ है। **देवतया मन्त्रो लक्ष्यते**—तद्धितप्रत्यय-विधायक अष्टा० ५।२।२२–३५ सूत्रों में **साऽस्य देवता** का सम्बन्ध है। यहां **अस्य** से हवि और मन्त्रविषय में तद्धित प्रत्यय होता है।

व्याख्या—(आक्षेप) यह जो कहा था कि कार्यान्तर में प्रकृत मन्त्र का उपदेश है, वह अर्थान्तर में उपदिष्ट नहीं होगा। (समाधान) नियमतः वह [प्रकृत मन्त्र] ही अर्थान्तर में वर्त्तमान नहीं है। वह [प्रकृत मन्त्र] और अन्य मन्त्र सामान्य [आग्नेयी आदि] लिङ्ग से अर्थान्तर में वर्त्तमान होता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं आता है। (आक्षेप) यह दोष होता है कि लिङ्ग और प्रकरण दोनों अनुगृहीत नहीं होते हैं। (समाधान) यह सत्य है कि [लिङ्ग और प्रकरण दोनों]

भवति। किन्त्वननुग्राह्यमेव प्रकरणं लिङ्गप्रत्ययविरुद्धत्वात्। अपि च, न लिङ्गं प्रकरणं वा अनुग्रहीतव्यमिति, तत्परिच्छिन्ने प्रवृत्तिर्भवति। यदवगम्यते एतत् 'फलवदिति', तत्र प्रवर्त्तते। किमतो यद्येवम्? एतदतो भवति—न लिङ्गमनुगृहीतं क्वचिदित्यपरस्मिँस्तत्परिच्छिन्ने न प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति। तस्माद्दाशतय्यो ग्रहीतव्याः, इति गम्यते ॥२०॥

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥ (उ०)

तदाख्यो ज्योतिष्टोमसमाख्यात एव ग्रहीतव्यः। कुतः? प्रकरणोपपत्तिभ्याम्। प्रकृतो हि असौ। प्रकृतप्रत्ययश्च न्याय्यः। कथम्? न ज्योतिष्टोमं प्रति मन्त्रस्य व्यापारविधानमुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव। व्यापारविशेषविधानं तूपपद्यते, अप्राप्तत्वाद्

अनुगृहीत नहीं होते हैं। किन्तु लिङ्ग प्रत्यय के विरोध से प्रकरण अनुग्रह ही योग्य नहीं है। और भी, लिङ्ग या प्रकरण अनुग्रह योग्य नहीं है, उस लिङ्ग से परिच्छिन्न (=विशेषित) में [सामान्यरूप से] प्रवृत्ति होती है। 'यह फल युक्त है' ऐसा जो जाना जाता है, वहां [लिङ्ग] प्रवृत्त होता है। यदि ऐसा है, तो इससे क्या होता है? इसमे यह होता है-कहीं लिङ्ग अनुगृहीत नही होता है, तो उस लिङ्ग से विशिष्ट अपर मन्त्र में, वृत्ति नहीं हो सकती है। इस हेतु से दशतयीस्थ ऋचाएं ग्रहण योग्य हैं, ऐसा जाना जाता है ॥२०॥

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥

सूत्रार्थः–(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् दशतयी=ऋग्वेद से आग्नेयी आदि ऋचाओं का ग्रहण नहीं करना चाहिए। (तदाख्यः) उस ज्योतिष्टोम में समाख्यात पठित मन्त्र का ही ग्रहण करना चाहिये (प्रकरणोपपत्तिभ्याम्) प्रकरण और उपपत्ति=युक्ति से ॥

विशेष—भाष्यकार आदि ने 'वा' शब्द को 'एव' (=ही) अर्थवाला माना है। हमने अन्यत्र व्याख्यात 'वा' शब्द को यहां भी पूर्वपक्ष के निरासार्थ स्वीकार किया है। उपपत्ति=युक्ति यह है कि प्रकरणपठित मन्त्र के प्राप्त होने से व्यापारविशेष=कार्यविशेष के विधान में लाघव है। प्रकरण अनधीत मन्त्र के कार्यविशेष के विधान में गौरव होता है। उस में उपस्थान का भी विधान करना पड़ता है, और वह इस लिङ्गवाले मन्त्र से करे, इस प्रकार वाक्यभेद होता है।

व्याख्या—तदाख्य=उस प्रकरण में पठित अर्थात् ज्योतिष्टोम में पठित मन्त्र ही ग्रहण करने योग्य है। किस हेतु से? प्रकरण और उपपत्ति=युक्ति से। यह [आग्नेयी आदि मन्त्र] प्रकृत (=प्रकरणाधीत) है। और प्रकृत का ज्ञान होना ही न्याय्य है। कैसे? [प्रकरणाधीत मन्त्र के] प्राप्त होने से ही ज्योतिष्टोम के प्रति मन्त्र के व्यापार (=कार्य) का विधान [सामान्यतया उपपन्न नहीं होता है। व्यापार विषेष के अप्राप्त होने से, व्यापारविशेष का विधान तो उपपन्न

व्यापारविशेषस्य । अनपेक्ष्य च प्रकरणं दाशतये विधीयमाने वाक्यं भिद्येत—उपस्थानञ्च कुर्य्यात्, तच्चैवं लिङ्गेनेति ॥२१॥

अनर्थकश्चोपदेशः स्याद् असम्बन्धात् फलवता नह्युपस्थानं फलवत् ॥२२॥(उ०)

ननु च प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्योपकारकं स्यात् । यद्युपस्थानज्योतिष्टोम-सम्बन्धो विवक्ष्येत, तदोपस्थानं ज्योतिष्टोमे उपदिश्येत, प्रकरणात् तेनैकवाक्यतामियात् । यदा तु खलूपस्थानस्य मन्त्रसम्बन्धो विवक्ष्यते, सर्वोपस्थानेषु तदा मन्त्रः प्राप्नोति प्रकरणं बाधित्वा । न प्रकरणं विशेषकं भवितुमर्हति । उभयसम्बन्धे वाक्यभेदः । अस्मत्पक्षे न पुनरयं दोषः । येनाग्नेयेनैन्द्रेण वा ज्योतिष्टोमे व्यापारः क्रियते,तेनोपस्थान-व्यापारविशेषः । तदा ज्यौतिष्टोमिको विधीयते, अन्यत् सर्वमनूद्यत इति । न दोषो भवति । अथवा आग्नीध्र-हविर्धानसदः सम्बन्धमात्रं विधीयते, 'उपतिष्ठते' इत्ययमनुवादः । अनेन मन्त्रेण आग्नीध्रमुपतिष्ठत इति समासीदति,इत्यर्थः । तस्मात् प्रकृता मन्त्रा एवञ्जातीयका उपादातव्या इति ॥२२॥

होता है । प्रकरण की अपेक्षा न करके दशतयीस्थ मन्त्र के विधान करने पर वाक्यभेद होता है—उपस्थान करे, और वह उपस्थान इस लिङ्गवाले मन्त्र से करे ॥२१॥

अनर्थकश्चोपदेशः स्याद् असम्बन्धात् फलवता नह्युपस्थानं फलवत् ॥२२॥

सूत्रार्थः—(फलवता) फलवाले ज्योतिष्टोम के साथ मन्त्र का (असम्बन्धात्) सम्बन्ध न होने से (उपदेशः) मन्त्र का उपस्थान के प्रति उपदेश=कथन (अनर्थकः) अनर्थक (च) भी (स्यात्) होवे । (उपस्थानम्) आग्नीध्र आदि का उपस्थान (फलवत्) फलवाला (नहि) नहीं है । अर्थात् उपस्थान ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने से स्वयं फलरहित है, ज्योतिष्टोम फलवाला है ॥

व्याख्या—(आक्षेप) प्रकरण से ज्योतिष्टोम का उपकारक होवे । (समाधान) यदि उपस्थान और ज्योतिष्टोम का सम्बन्ध विवक्षित होवे, तब उपस्थान ज्योतिष्टोम में उपदिष्ट होवे, और प्रकरण से उसके साथ एकवाक्यता को प्राप्त होवे । जब उपस्थान का मन्त्रसम्बन्ध विवक्षित होता है, तब प्रकरण को बाधकर सब उपस्थानों में मन्त्र प्राप्त होता है । [उस अवस्था में] प्रकरण विशेषक नहीं हो सकता है । दोनों (=ज्योतिष्टोम और उपस्थान तथा उपस्थान और मन्त्र) का सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद होता है । हमारे पक्ष में यह दोष नहीं है । जिस आग्नेय अथवा ऐन्द्र मन्त्र से ज्योतिष्टोम में कार्य किया जाता है, उस मन्त्र से उपस्थानरूप कार्य-विशेष का विधान किया है । इस अवस्था में ज्योतिष्टोम में होनेवाले उपस्थान का विधान किया है, अन्य सब अनूदित होता है । इससे [वाक्यभेदरूप] दोष नहीं होता है । अथवा [आग्नेय ऐन्द्र और वैष्णव मन्त्र के साथ] आग्नीध्र हविर्धान और सदः का सम्बन्धमात्र का विधान किया जाता है, उपतिष्ठते यह अनुवाद है । इस मन्त्र से आग्नीध्र का उपस्थान करता है [आग्नीध्र के समीप बैठता है],यह अर्थ होता है । इस हेतु से प्रकृत (=ज्योतिष्टोम में पठित) मन्त्र ही इस प्रकार के ग्रहण करने योग्य हैं ॥२२॥

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥ (उ०)

यदप्युक्तम्—'उपदिष्टा हि ते प्रकृताः कार्य्यान्तरे इति'। तदुच्यते—उक्तोत्तरमेतत्। अपि च, न केचिद् नोपदिष्टाः। सर्वे वाचस्तोमे आश्विने शस्यमाने सूर्येऽनुद्यति[1]। तेन

विवरण—भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ सरल समझ कर उस का व्याख्यान नहीं किया। सूत्र द्वारा फलरहित उपस्थान के साथ मन्त्र का सम्बन्ध करने पर **आग्नेयाऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते** रूप उपदेश के आनर्थक्य का प्रतिपादन करने पर पूर्वपक्षी कहता है—**ननु च प्रकरणे**—अर्थात् प्रकरणसामर्थ्य से ज्योतिष्टोम के उपस्थान के मन्त्र का उपदेश उपकारक होगा। सिद्धान्ती इस का खण्डन करता है—**यद्युपस्थानज्योतिष्टोमसम्बन्धः** आदि से। इस प्रकार यहां सूत्र तथा भाष्य की परस्पर संगति जाननी चाहिये। **अन्यत् सर्वमनूद्यते**—ज्योतिष्टोम प्रकरणस्थ उपस्थान का विधान करने पर प्रकरणप्राप्त आग्नेय आग्नीध्र आदि का अनुवाद है, अर्थात् आग्नीध्र आदि का अनुवाद करके प्रकरणप्राप्त आग्नेयादि मन्त्र से उपस्थान करता है। **अथवाऽऽग्नीध्रहविर्धानसदःसम्बन्धमात्रं विधीयते**—इस का भाव यह है कि कर्माङ्गभूत आग्नीध्र आदि और करणभूत मन्त्रों के सम्बन्ध का विधान करने पर उपस्थान भी अनूदित होता है, अर्थात् उपस्थान का अनुवाद करके आग्नीध्र आदि के साथ मन्त्र के सम्बन्ध का विधान किया जाता है। इस पक्ष में केवल उपस्थान का अनुवाद होने से लाघव है (द्र०—तन्त्रवार्त्तिक) ॥२२॥

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

सूत्रार्थः—'कार्यान्तर में उपदिष्ट मन्त्र का कार्यान्तर में उपदेश युक्त नहीं है' यह कहना ठीक नहीं है। (च) 'च' हेत्वर्थ में, यतः (सर्वेषाम्) सब मन्त्रों का [वाचस्तोमसंज्ञक कर्म में] (उपदिष्टत्वात्) उपदेश होने से।

इस का आशय यह है कि सब मन्त्रों का वाचस्तोम में उपदेश होने से किसी भी मन्त्र का अन्य कार्यान्तर में विनियोग नहीं होगा। कार्यान्तर में विनियोग देखा जाता है, अतः 'कार्यान्तर में उपदिष्ट मन्त्र का कार्यान्तर में उपदेश अन्याय्य है' वह कहना युक्त नहीं है॥

व्याख्या—और जो यह कहा है कि—'वे [आग्नेय आदि] प्रकृत मन्त्र तो कार्यान्तर में उपदिष्ट हैं'। इस विषय में कहते हैं—कि इसका उत्तर दे चुके हैं। और भी, कोई मन्त्र कार्यान्तर में उपदिष्ट नहीं है, ऐसा नहीं है। सब मन्त्र आश्विन शस्त्र के पढ़ने पर सूर्य के उदय न होने पर वाचस्तोम

१. तु० कार्या—त्रयो वाचस्तोमाः···। तस्मिन् सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि सर्वाणि यजूंषि प्रयुज्यन्ते। आप० श्रौत २२।१।३॥ यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाविर्भवति···सर्वा अपि दाशतयीरनुब्रूयात्॥ आप० श्रौत १४।२४।१-२॥ एतस्मिन् विषये मीमांसाभाष्यम् २।१।२३, तत्रस्था टिप्पणी (४,६) च द्रष्टव्या।

न प्रकृते कश्चिद्विशेषः। तस्मात् प्रकृतस्यैव ग्रहणम् ॥२३॥ युवितः ॥ इत्याग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम् ॥८॥

—:०:—

[भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम् ॥९॥]

भक्षमन्त्रः श्रूयते—भक्षेहि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय। एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा बाहुभ्याम् सध्यासम्। नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम् ॥ हिन्व मे गात्रा हरिवोगणान् मे मा वितीतृषः।

कर्म में उपदिष्ट हैं। इस कारण प्रकृत में कोई विशेष नहीं है [अर्थात् जैसे वाचस्तोम में उपदिष्ट मन्त्र कार्यान्तर में विनियुक्त होते हैं, ऐसे ही यहां ज्योतिष्टोम में विहित आग्नेय आदि मन्त्र कार्यान्तर उपस्थान में विनियुक्त हो जायेंगे]। इस कारण प्रकृत आग्नेय आदि मन्त्र का ही [उपस्थान में] ग्रहण होता है ॥२३॥

विवरण—उक्तोत्तरमेतत्—इस वाक्य से स्मारित उत्तर पूर्व **तदाख्यो वा** (मी० ३।२।२१) सिद्धान्तसूत्र में **न ज्योतिष्टोमं प्रति मन्त्रस्य व्यापारविधानम्** आदि से दे चुके हैं। **सर्वे वाचस्तोमे …सूर्येऽनुद्यति**—इस का संकेत 'वाचस्तोम कर्म में, तथा आश्विन शस्त्र के पढ़े जाने पर, सूर्य के उदय न होने पर सब मन्त्रों का उपदेश किया है' की ओर है। द्रष्टव्य—**त्रयो वाचस्तोमाः…… तस्मिन् सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि सर्वाणि यजूंषि प्रयुज्यन्ते** (आप० श्रौत २२।५।१-३); तथा **यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाविर्भवति…सर्वा अपि दाशतयीरनुब्रूयात्** (आप० श्रौत १४।२४।१-२)। विशेष द्रष्टव्य—मी० २।१।२३ सूत्र का भाष्य, व्याख्या तथा टिप्पणी (भाग २ पृष्ठ ३९९-४००) ॥२३॥

—:०:—

व्याख्या—[ज्योतिष्टोम में सोमरूप हवि के] भक्षण का मन्त्र सुना जाता है—भक्षेहि माऽऽविश……अवख्येषम् (=हे भक्षणयोग्य सोमरस! तू दीर्घ आयुष्य के लिये, शरीर के कल्याण के लिये, धन की पुष्टि के लिये, वर्चः के लिये, उत्तम सन्तान के लिये मुझ में प्रविष्ट हो। हे वसो=निवास के हेतु! तू हमें निवास के लिये प्राप्त हो। हे पुरुवसो! वास करानेहारे धनादि में अत्यधिक वास करानेहारे! तू मेरे हृदय का प्रिय है। हे भक्ष! अश्विदेवों के बाहुओं से तुझे ग्रहण करता हूं। हे देव सोम! मनुष्यों को देखनेहारे तुम्हें उत्तम आंखोंवाला, अथवा अच्छा देखनेहारा मैं देखता हूं ॥ हिन्व मे गात्रा…नाभिमतिगाः—हे हरिव=हरितवर्ण सोम! मेरे अङ्गों को तृप्त करो। मेरे गणों=पुत्रादिसमूहों को सोमपान में तृष्णारहित मत करो, अर्थात् उन्हें सदा सोमपान की इच्छावाला करो। और तुम कल्याणकारी होकर सप्तर्षि=दो आंख-दो कान-

शिवो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः ॥ मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु ॥ वसुमद्गणस्य रुद्रवद्गणस्य आदित्यवद्गणस्य सोम देव ते मतिविदः प्रातःसवनस्य माध्यन्दिनस्य सवनस्य तृतीयसवनस्य गायत्रच्छन्दसस्त्रिष्टुप्छन्दसो जगच्छन्दसोऽग्निष्टुत इन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि'[1] इत्येवमादिः।

तत्र सन्देहः। किं कृत्स्न एषोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः, उत कश्चिदस्यावयवोऽन्यत्रापीति ? किं प्राप्तम् ?

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥(पू०)

दो नासिका और मुखरूप स्थानों में वर्त्तमान प्राणों को प्राप्त होओ=तृप्त करो। मेरी नाभि के नीचे मत जाओ=अधोद्वार से मत निकलो॥ मन्द्राभिभूति सोमस्य तृप्यतु—हर्ष की हेतु, विघ्नों को अभिभूत करनेहारी यज्ञों का हेतु=कारणभूत वाक् सोम का सवन करती हुई तृप्त होवे॥ वसुमद्गणस्य······भक्षयामि—हे सोम देव! तुम्हारे वसमद्गण=आठ संख्यावाले समूह के, रुद्रवद्गण=ग्यारह संख्यावाले समूह के, आदित्यवद्गण=बारह संख्यावाले समूह के, यजमानों की मतियों को जाननेहारे के, प्रातःसवन के, माध्यन्दिन सवन के, तृतीय सवन के गायत्री छन्दवाले त्रिष्टुप् छन्दवाले, जगती छन्दवाले, इन्द्र से पीये गये सोम के, नराशंस से पीये गये सोम के, पितरों से पीये गये सोम के, मधुर रसवाले के बुलाये गये सोम के भाग को मैं बुलाया गया भक्षण करता हूं, इत्यादि।

विवरण—भक्षेहि माऽऽविश···भक्षयामि—ये तै० सं० काण्ड ३ प्रपा० २ के ५वें भक्षानुवाक के कुछ भाग हैं। इन में भी कुछ भाग आगे-पीछे पढ़े हैं। तथा अन्तिम **वसुमद्गणस्य रुद्रवद्गणस्य···भक्षयामि** भाग संहिता में तीन भागों में विभक्त पृथक्-पृथक् पूर्णरूप से पढ़े गये अंशों का संक्षेप है।

व्याख्या—इस भक्षमन्त्र के प्रति सन्देह है। क्या यह सारा अनुवाक [सोम क] भक्षण में विनियोग करने योग्य है, अथवा इसका कुछ अवयव अन्यत्र भी विनियोग के योग्य है? क्या प्राप्त होता है?

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥

सूत्रार्थः - (लिङ्गसमाख्यानाभ्याम्) **'भक्षयामि'** लिङ्ग से तथा **भक्षानुवाकरूप** संज्ञा से

---

१. अयं भक्षानुवाकस्तैत्तिरीयसंहितायास्तृतीयकाण्डस्य द्वितीयप्रपाठकस्य पञ्चमानुवाको वर्त्तते। अत्रानुवाकस्य केचन भागा एव पठिताः। ते अपि पौर्वापर्यभेदेन। वसुवद्गणस्य रुद्रवद्गणस्य···**भक्षयामि** इति तु पृथक्त्वेन पठितास्त्रयाणां भागानां संक्षेपरूपेणेह निर्देशः।

सर्वोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः। कुतः ? भक्षयामीत्येष शब्दो व्यक्तं भक्षणे विनियोजनीयः। भक्षणमेष शक्नोति वदितुं, नान्यत् किञ्चित्। अन्यानि चास्य पदानि भक्षणविशेषणवचनान्येव। यत्र यत्र भक्षयामीति, तत्र तत्र प्रयुज्यन्ते। ननुएहि वसो इत्येवमादि, सध्यासमित्येवमन्तं ग्रहणार्थम्। स्वेन पदसमूहेन परस्पराकाङ्क्षिणैकार्थम् विभिन्नं भक्षणवाक्यात्। नृचक्षसमित्येवमादि अवख्येषमित्येवमन्तमवेक्षणवचनम्। हिन्व मे गात्रा हरिव इत्येमादि च, मा मेऽवाङ्नाभिमतिगा इत्येवमन्तं सम्यगजरणार्थम्। तद् बहुत्वादर्थानां बहूनि वाक्यानि। कथमेतच्छक्यं वदितुम्—सर्वमिदमेकं वाक्यं भक्षणे विनियुज्यते इति ? उच्यते—सर्वाण्येतानि भक्षणविशेषणानीत्युक्तम्। आह, एवमपि भिद्येत वाक्यम्, विशेषणविशेष्याणां युगपद्वचनासम्भवात्। उच्यतेन—विशेषणानि विवक्ष्यामः, विशेषणैर्ग्रहणावेक्षणादिभिर्विशिष्ट एकोऽर्थो विवक्ष्यते। नैवं सम्यग भवति। विशेषणवचनानामविवक्षितस्वार्थवचनता, भक्षणविशेषणपरता चेति। लक्षणया तु गम्यते। श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। तस्मान्नैकं वाक्यमिति।

(अनुवाकस्य) भक्षेहि माऽऽविश अनुवाक की (भक्षार्थता) भक्षार्थता है, अर्थात् इस संपूर्ण अनुवाक को सोमरूप हवि के भक्षण में विनियोग करना चाहिये ॥

व्याख्या—सारे अनुवाक का भक्षण में विनियोग करना चाहिये। किस हेतु से? 'भक्षयामि' यह शब्द स्पष्टरूप से भक्षण में विनियोग करने योग्य है। क्योंकि यह भक्षण को ही कह सकता है, अन्य किसी को नहीं कह सकता। और इस अनुवाक के अन्य पद भक्षण-विशेष को कहनेहारे ही हैं। जहां-जहां भक्षयामि ऐसा कहा जाता है,वहां-वहां प्रयुक्त होते हैं। (आक्षेप) 'एहि वसो से लेकर 'सध्यासम्' तक का भाग [सोम के] ग्रहण के लिये होवे। क्योंकि अपने परस्पर आकाङ्क्षा रखनेहारे पदों के समूह से एकार्थक हैं, भक्षणवाक्य से भिन्न वाक्य हैं। 'नृचक्षसम्' से लेकर 'अवख्येषम्' तक का भाग [सोमरस के] अवेक्षण=दर्शन को कहनेवाला है। 'हिन्व मे गात्रा हरिवः' से लेकर 'मा मेऽवाङ् नाभिमतिगाः' तक का भाग [सोमरस के] अच्छे प्रकार पाचन को कहने के लिये है। इस प्रकार [ग्रहण दर्शन पाचन आदि] बहुत अर्थों को कहनेवाले बहुत से वाक्य हैं। 'यह सारा अनुवाक भक्षण में विनियोग के लिये है' ऐसा कैसे कह सकते हैं ? (समाधान) 'ये [सध्यासम् अवख्येषम अतिगाः] सब भक्षण के विशेषण हैं' यह कह चुके हैं। (आक्षेप) इस प्रकार भी वाक्य का भेद होता है, विशेषण और विशेष्यों का एक साथ कथन सम्भव न होने से। (समाधान) हम विशेषणों की विवक्षा नहीं करेंगे, ग्रहण अवेक्षण (=दर्शन) आदि रूप विशेषणों से विशिष्ट एक अर्थ यह विवक्षित है। (आक्षेप) ऐसा कथन युक्त नहीं होता है। [उक्त प्रकार मानने पर] विशेषणवचनों की स्वार्थवचनता की अविवक्षा होती है, और वे भक्षण के विशेषणपरक होते हैं। [यह] लक्षणा से जाना जाता है। श्रुति और लक्षणा के विषय में श्रुति का ग्रहण न्याय्य है, लक्षणा न्याय्य नहीं है। इस कारण एक वाक्य नहीं है। (समाधान) इस विषय में

अत्रोच्यते—यद्यप्यमी ग्रहणादयो बहवोऽर्था गम्यन्ते, न तु सर्वे ईप्सिताः। इति भक्षणमेवैकं प्रत्याययितव्यम्। तद्धि श्रुतम्, विशेषणान्यश्रुतानि। न तैः प्रतीतैः प्रयोजनम्। प्रयोजनं च यावतः पदसमूहस्यैकं, तावदेकं वाक्यम्। तस्माद् विशिष्टभक्षणार्थमेतदेकं वाक्यम्। इति भक्षणे विनियोक्तव्यम्।

समाख्यानं च भवति—भक्षाऽनुवाक इति। कृत्स्नश्चाऽनुवाको, नावयवः। ननु च समाख्या लौकिकः शब्दः, कथं वैदिकमङ्गं नियंस्यतीति? यद्यपि लौकिकः, तथाप्यनादिस्तस्यानुवाकेन सम्बन्धः। किमतो यद्येवम्? एतदतो भवति—भक्षणसमभिव्याहृतमनुवाकं ब्रूते। समभिव्याहारश्च सति सम्बन्धे भवति। यथा—पाचको लावक इति। समभिव्याहारात् सम्बन्धमनुमास्यामहे। आह, नानुमानगम्य एवञ्जातीयकेष्वङ्गभावो, विधानादेवावगम्यते, नान्यथा। न च समाख्या विधात्री। अत्रोच्यते—समाख्या सम्बन्धिनौ बुद्धौ सन्निधिमुपनेष्यति, प्रयोगवचनो विधास्यतीति। तस्मात् कृत्स्नोऽनुवाको भक्षणे विनियोक्तव्य इति ॥२४॥

कहते हैं—यद्यपि ये ग्रहण आदि बहुत से अर्थ जाने जाते हैं, परन्तु वे सब ईप्सित (=चाहे हुए) नहीं हैं। इसलिये एक भक्षण का ही बोध कराना युक्त है। क्योंकि वह श्रुत (=श्रुति से जाना गया) है, विशेषण श्रुत (=श्रुति से जाने गये) नहीं हैं। और उन प्रतीत हुए विशेषणों से कोई प्रयोजन भी नहीं है। जितने पदसमूह का एक प्रयोजन होता है, उतना एक वाक्य होता है। इसलिए विशिष्ट भक्षण के लिए यह एक वाक्य है। अतः इसे भक्षण में विनियुक्त करना चाहिये।

और [इस अनुवाक की समाख्या (=संज्ञा) भी—'भक्षाऽनुवाक' है। सारा पाठ अनुवाक कहाता है, अवयव नहीं [अर्थात् अनुवाक नाम पूरे पाठ का है, उसके अवयवों का नहीं है]। (आक्षेप) समाख्या [रूप अनुवाक] शब्द लौकिक है, वह वैदिक [कर्मरूप] अङ्ग का कैसे नियमन करेगी? (समाधान) यद्यपि [अनुवाक समाख्यारूप शब्द] लौकिक है, फिर भी उस का अनुवाक (=अनुवाकगत पाठ) के साथ अनादि सम्बन्ध है। यदि ऐसा है, तो इस से क्या होता है? इस से यह होता है—['भक्षाऽनुवाकः' शब्द] भक्षणक्रिया के साथ उच्चारित अनुवाक को कहता है। और समभिव्याहार (=शब्द का प्रयोग) सम्बन्ध होने पर ही होता है। जैसे—पाचक लावक [शब्द का प्रयोग पचन और लवनक्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर ही उस क्रिया के कर्त्ता को कहता है]। इस कारण समभिव्याहार (='भक्षाऽनुवाकः' शब्द के व्यवहार) से [भक्षणक्रिया और अनुवाक के] सम्बन्ध का अनुमान करेंगे। (आक्षेप) इस प्रकार का अङ्गभाव अनुमान से जानने योग्य नहीं है, [ऐसा अङ्गभाव तो] विधान से ही जाना जाता है, अन्य प्रकार से नहीं जाना जाता है। और समाख्या विधायिका नहीं होती है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—समाख्या सम्बन्धियों को [जिन का अङ्गाङ्गी भाव है, उनको] बुद्धि में समीपता को प्राप्त करायेगी, और प्रयोगवचन (='अनेन भक्षणं कर्त्तव्यम्' इस रूप का वचन) भक्षण का विधान करेगा। इस हेतु से सम्पूर्ण अनुवाक को भक्षण में विनियोग करना चाहिये ॥२४॥

विवरण—भक्षाऽनुवाकः—भक्षस्य अनुवाकः=भक्षानुवाकः । यहां षष्ठीतत्पुरुष समास जानना चाहिये । **समाख्या लौकिकः शब्दः**—समाख्या=संज्ञा शब्द लौकिक होते है,लौकिक जनों से नियत होते हैं । जैसे-वृद्धिरादैच्; अदेङ् गुणः (अष्टा० १।१।१-२) सूत्रों से पाणिनि ने क्रमशः आ ऐ औ अक्षरों की वृद्धि संज्ञा; और अ ए ओ वर्णों की गुण संज्ञा कही है । [न केवल अनुवाक सूक्त आदि संज्ञाएं ही, अपितु वैदिक ग्रन्थों में प्रयुज्यमान काण्ड प्रपाठक अष्टक अध्याय मण्डल अनुवाक वर्ग आदि विभाग भी ऋषिमुनियों द्वारा किये हुए हैं । ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कट माधव ने ऋग्वेद ५।५ के आरम्भ में लिखा है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उद्ग्रहार्थं प्रदेशानाम् इति मन्यामहे वयम् ॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवति निश्चयः ।

अर्थात्—प्रदेशों (=एकदेशों) के उद्ग्रहण (=उद्धरण देना, अध्ययन वा स्मरण) के लिये अष्टक अध्याय आदि विभाग किये हैं । और वर्गों का विच्छेद भी आर्ष ही है, ऐसा निश्चय है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रश्नोत्तर-विषय' में लिखा है—

'अष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति—यथा सुगमतया पठन-पाठनं, मन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेत् । एतदर्थमेतद् विधानं कृतमस्ति ।' ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३९६ (रा० ला० क० ट्रस्ट प्रेस मुद्रित) ।

अर्थात्—वेदों में अष्टक आदि का विधान इसलिये किया है, जिससे पठन-पाठन, मन्त्र-गणना और हर-एक विद्या के प्रकरण का बोध होवे ।

भाष्यकार और भट्ट कुमारिल ने मध्यकालिक मीमांसा मत के अनुसार इन अनुवाकादि संज्ञाओं को, तथा इनका वैदिकग्रन्थों के अवयवों के साथ सम्बन्ध को भी नित्य माना है । यह आर्ष-परम्परा के अनुसार ठीक नहीं है । आर्ष-परम्परा के अनुसार वैदिक शब्दों, उनके अर्थों तथा उनके सम्बन्धों को नित्य माना है। लौकिक शब्दों को अनित्य कहा है । सूत्रकार भगवान् जैमिनि ने शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध की नित्यता का प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में जो प्रतिपादन किया है, वह भी वैदिक पद-पदार्थ और उनके सम्बन्धों तक ही सीमित है । मध्यकालीन मीमांसक वर्णमात्र को नित्य मानते हुए पद की नित्यता मानते हैं । ऐसी अवस्था में सभी भाषाओं के वर्णात्मक होने से उनके पद-पदार्थ तथा पारस्परिक सम्बन्ध को भी नित्य मानना पड़ेगा, जो कि शिष्टजनों को अभिप्रेत नहीं है । नैयायिकों ने शब्द को ध्वन्यात्मक मानकर सभी शब्दों और शब्दार्थ-सम्बन्धों को अनित्य तथा कृतक=सांकेतित माना है । ऐसा मानते हुए भी उन्होंने वैदिक शब्दों के अर्थ-सम्बन्ध को **ईश्वर-संकेतित** स्वीकार करके प्रकारान्तर से नित्य माना है । वैयाकरणों में इस विषय में

दो मत हैं। एक—शब्द और शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है, और दूसरा—अनित्य। महाभाष्यकार ने **ऋलृक्** (प्रत्याहारसूत्र २) सूत्र के भाष्य में जातिशब्द (यथा—वृक्ष पशु मनुष्य आदि, गुणशब्द (यथा—उष्ण शीत काला-पीला आदि), क्रियाशब्द (यथा—कारक पाचक गच्छति भवति आदि), और यदृच्छाशब्द (=स्वेच्छा से प्रयुक्त शब्द) के रूप में चार विभागों में विभक्त करके, अन्त में **न सन्ति यदृच्छाशब्दाः** (=यदृच्छा शब्द नहीं हैं) कहकर जातिशब्द गुणशब्द और क्रियाशब्दों को ही वास्तविकरूप में नित्य मानकर यदृच्छाशब्दों को अनित्य स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में उन्हें संस्कृतभाषा के क्षेत्र से बहिर्भूत माना है। यदृच्छाशब्द रूढशब्द होते हैं। उन में धात्वर्थ अनुगम नहीं होता। वहां अर्थविशेष में संकेत का प्राधान्य होता है। अपभ्रंश भाषाओं के शब्दों को यदृच्छाशब्दों के अन्तर्गत मानना चाहिये। मीमांसा के लोकवेदाधिकरण (मी० १।३। अ० १०, सूत्र ३०) में जातिशब्द गुणशब्द और क्रियाशब्दों के सम्बन्ध में ही विचार किया है। यदृच्छारूप रूढशब्दों के सम्बन्ध में उक्त अधिकरण का न्याय नहीं लगता है। अनेक विद्वान् मीमांसा के इस तत्त्व को न समझकर लोक में रूढ-रूप से प्रयुक्त शब्दों के सदृश वेद में शब्द को उपलब्ध करके उनमें भी लोकवेदाधिकरण न्याय की प्रवृत्ति करके अनित्य इतिहास की जो कल्पना करते है, वह शास्त्र-विरुद्ध है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शब्द अर्थ और सम्बन्ध के विषय में भारतीय वाङ्मय में आपाततः प्रतीयमान मत-द्वैविध्य का समाधान बड़े सुन्दर रूप में किया है। वे ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के **'वेदानां नित्यत्वविचारः'** प्रकरण में लिखते हैं—

'शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्था शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते, ते तु कार्याश्च। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं न घटते।' ऋग्वेदभाष्य भाग १, पृष्ठ ३३ (रा० ला० क० ट्रस्ट प्रेस संस्क०)।

अर्थात्—नित्य और अनित्य भेद से शब्द दो प्रकार का है। जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में हैं, वे नित्य होने योग्य हैं, और जो हमारे शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे अनित्य हैं। किस हेतु से? जिस का ज्ञान और किया नित्य स्वभावसिद्ध अनादि हैं, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य होने योग्य है। वेद के उसी परमात्मा की विद्यारूप होने से वेदों का अनित्यत्व सहीं घटता है।

हमारे विचार में स्वामी दयानन्द के इस विचार के पीछे दार्शनिकों के शब्द तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक दो प्रकार की विचारधारा के समन्वय की भावना है, वहां इसे मूर्त रूप देने में महाभाष्यकार का जातिशब्द गुणशब्द और क्रियाशब्दों को स्वीकार करके यदृच्छाशब्दों का बहिष्करणरूप मत विशेष हेतु है ॥२४॥

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् ॥२५॥ (उ०)

नैतदेवम्—'कृत्स्नोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते' इति। रूपाद् ग्रहणवाक्यं ग्रहणे विनियुज्येत—एहि इत्येवमादि सध्यासमित्येवमन्तम्। नृचक्षसमित्येवमादि च, अवख्येषमित्येवमन्तं दर्शने। कुतः? मुख्यार्थमेवं तद्वाक्यं भवति, इतरथा लक्षणार्थता स्यात्। मुख्यार्थता च न्याय्या, न लक्ष्यार्थता। उच्यते—विशेषणानामभिधाने, न किञ्चिदस्ति प्रयोजनमित्युक्तम्। अत्रोच्यते—नैवैतानि विशेषणानि। पृथगेवैतानि ग्रहणादीनि स्वैः स्वैर्वाक्यैरुच्यन्ते इति। कुतः? अस्ति हि तैः प्रयोजनम्, चोदितानि हि तानि। कानिचित् पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थप्राप्तानि। तान्यवश्यं प्रकाशयितव्यानि। तानि प्रकाशयिष्यन्त्येतानि वाक्यानि। रूपं चैषां तत्प्रकाशनसामर्थ्यम्। अतो नानार्थत्वान्नैकं वाक्यमुच्यते। ननु भक्षणवाक्यशेषीभवितुमप्येषां रूपमिति। उच्यते—बाढमस्ति रूपम्, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्प्यन्ते। कस्य हेतोः? अदृष्टार्थानि तथा भवन्ति। उक्तैरनु-

---

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्॥२५॥

सूत्रार्थः—(तस्य) उस भक्षाऽनुवाक का (रूपोपदेशाभ्याम्) ग्रहण आदि अर्थों के रूप=प्रकाशनसामर्थ्य और उपदेश=विशेष कथन से (अपकर्षः) पार्थक्य होवे=विभाग करके ग्रहण आदि में विनियोग होवे। (अर्थस्य) ग्रहण आदि अर्थ के (चोदितत्वात्) विधान करने से॥

व्याख्या—'सम्पूर्ण अनुवाक भक्षण में विनियुक्त है', ऐसा नहीं है। एहि से लेकर सध्यासम तक का भाग वाक्य के रूप (=अर्थ के प्रकाशनसामर्थ्य) से ग्रहण का वाक्य ग्रहण में विनियुक्त होता है। और नृचक्षम् से लेकर अवख्येषम् पर्यन्त भाग दर्शन में। किस हेतु से? इस प्रकार वह वाक्य मुख्यार्थ (=मुख्य अर्थ को कहनेवाला) होता है, अन्यथा लाक्षणिक अर्थवाला होवे। मुख्यार्थता ही न्याय्य है, लक्षणार्थता न्याय्य नहीं है। (आक्षेप) [भक्षण के ग्रहण दर्शन आदि] विशेषणों के कथन में कुछ प्रयोजन नहीं है, यह कह चुके हैं। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—ये विशेषण नहीं हैं। ये पृथक् ही ग्रहण आदि अर्थ अपने-अपने वाक्यों से कहे जाते हैं। किस हेतु से? उन ग्रहण आदि अर्थ से प्रयोजन है, और वे कहे भी गये हैं। कुछ अर्थ पृथक् वाक्यों से कहे गये हैं, और कुछ अर्थ (=प्रयोजन) से प्राप्त हैं। उन ग्रहण आदि अर्थों का अवश्य प्रकाशन करना चाहिये। उन प्रकाशनयोग्य अर्थों को ये वाक्य प्रकाशित करेंगे। और इन वाक्यों का रूप उन अर्थों के कहने का सामर्थ्यवाला है। इस कारण नाना अर्थवाले होने से यह एकवाक्य नहीं कहे जाते हैं। (आक्षेप) इन वाक्यों का रूप=सामर्थ्य भक्षणवाक्य के अङ्ग बनने का भी है। (समाधान) हां सामर्थ्य है, किन्तु उस (=भक्षण) के ये विशेषण नहीं हो सकते हैं। किस हेतु से? वैसा होने पर ये वाक्य अदृष्ट प्रयोजनवाले होते हैं। और उक्त अथवा अनुक्त विशेषणों

क्ष्वेर्वा विशेषणैस्तावानेव सोऽर्थः। इतरथा ग्रहणादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि भविष्यन्ति। तस्माद् रूपोपदेशाभ्यामपकर्षो भवेत् केषाञ्चिदत्र इति ॥२५॥ **इति भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम् ॥९॥**

—:०:—

मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधिकरणम् ॥१०॥

भक्षाऽनुवाके श्रूयते—**मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु। वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निष्टुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि** इति[1]। तत्र सन्देह—किं मन्द्रादि तृप्यत्वित्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्द्रादिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्र इति? किं तावत् प्राप्तम्? **द्वौ मन्त्रौ,** द्वौ ह्येतावर्थौ। अन्या तृप्तिरन्यद् भक्षणम्। ततोऽर्थभेदाद् वाक्यभेदः। तदुक्तम्—**तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वाद्**[2] इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

से वह अर्थ उतना ही होता है। इतरथा (=अन्य प्रकार से सिद्धान्तपक्ष में) ग्रहण आदि अर्थों को कहेंगे, उस प्रकार दृष्ट अर्थवाले होवेंगे। इस कारण रूप और उपदेश से यहां किन्हीं का अपकर्ष (=भक्षण से पार्थक्य) होवे ॥२५॥

विवरण—**कानिचित्तु पृथक्वाक्यैः**—ग्रहण और दर्शनरूप कर्म का उपदेश श्रौतसूत्रों में किया है। यथा—**अश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम् इति प्रतिगृह्य नृचक्षसं त्वा देवसोमेत्यवेक्ष्य** (आप० श्रौत १२।२४।७)। **कानिचिदर्थप्राप्तानि**—'हिन्व मे गात्रा······नाभिमतिगाः' भाग 'मेरे गात्रों को तृप्त कर······नाभि से नीचे मत जा' इस अर्थ के निर्देश से ही सोम के सम्यक् जरण=पचन में विनियोग प्राप्त होता है ॥२५॥

—:०:—

व्याख्या—भक्षाऽनुवाक में सुना जाता है—मन्द्राभिभूति······वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु। वसुमद्गणस्य······भक्षयामि। इस में सन्देह है—क्या मन्द्र से लेकर तृप्यतुपर्यन्त एक मन्त्र है, और वसुमद्गणस्य से लेकर [भक्षयामिपर्यन्त] दूसरा मन्त्र है, अथवा मन्द्र से लेकर भक्षयामि पर्यन्त एक ही मन्त्र है? क्या प्राप्त होता? ये दो मन्त्र हैं, दो ही ये अर्थ हैं। तृप्ति अर्थ अन्य है, और भक्षण अन्य। इस कारण अर्थ का भेद होने से वाक्यभेद है। यह कह चुके हैं—तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् (मी० ३।२।२५)=उस भक्षाऽनुवाक का रूप=प्रकाशनसामर्थ्य और उपदेश से पार्थक्य होवे, अर्थ के विधान करने से। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

---

१. तै० सं० ३।२।५॥ २. मी० ३।२।२५॥

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥ (उ०)

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यादिति । तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेनाभिधीयते—भक्षयामि वाक् तर्प्स्यतीति । ननु तृप्यत्वित्येषोऽन्यः शब्दोऽन्यश्च तर्प्स्यतीति । एषा भविष्यन्ती क्रियायामुपपदभूतायां भवतीति । तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्प्स्यतीति । इह पुनर्भक्षयामि तृप्यत्विति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः । उच्यते—नह्ययं विधौ तृप्यत्विति विज्ञायते । क्व तर्हि ? प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा । यदि भक्षयामि वाक् तर्प्स्यतीत्येवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाचस्तर्प्तुं प्राप्तः काल इति । तेन विशेषणविशेष्यभावादेकार्थतायामेकवाक्यत्वे मन्त्रैक्यमुपपद्यते । ननु निराकांक्षे एते वाक्ये भङ्क्त्वा रूपं साकाङ्क्षे क्रियेते । अत्रोच्यते—यद्यप्येते वाक्ये भिन्नार्थे निराकांक्षे द्वावर्थावभिवदेयातां, तथापि भक्षणस्य प्रकाशनं दृष्टं प्रयोजनम्, न तर्पणस्येति कृत्वैकार्थ्यमेव भवेत् । किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवात्र । तस्माद् गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यादिति ॥२६॥ **इति मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधिकरणम् ॥१०॥**

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(गुणाभिधानात्) गुण के कथन=तृप्ति के भक्षण के विशेषणरूप से कथन करने से (मन्द्रादिः) 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' पर्यन्त (एकमन्त्रः) एक मन्त्र (स्यात्) होवे, (तयोः) उन दोनों का (एकार्थसंयोगात्) एक अर्थ का संयोग होने से ॥

व्याख्या—**गुण के कथन से 'मन्द्र' से लेकर ['भक्षयामि' पर्यन्त] एक मन्त्र होवे । तृप्ति भक्षण के विशेषणरूप से कही जाती है—'खाता हूं वाणी तृप्त होगी' । (आक्षेप) 'तृप्यतु' यह अन्य शब्द है, और 'तर्प्स्यति' अन्य शब्द है । यह भविष्यन्ती (=लृट्) विभक्ति [क्रिया के लिये] क्रिया के उपपद होने पर होती है । वहां दो क्रियाओं 'भक्षयामि' और 'वाक् तर्प्स्यति' का सम्बन्ध है । और यहां 'भक्षयामि' और तृप्यतु में कोई सम्बन्ध नहीं है । (समाधान) यह तृप्यतु पद विधि में नहीं जाना जाता है । तो कहां (=किस विषय में) जाना जाता है ? प्रार्थना में अथवा प्राप्तकाल में । यदि 'भक्षण करता हूं, वाणी तृप्त होगी' ऐसा सम्बन्ध किया जाता है, अथवा 'भक्षण करता हूं, वाणी को तृप्त करने का काल प्राप्त हुआ है' । इस कारण विशेषण-विशेष्य के होने से एकार्थता में एकवाक्य होने पर मन्त्र का ऐक्य उपपन्न होता है । (आक्षेप) ये दोनों वाक्य निराकांक्ष हैं, इनके रूप बदल कर साकांक्ष बनाये जाते हैं । (समाधान) इस विषय में कहते हैं—यद्यपि ये वाक्य भिन्न अर्थवाले निराकाङ्क्ष दो (=तृप्यतु तथा भक्षयामि) अर्थों को कहते हैं, फिर भी भक्षण अर्थ का प्रकाशन दृष्ट प्रयोजनवाला है, तर्पण अर्थ का प्रकाशन दृष्ट अर्थवाला नहीं है, इस कारण एकार्थता ही होवे । तो फिर यहां गुणभाव के गम्यमान होने पर तो ऐकार्थ्य होगा ही । इस कारण ['तृप्यतु' के] गौण कथन से 'मन्द्र' आदि ['भक्षयामि' पर्यन्त] एक मन्त्र होवे ॥२६॥**

[इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षेषूहेन विनियोगाऽधिकरणम् ॥११॥]

एष एव मन्त्र उदाहरणम् । इह च प्रदानानि ऐन्द्राणि अनैन्द्राणि च विद्यन्ते । तेषां भक्षणान्यपि सन्ति । तत्र सन्देहः—किमैन्द्रेष्वनैन्द्रेषु च मन्त्रः, उतैन्द्रेष्वेव मन्त्रः ? अनैन्द्राणाममन्त्रकं भक्षणमिति । किं तावत् प्राप्तम्—

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥ (पू०)

अनैन्द्राणाममन्त्रकं भक्षणमिति । कुतः? समानविधानान्येतानि प्रदानानि । **तेष्विन्द्रपीतस्येति** मन्त्रोऽनिन्द्रपीतं न शक्नोति वदितुम् । न च समानप्रकरणे ऊहः सम्भवति । असति वचने अन्यार्थानभिधानात् । तस्मादमन्त्रकं भक्षणमेवञ्जातीयकेष्विति ॥२७॥

विवरण—भविष्यन्ती—यह पाणिनीय लृट्लकार की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है । **क्रियायामुपपदभूतायां भवति—लृट् शेषे च** (अष्टा०३।३।१३) सूत्र में १०वें सूत्र से **क्रियायां क्रियार्थायाम्** की अनुवृत्ति है । **प्रार्थनायां प्राप्तकाले वा**—प्रार्थना में लोट् का विधान **लोट् च** (अष्टा० ३।३।१६२) सूत्र से होता है, और प्राप्तकाल अर्थ में **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (अष्टा० ३।३।१६३) सूत्र से होता है ॥२६॥

—:०:—

व्याख्या—**यही मन्त्र उदाहरण है । यहां (=ज्योतिष्टोम में) प्रदान (=दी जानेवाली हवियां) इन्द्र देवतावाले और इन्द्र से भिन्न देवतावाले हैं । उन [हवियों] के भक्षण भी हैं । उन में सन्देह है—क्या इन्द्र देवतावाली और इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों के भक्षण में यह मन्त्र है, अथवा इन्द्र देवतावाली हवि के भक्षण में ही यह मन्त्र है ? इन्द्रभिन्न देवतावाली हवियों का अमन्त्रक (=मन्त्र के विना)भक्षण है । तो क्या प्राप्त होता है—**

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

सूत्रार्थः— (समानविधानेषु) समान विधानवाली हवियों के भक्षण में (लिङ्गविशेषनिर्देशात्) **इन्द्रपीतस्य**='इन्द्र से पीये गये' ऐसा विशेष लिङ्ग के निर्देश से (अनैन्द्राणाम्) इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का (अमन्त्रत्वम्) मन्त्रराहित्य है, अर्थात् उनका भक्षण मन्त्ररहित होता है ॥

व्याख्या—**इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का अमन्त्र (=विना मन्त्र के) भक्षण होता है । किस हेतु से ? ये प्रदान (=हवियां) समान विधानवाली हैं । उन में इन्द्रपीतस्य (=इन्द्र से पीये गये सोम का) यह मन्त्र इन्द्र से भिन्न देवता से पीये गये को नहीं कह सकता है । और समान (=एक) प्रकरण में ऊह सम्भव नहीं है । वचन के न होने पर अन्य अर्थ का कथन नहीं होने से । इसलिये इस प्रकार (=इन्द्र से भिन्न देवतावाली) हवियों में मन्त्ररहित भक्षण होता है ॥२७॥**

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥ (पक्षान्तर०)

अथ वा यथादेवतमूहेन लक्षयितव्यम् । कस्मात् ? ध्रुवचमसा हि प्रकृतिभूताः । के पुनर्ध्रुवचमसाः ? ये शुक्रामन्थिप्रचारे सवनमुखीयाः । ऐन्द्रास्ते भवन्ति । तेषां प्रकृतिभूतं प्रदानम्, विकृतिभूतान्यन्यानि । कथमवगम्यते ? तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति । कथम् ? **अनुष्टुप्छन्दस इति षोडशिनि अतिरात्रे भक्षमन्त्रं नमति**[1] इति । किमत्र दर्शनम् ? नमतीति विपरिणामं दर्शयति ।

विवरण—समानविधानानि—समान है विधान जिनका । अर्थात् ऐन्द्र हवियों का जैसा विधान है, वैसा ही अनैन्द्र हवियों का भी है । **इन्द्रपीतस्य**—'इन्द्रेण पीतम्=इन्द्रपीतम्, तस्य' तृतीया तत्पुरुष समास है । **न च समानप्रकरणे ऊहः**—एक ही प्रकरण में ऊह नहीं होता है । ऊह का क्षेत्र विकृतियाग होते हैं । प्रकृत ज्योतिष्टोम प्रकृतिरूप है । ऊह का लक्षण पूर्व मी० १।२।५२ सूत्र की व्याख्या (भाग १, पृष्ठ २०६, 'विशेष') में देखें ॥२७॥

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का अमन्त्रक भक्षण होता है, यह ठीक नहीं है । (यथादेवतम्) देवता के अनुसार ऊह करके समन्त्रक भक्षण होता है । (हि) यतः (तत्प्रकृतित्वम्) उस इन्द्र देवतावाली हवि के भक्षण का प्रकृतिरूपत्व (दर्शयति) विधि दर्शाती है । अर्थात् अतिरात्र में षोडशी के भक्षण में भक्षण-मन्त्र **अनुष्टुप् छन्दसः** इस प्रकार विपरिणाम को प्राप्त होता है, ऐसा कहा है । (शेष भाष्य-व्याख्या में देखें) ॥

व्याख्या—**अथवा यथादेवतम् (=देवतानुसार) ऊह से भक्षण को लक्षित करना चाहिये । किस हेतु से ? ध्रुवचमस प्रकृतिरूप हैं । ध्रुवचमस कौनसे हैं ? जो शुक्र ग्रह और मन्थी ग्रह के प्रचार (=प्रयोग के समय सवनमुखीय (=सवन के आरम्भ में होनेवाले) चमस हैं । ये [ध्रुव-चमस] इन्द्र देवतावाले होते हैं । उनका प्रदान (=इन्द्र देवता के लिये होम) प्रकृतिरूप है । अन्य चमस विकृतिभूत हैं । यह कैसे जाना जाता है ? यतः उसका प्रकृतिपना दर्शाया है । किस प्रकार ?** अनुष्टुप्छन्दस इति षोडशिनि अतिरात्रे भक्षमन्त्रं नमति **(=सोमयाग की अतिरात्र संस्था में षोडशी ग्रह सम्बन्धी हवि के भक्षण में** अनुष्टुप् छन्दसः **इस प्रकार मन्त्र नमता है)। यहां नमन क्या है ? नमता है, अर्थात् विपरिणाम को प्राप्त होता है ।**

विवरण—चमस—चमस नाम के सोमयाग में पात्रविशेष होते हैं । यह पात्र चौकोर,

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तुलना कार्या—अग्निपीतस्येति भक्षममन्त्रं संनमति । आप० श्रौत १३।१४।१४ ॥

पकड़ने के लिये मुष्टिसहित औदुम्बर (=गूलर) आदि के काष्ठ से बना हुआ होता है। (द्र०—न्यायाधिकरणमाला-विस्तर अ० ३, पा० ५, अधि० ७)। इस में सोमरस का ग्रहण किया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति मीमांसकों ने दो प्रकार से की है—'आदान (=ग्रहण) अर्थवाली चम धातु से अधिकरण में औणादिक असच्[1] प्रत्यय (उ० ३।११७) होता है—**चम्यते आदीयते सोमरसोऽत्रेति चमसः** (द्र०—तन्त्रवार्तिक ३।५।२२); **चम्यते भक्ष्यते सोमोऽस्मिन्** = जिसमें सोम का भक्षण किया जाये (द्र० —न्यायाधिकरणमाला० अ० ३. पा. ५, अ० ७)। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने **चमति भक्षयति येन स चमसः** व्युत्पत्ति की है (द्र०—उणादिकोष ३।११८)। ज्योतिष्टोम में १० चमस होते हैं। मध्यतःकारी नामवाले होता, ब्रह्म, उद्गाता और यजमान के चार, तथा मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और आग्नीध्रसंज्ञक ऋत्विजों के ६ चमस होते हैं (कुतुहल वृत्ति, अगले सूत्र के आरम्भ में)। इनमें मध्यतःकारियों के चार चमस सभी सवनों के आरम्भ में होने से **सवनमुखीय** कहाते हैं।

ध्रुवचमसाः—प्रातःसवन में उक्त दश चमसों में से अच्छावाक के चमस को छोड़कर ९ चमसों से होम होता है। अन्य माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन में १०+१० चमसों का होम होता है। उनमें मध्यतःकारी ऋत्विजों के चार चमस 'ध्रुवचमस' कहाते हैं। **ऐन्द्रास्ते भवन्ति**—मध्यतःकारियों के चमसों का इन्द्र ही देवता है। होत्रकों के चमसों का प्रथम होम में इन्द्र देवता है, और द्वितीय होम में मित्रावरुण आदि (द्र०—शाबरभाष्य ३।२।२९)। अतः इन्द्र सभी का समान देवता है।

चमस-भक्षण—होतृ-चमसों में एक बार इन्द्र के लिये होम करने पर उनमें सोम के शेष रहने पर, विना भक्षण किये ही द्रोणकलश से सोम को भरकर **मित्रावरुण** आदि देवताओं के लिये चमसों के होम करने पर हुतशेष (=चमस में अवशिष्ट) सोम का भक्षण किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रदेवतावाली हवि विविध धर्मों से युक्त है। इतर चमस अतिदेश से धर्मों का ग्रहण करेंगे। **तत्प्रकृतित्वं दर्शयति**—'ज्योतिष्टोम की अन्य अतिरात्र आदि संस्थाओं का विकारत्व (= विकृतित्व) सिद्ध नहीं है' ऐसा मानकर, अर्थात् सवनमुखीय चमसों का प्रकृतित्व निदर्शनार्थ वचन उपस्थित किया है—**अनुष्टुप्छन्दस इति**—अतिरात्र में षोडशीग्रह के भक्षमन्त्र **गायत्रच्छन्दसः** (द्र०—तै० सं० ३।२।५) के स्थान में **अनुष्टुप्छन्दसः** इस प्रकार ऊह होता है।

षोडशिनि अतिरात्रे—ज्योतिष्टोम की अतिरात्र नामक संस्था (=भेद) में षोडशी ग्रह के ग्रहण और अग्रहण दोनों की विधि है—**अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति** (भाट्टदीपिका अ० १०, पाद ५, अधि० १२ में उद्धृत)। इस प्रकार अतिरात्र संस्था में षोडशी ग्रह

१. तन्त्रवार्तिक में 'असन्' अपपाठ है। चमस शब्द के अन्तोदात्त होने से 'असच्' पाठ होना चाहिये।

ननु वचनमेतत् स्यात्। नेत्युच्यते,। नैतत् 'नमति' इति श्रूयते। कथं तर्हि? एवं नमतीति—'अनुष्टुप्छन्दसः', इति भक्षमन्त्रं नमतीति। स एष ऊहो विकारेषुपपद्यते। तस्मादेते विकाराः। अतोऽनैन्द्रेष्वपि चोदकप्राप्तो मन्त्र ऊहितव्यो भवति। उच्यते—विकारा एते, इति लिङ्गमपदिष्टम्। न्यायोऽभिधीयतामिति। उच्यते—**ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च**[1]। तेन ऐन्द्रेषु सोमः,अनैन्द्रेषु सोम एव नास्तीति, सर्वे सोमधर्मा ऐन्द्रेष्वेव। अधर्मका इतरे, साकाङ्क्षाः। कथं पुनर्ज्ञायते–ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते चेति ? मन्त्रवर्णात्। **इन्द्राय त्वा वसुमते**[2] इत्येवमादिर्मन्त्र ऐन्द्रं सोमं वदितुं शक्नोतीति, नान्यम्। तस्मादैन्द्रः सोमः। तेन ऐन्द्रेषु सोमधर्माः। अन्यानि तु प्रदानानि साकाङ्क्षाणि। अतो धर्मान् ग्रहीष्यन्तीति न्यायः। तस्माद् यथादेवतमूहितव्यो मन्त्र इति।

एवं स्थितं तावदपर्यवसितम्[3]। तत एवं सति चिन्तान्तरं वर्त्तिष्यते ॥२८॥

इतीन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षणेषूहेन विनियोगाऽधिकरणम् ॥११॥

के ग्रहण का विकल्प है। अत एव यहां अतिरात्र का **षोडशिनि** विशेषण दिया है। अतिरात्र में षोडशी के ग्रहण-अग्रहण के विषय में मी० २।४।२६ का भाष्य और उसका विवरण देखें।

व्याख्या—(आक्षेप) यह [=अनुष्टुप्छन्दसः आदि] वचन=विधायक होवे। (समाधान) विधायक नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। यह 'नमति' ऐसा नहीं है। तो कैसे है? 'नमति' इस प्रकार है—'अनुष्टुप्छन्दसः' इस भक्षमन्त्र को ऊहित करता है। सो यह ऊह विकारों में उपपन्न (=युक्त) होता है। इसलिये ये विकार हैं [सवनमुखीय ऐन्द्र प्रकृति है]। इस कारण अनैन्द्र भक्षणों में भी अतिदेश-प्राप्त मन्त्र की ऊहा करनी चाहिये। (आक्षेप) ये [अनैन्द्र भक्षण] विकार हैं, इसमें लिङ्ग का कथन किया है। न्याय का कथन करिये। (समाधान) ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च (=इन्द्रदेवतावाले सोम का ग्रहण होता है वा मापा जाता है) [ऐसा कहा है, अर्थात् सोम का ऐन्द्र विशेषण प्रयुक्त है]। इस कारण सोम इन्द्रदेवतावाले ग्रहचमसों में ही है, इन्द्रदेवतारहितों में सोम ही नहीं है, इसलिये सभी सोम के [ग्रहण आदि] धर्म इन्द्र देवतावालों में ही हैं। अन्य (=अनैन्द्र) [ग्रह चमस] धर्मरहित हैं, अतः साकाङ्क्ष हैं, अर्थात् हमारा अङ्गभाव कैसे उत्पन्न होगा ? कैसे जाना जाता है कि ऐन्द्र सोम ग्रहण किया जाता है, वा मापा जाता है ? मन्त्र के कथन से। इन्द्राय त्वा वसुमते इत्यादि मन्त्र ऐन्द्र सोम का कथन कर सकता है, अन्य का कथन नहीं कर सकता है। इस कारण ऐन्द्र सोम है। इसलिये ऐन्द्र [ग्रह चमसों] में ही सोमधर्म हैं। अन्य अनैन्द्र हवियां तो साकाङ्क्ष हैं। [साकाङ्क्ष होने से] यहां (ऐन्द्रों) से धर्मों का ग्रहण करेंगी, यह न्याय है। इस हेतु से देवतानुसार मन्त्र की ऊहा करनी चाहिये।

इस प्रकार यह विचार अपूर्ण ही रुक गया है। इतने विचार के पश्चात् उक्त विचार को स्वीकार करके विचारान्तर आरम्भ करेंगे ॥२८॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्। २. मै० सं० १।३।३; ४।५।४॥

३. अस्याधिकरणस्य पर्यवसानं **छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात्** (मी० ३।२।३८) सूत्रे भविष्यति।

अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१२॥

सन्ति पुनरभ्युन्नीताः सोमाः शुक्रामन्थिप्रचारे एव सवनमुखीयाः। तेषां होतुर्वषट्कारेऽनुवषट्कारे च चतुर्भिर्मध्यतःकारिणां[1] चमसैर्हुत्वा होत्रकाणां[2] चमसैः सकृत्-सकृद् वषट्कारे एव हुत्वा पुनः सशेषेष्वेव पात्रेषु सोमोऽभ्युन्नीतः। एवं हि तत्र अध्वर्युः सम्प्रेष्यति—'**मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्कृतेऽनुवषट्कृते जुहुत, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः सकृद् हुत्वा [3]शुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्त्तध्वम्**[4] इति'। तत्र होत्रका नानादेवता यजन्ति। मैत्रावरुणो मित्रावरुणौ—**मित्रं वयं हवामहे**[5] इति। ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्रम्—**इन्द्रं त्वा वृषभं वयम्**[6] इति। पोता मरुतः—**मरुतो यस्य हि क्षये**[7] इति। नेष्टा त्वष्टारं पत्नीश्च—**अग्ने पत्नीरिहाऽऽवह**[8]

विवरण—इस अधिकरण में सवनमुखीय मध्यतःकारियों के ऐन्द्र चमसों को प्रकृति मानकर अनैन्द्र हवियों में ऊह करना चाहिये, यह कहा है। इस अधूरे विचार को अर्थात् ऊह को सिद्धवत् मानकर आगे के अधिकरणों में विचार किया है ॥२८॥

—:०:—

व्याख्या—शुक्रग्रह और मन्थीग्रह के प्रचार (=प्रयोगकाल) में ही सवनमुखीय पुनरभ्युन्नीत (=चमसों से होम के अनन्तर संशेष सोमवाले चमस में ही पुनः गृहीत) सोम हैं। उनके होता के वषट्कार और अनुवषट्कार कहने पर मध्यतःकारियों के चार चमसों से होम करके होत्रकों के चमसों से एक-एक बार ही होम करके पुनः सशेष पात्रों में ही सोम गृहीत होता है। वहां (=उस कर्म में) अध्वर्यु इस प्रकार प्रैष देता है—'मध्यतःकारियों के चमसाध्वर्युवो! वषट्कार करने पर और अनुवषट्कार करने पर होम करो; होत्रकों के चमसाध्वर्युवो! एक बार होम करके शुक्र (=द्रोणकशलस्थ सोम) का अभ्युन्नयन करके लौटो।' वहां (=अनुवषट्कार में) होत्रक (=मैत्रावरुण आदि) भिन्न-भिन्न देवता का यजन करते हैं। मित्रावरुण मित्रावरुणों को 'मित्रं वयं हवामहे' [मन्त्र से], ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्र को 'इन्द्रं त्वा वृषभं वयम्' [मन्त्र से], पोता मरुतों को 'मरुतो यस्य हि क्षये' [मन्त्र से], नेष्टा त्वष्टा और पत्नियों को 'अग्ने पत्नी-

१. मध्यतःकारिणां (=ब्रह्म-होतृ-उद्गातृ-यजमानानाम्) चमसाः।

२. होत्रकाणां (=मैत्रावरुण-ब्राह्मणाच्छंसी-पोतृ-नेतृ-अच्छावाक-आग्नीध्राणाम्) चमसाः।

३. शुक्रो द्रोणकलशस्थः सोमः। रुद्रदत्त, आप० श्रौत १२।२३।४॥

४. तुलना कार्या—मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्कृतानुवषट्कृताञ्जुहुत, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः सकृत् सकृद्धुत्वा शुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्तध्वम्। आप० श्रौत १२।२३।४॥

५. ऋ० १।२३।४॥ आश्व० श्रौत ५।५।१८॥

६. ऋ० ३।४०।१॥ आश्व० श्रौत ५।५।१८॥

७. ऋ० १।८६।१॥ आश्व० श्रौत ५।५।१८॥

८. आश्व० श्रौत ५।५।१८॥

इति । आग्नीध्रोऽग्निम्—उक्षान्नाय वशान्नाय[1] इति । तत्र तैश्चमसैः पूर्वस्मिन् वषट्कारे इन्द्र इष्टः । पुनरभ्युन्नीय मित्रावरुणाद्या देवता इष्टाः । शेषास्तत्रेन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां च । तत्र सन्देहः— किं प्रस्थितदेवतायाश्च इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां चोपलक्षणमुतेन्द्रो नोपलक्षयितव्यः इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

रिहावह' [मन्त्र से], आग्नीध्र अग्नि को 'उक्षान्नाय वशान्नाय' [मन्त्र से]। उन चमसों से होम करने में प्रथम वषट्कार में इन्द्र देवता इष्ट (=यजन किया गया) है। पुनः सोमग्रहण करके [अनुवषट्कार में] मित्रावरुणादि देवता इष्ट (= यजन किये गये) हैं। [इन चमसों में] जो शेष भाग है, वह इन्द्र का और मित्रावरुणादि का है। इस में सन्देह होता है कि—क्या प्रस्थित (= प्रथम उपस्थित) देवता इन्द्र का और मित्रावरुण आदि का [भक्षमन्त्र में] उपलक्षण (=निर्देश) होना चाहिये, अथवा इन्द्र का निर्देश नहीं होना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—पुनरभ्युन्नीताः सोमाः—ग्रहपात्र में सोम का ग्रहण 'ग्रहण' कहाता है, और चमसों में सोम का ग्रहण 'अभ्युन्नयन' अथवा 'उन्नयन' कहाता है। होत्रक-चमसों से वषट्कार के साथ होम करने पर जो सोम चमस में रहता है, उसी में द्रोणकलश से पुनः सोम का ग्रहण 'पुनरभ्युन्नयन' कहाता है। **मध्यतःकारिणां चमसैः**—ब्रह्मा होता उद्गाता और यजमान के चमसों से। **वषट्कारे अनुवषट्कारे च**—मध्यतःकारियों के चमसों से वषट्कार के अनन्तर द्वितीय वषट्कार से दो-दो आहुतियां दी जाती हैं। **होत्रकाणां चमसैः**—मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाक और आग्नीध्र के चमसों से। **सकृत् सकृद् वषट्कारे हुत्वा**—होत्रक-चमसों से वषट्कार से एक बार आहुति देकर सशेष चमसों में द्रोणकलश से पुनः सोम का उन्नयन करके पुनः वषट्कार से आहुति दी जाती है। **होत्रका नानादेवता यजन्ति**—मध्यतःकारी वषट्कार और अनुवषट्कार से इन्द्र देवता का यजन करते हैं। होत्रक वषट्कार में इन्द्र देवता का यजन करते हैं, और सोम का पुनरुन्नयन करके भिन्न-भिन्न देवता का यजन करते हैं। कौन होत्रक किस देवता का यजन करता है, इसे—**मैत्रावरुणो मित्रावरुणौ** आदि से दर्शाया है। यहां पांच होत्रकों का निर्देश है। प्रातःसवन में अच्छावाक नहीं होता है, अतः पांच का ही निर्देश हैं। **शेषास्तस्य इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां च**—होत्रक-चमसों में इन्द्र देवता के लिये हुत सोम के शेष में ही मित्रावरुण आदि देवताओं के लिये पुनः ग्रहण किया जाता हैं। इसलिये मित्रावरुण आदि के होम के अनन्तर जो शेष बचता है, वह इन्द्र और मित्रावरुण आदि का है। **प्रस्थितदेवतायाः**—होमाभिमुख देवता इन्द्र के (प्रथम होते इन्द्र के लिये होता है, तदनन्तर मित्रावरुण आदि के लिये)। **इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां च**—भक्षमन्त्र में **'इन्द्रपीतस्य'** के स्थान में **'इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य'** ऐसा ऊह करना चाहिये। अथवा पूर्व देवता इन्द्र का निर्देश न करके **'मित्रावरुणपीतस्य'** ऐसा ऊह करना चाहिये।

---

१. ऋ० ८।४३।११॥ आश्व० श्रौत ५।५।१८॥

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२९॥ (उ०)

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणम् । कस्मात् ? द्विशेषत्वात् । चमसे चमसे तत्र द्वयोः शेषः । प्रकृतौ यस्यै हुतं तच्छेषस्तत्पीत इत्युक्तम् । इहापि तद्वदेव वदितव्यम् । तस्माच्चमसे चमसे द्वयोरुपलक्षणम् ॥२९॥

अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम् ॥३०॥ (पू०)

अपनीतं प्रस्थितदेवतायाः शेषं मन्यामहे । कुतः ? मित्रावरुणादिभ्यस्तत्पात्रस्थमभ्याश्राव्यते । कथमेतत् ? उच्यते— मित्रावरुणादयो हीज्यन्ते । तद् यथा आचार्य्य-

---

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२९॥ (उ०)

सूत्रार्थः—(पुनरभ्युन्नीतेषु) चमसों से होम करके सशेष पात्र में पुनर्गृहीत सोमों के भक्ष-मन्त्र में (सर्वेषाम्) सभी देवताओं को (उपलक्षणम्) उपलक्षित करना चाहिये (द्विशेषत्वात्) शेष = बचे हुए सोम में दो का शेष होने से ॥

व्याख्या— **पुनरभ्युन्नीत सोमों में सभी देवताओं का उपलक्षण (= निर्देश) होना चाहिये। किस हेतु से ? दो का शेष होने से । प्रत्येक चमस में दो-दो देवताओं को प्रदत्त सोमों का शेष होने से । प्रकृति में जिस देवता के लिये होम किया, उसका शेष तत्पीत (= उस देवता से पान किया गया) कहा है । यहां भी उसी प्रकार कहना चाहिये । इसलिये प्रत्येक चमस में दो देवताओं का निर्देश करना चाहिये** ॥२९॥

विवरण—यस्यै (देवतायै) हुतं तच्छेषस्तत्पीत इत्युक्तम्—प्रकृतिभूत मध्यतःकारियों के ध्रुवचमसों के यागों में **इन्द्रपीतस्य** शब्द से इन्द्र से पान किये गये सोम का निर्देश किया है । उसी प्रकार यहां दो देवताओं के लिये सोम का होम होने से **इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य** आदि पदों का ऊह से निर्देश करना चाहिये ॥२९॥

अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(वा, 'वा' शब्द पूर्वपक्ष के प्रतिषेधार्थ है, अर्थात् दो देवताओं का उपलक्षण नहीं करना चाहिये । (पूर्वस्य अपनयात्) पूर्व देवता के शेष के बाधित हो जाने से द्विदेवताक सोम-शेष के भक्षण में (अनुपलक्षणम्) पूर्व देवता का उपलक्षण (= कथन) नहीं करना चाहिये ॥

व्याख्या **प्रस्थित (= प्रारम्भ में स्थित इन्द्र) देवता का शेष अपनीत (= बाधित) हो गया ऐसा मानते हैं । किस हेतु से ? उस पात्र के पुनरभ्युन्नीत सोम का मित्रावरुण आदि के लिये अभ्याश्रावण (= आश्रावण और प्रत्याश्रवण)** होता है । यह कैसे ? **कहते हैं— मित्रावरुण आदि देवता यजन किये जाते हैं । जैसे— आचार्य के शेष (= बचे हुए अन्न) को खाता हुआ देवदत्त**

शेषं देवदत्तो भुञ्जानो यदि शेषं पूर्णकाय प्रयच्छति, पूर्णको देवदत्तमुपलक्षयति—देवदत्तशेषं भुञ्जे इति,नाचार्य्यशेषम्। तस्मान्न प्रस्थितदेवता इन्द्र उपलक्षयितव्य इति॥३०॥

अग्रहणाद् वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥ (उ०)

नचैतदस्ति—इन्द्रो नोपलक्षणीय इति। तस्यापि ह्यसौ शेषः प्रत्यक्षमवगम्यते। नन्वपनीत इति। उच्यते—नासावपनीयते। सकृदधुतांश्चमसान्भिद्रोणकलशाद् गृह्णाति। सशेषश्चमसो लक्षणमन्यस्योन्नीयमानस्य। न च चमसस्थो होतुमुन्नीतः प्रेषितो वा। यत्तु यक्ष्यमाणा देवताः प्रति आश्रावित इति। उच्यते—आश्राव्यते तत्र देवताभ्यः,

---

यदि शेष भाग को पूर्णक नामवाले नौकर को देता है, तो पूर्णक देवदत्त का निर्देश करता है – देव-के शेष को खा रहा हूं, आचार्य के शेष को खा रहा हूं, ऐसा नहीं कहता है। इस कारण प्रस्थित देवता इन्द्र को उपलक्षित नहीं करना चाहिये ॥३०॥

विवरण—आश्राव्यत—देवता को दीयमान पात्रस्थ हवि को हाथ में धारण करता हुआ अध्वयु आनीत् को **ओ ३ श्रावय** ऐसा प्रैष देता है, यह'आश्रावण'कहा है। आग्नीत् **अस्तु श्रौ३षट्** ऐसा प्रत्युत्तर देता है, यह 'प्रत्याश्रावण' कहाता है। इसके पश्चात् होता होष्यमाण देवता का निर्देश करके, यथा–**मित्रावरुणौ यज** ऐसा होता को प्रैष देता है। तदनन्तर होता **ये ३ यजामहे** पूर्वक याज्यामन्त्र को पढ़ता है। याज्यामन्त्र से यह हवि इस देवता की है, ऐसा ज्ञान होता है॥३०॥

अग्रहणाद् वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष के प्रतिषेध के लिये है, अर्थात् प्रस्थित देवता इन्द्र के शेष का अपनय हो जाता है, यह ठीक नहीं है। (अग्रहणात्) इन्द्र को दिये गये सोम के शेष का मित्रावरुण आदि देवता के लिये गृहीत सोम में आश्रावण-प्रत्याश्रावण न होने से (अनपायः स्यात्) इन्द्रपीत सोम का अपाय=निराकरण नहीं होवे।

इस का भाव यह है कि पूर्व इन्द्रदेवताक सोम के शेष का मित्रावरुण आदि देवतान्तर के लिये गृहीत न होने से, तथा पुनरभ्युन्नयन काल में अभ्युन्नीतमात्र सोम के ही मित्रावरुण आदि के लिये आश्रावण-प्रत्याश्रावण होने से पूर्व देवता का अपनय नहीं होता है॥

व्याख्या—'इन्द्र को उपलक्षित नहीं करना चाहिये' यह नहीं है। उस [पूर्व देवता इन्द्र] का भी वह शेष प्रत्यक्ष जाना जाता है। (आक्षेप) वह [इन्द्रदेवताक शेष] अपनीत (=नष्ट) हो गया। (समाधान) वह [इन्द्र का शेष] अपनीत नहीं होता हैं। एक बार होम किये गये चमसों को द्रोणकलश से ग्रहण (=पूर्ण) करता है। वह सशेष चमस अन्य उन्नीयमान सोम का उपलक्षण होता है। और चमसस्थ सोम न तो होम के लिये उन्नीत (=गृहीत) है, और नाही प्रेषित (=होम के लिय 'यज' ऐसा प्रैष दिया हुआ) है। (आक्षेप) जो यह कहा है कि [चमसस्थ सोम] यक्ष्यमाण [मित्रावरुण आदि]देवताओं के प्रति आश्रावित(=घोषित)है। (समाधान) वहां देवताओं

न त्विदं वा तद्वेति । तेन 'यद्धोतुं गृहीतं तद् आश्रावितम्' इति गम्यते । न चाऽऽश्रावण-वेलायां देवताभिसम्बन्धः । यद् यद् देवताभिसम्बद्धं, तद् आश्राव्यते । तस्मादस्तीन्द्रशेषो भक्ष्यते च । अतः सर्वेषामुपलक्षणमिति ।

कृत्वाचिन्तैषा । नात्र प्रयोजनं वक्तव्यम् । पूर्वाधिकरणस्यैवैतत् प्रयोजनमवधार्य्यते ॥३१॥ **इत्यभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१२॥**

—:०:—

के लिये आश्रावित होता है, परन्तु यह (=पुनरभ्युन्नीत) अथवा वह (=पूर्वशेष) [इस प्रकार से आश्रावित नहीं है] । इसलिये 'जो होम के लिये [पुनः] ग्रहण किया गया है, वह आश्रावित है' ऐसा जाना जाता है । और आश्रावण के काल में देवता का सम्बन्ध नहीं है । जो-जो देवता से सम्बद्ध है, वह-वह आश्रावित होता है । इस हेतु से इन्द्र का शेष सोम है, और वह भक्षित होता है । इसलिये सब देवताओं का निर्देश करना चाहिये ।

यह कृत्वा चिन्ता है । यहां विचार का प्रयोजन क्या है, ऐसा कथनीय नहीं है । पूर्व अधिकरण का ही यह प्रयोजन है, यह निश्चित किया जाता है ॥३१॥

विवरण—**न च चमसस्थः**—यह आनन्दाश्रम-मुद्रित पाठ है । काशी-संस्करण में **ततश्चमसस्थः** पाठ है । इसका अर्थ होगा—इस कारण चमसस्थ जो सोम होम के लिये ग्रहण किया गया है, अथवा प्रैष दिया गया है । अर्थात् पूर्वशेष न होम के लिये गृहीत है, और नाहीं प्रैषित है। **होतुमुन्नीतः**—काशी तथा आनन्दाश्रम संस्करण का **होतुमुन्नेतव्यः** पाठ है, यह अशुद्ध है । 'उन्नीतः' शुद्ध पाठ स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने मीमांसाकोश पृष्ठ २५७७ में दर्शाया है । **न चाऽऽश्रावण-वेलायाम्**—इसका भाव यह है कि जब पुनः ग्रहणकाल में ही पूर्वशेष सोम का मित्रावरुण आदि देवतान्तर के साथ सम्बन्ध नहीं, तो उस पूर्वशेष सोम का आश्रावण काल=**ओ३ श्रावय** इस प्रैष काल में मित्रावरुण आदि देवतान्तर के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? **कृत्वा चिन्ता**—किसी को सिद्ध मानकर जो विचार किया जाता है, उसे मीमांसा में 'कृत्वाचिन्ता' कहते हैं। यही न्यायशास्त्र में अभ्युपगमवाद कहाता है । **नात्र प्रयोजनं वक्तव्यम्**—यह पूर्व मी०२।१।३२ के भाष्य में भी कहा है (द्र०—भाग २, पृष्ठ ४१२)। **पूर्वाधिकरणस्यैवैतत् प्रयोजनम्**—पूर्व अधिकरण में '**इन्द्रपीतस्य** इत्यादि भक्षमन्त्र में सब भक्षणों में ऊह करके विनियोग करना चाहिये', ऐसा कहा है। उसी का यह विचार प्रयोजन है । अर्थात् ऊह को स्वीकार करने पर होत्रक चमसों के भक्षण में **इन्द्रपीतस्य** के स्थान में **मित्रावरुणपीतस्य** आदि निर्देश करना चाहिये, अथवा **इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य** ऐसा निर्देश करना चाहिये । यह विचार उपपन्न होता है ॥३१॥

—:०:—

[पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१३॥]

अस्ति पात्नीवतो ग्रहः—यदुपांशुपात्रेणाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति[1] इति। द्विदेवत्यानां शेषा आग्रयणस्थाल्यामुपनीताः। ततः पात्नीवतो गृह्यते। अथ हुते पात्नीवते तच्छेषे भक्ष्यमाणे भवति सन्देहः—किमिन्द्रवाय्वादय उपलक्षयितव्याः, न वा इति? किं तावत् प्राप्तम्?

व्याख्या—पात्नीवत नाम का ग्रह है—यदुपांशुपात्रेणाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति **(=जो उपांशुपात्र के द्वारा आग्रयण पात्र से पात्नीवत ग्रह का ग्रहण करता है)। द्विदेवत्य ग्रहों के शेष आग्रयण-स्थाली में प्राप्त कराये गये हैं। उस से पात्नीवत ग्रह का ग्रहण किया जाता है। पात्नीवत ग्रह के होम करने पर उस के शेष भक्षण के समय सन्देह होता है—क्या [पात्नीवत देवता के साथ] इन्द्र वायु आदि देवताओं का निर्देश करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है?**

विवरण—अस्ति पात्नीवतो ग्रहः—पत्नीवान् जिसका देवता है, वह पात्नीवत ग्रह होता है। **द्विदेवत्यानां शेषाः**—इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—प्रातःसवन में ऐन्द्रवायव मैत्रावरुण तथा आश्विनसंज्ञक दो-दो देवतावाले ग्रह हैं। द्विदेवत्य ग्रहों के होम के अनन्तर उनमें अवशिष्ट रखा गया सोम **आदित्यस्थाल्यां सम्पातमवनयन्ति** (=आदित्यस्थाली में सम्पात को गिराते हैं) इस वचन से आदित्यस्थाली को प्राप्त होते हैं। तृतीयसवन में आदित्यस्थाली **से** आग्रयणस्थाली को प्राप्त होते हैं (द्र०—शास्त्रदीपिका की मयूखमालिका टीका)। आग्रयणस्थालीस्थ सोम को पात्रान्तर में लेकर पुनः चार धाराओं से आग्रयणस्थाली में ग्रहण किया जाता है—**पुनरपि तस्याः स्थाल्या आग्रयणस्थालीमागच्छति** (सायण तै० सं० भाष्य १।४।२७) द्र०—कात्या० श्रौत १०।५।१ सूत्र वा टीका। तृतीयसवन में आग्रयण ग्रह के ग्रहण की विधि इस प्रकार है—**चतसृभ्यो धाराभ्य आग्रयणं गृह्णाति, आग्रयणादुत्सिच्य द्वितीयां धारां करोति, आदित्यस्थाल्यास्तृतीयाम्, आदित्यग्रहसम्पाताच्चतुर्थीम्**=आग्रयणस्थाली में सोम का ग्रहण चार धाराओं से होता है। आग्रयण से सोम का उत्सेचन करके दूसरी धारा करे। आदित्यस्थाली से तृतीय धारा, और आदित्यग्रह के सम्पात से चौथी धारा करे (द्र०—आप० श्रौत १३।१०।१२)। यहां प्रथम धारा का निर्देश नहीं है, उसे द्रोणकलश से ग्रहण करना होता है (द्र०—आप० श्रौत १०।१०।११)। कात्यायन श्रौत १०।५।१ सूत्र तथा उसकी टीका भी द्रष्टव्य है। चतुर्थ धारा के रूप में निर्दिष्ट आदित्यग्रह का विधान इससे पूर्व है। उसके शेष का सम्पात यहां इष्ट है। इस आग्रयणस्थाली से उपांशुग्रह से पात्नीवतग्रह का ग्रहण होता है।

---

१. तुलना कार्या—यदुपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति। तै० सं० ६।५।८।१॥

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥ (पू०)

उपलक्षयितव्याः। तेषामपि ह्यसौ शेषः, यथा प्रस्थितदेवताया इति ॥३२॥

ग्रहणाद्वाऽपनीतः स्यात् ॥३३॥ (सि०)

अपनीयते हि स शेष इह, न यथापूर्ववत्। तत्र हि पात्रलक्षणत्वेन सङ्कीर्त्यते, न सोमो ग्राह्यत्वेन। इह त्वाग्रयणाद् गृह्णाति, इति स्थालीस्थः सोमो निर्दिश्यते होतुं यक्ष्य-

---

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(पात्नीवते) पत्नीवत देवताविषयक भक्षण-मन्त्र में (तु) भी (पूर्ववत्) पूर्व के समान इन्द्र वायु आदि का निर्देश करना चाहिये॥

व्याख्या—[**पात्नीवत भक्षणमन्त्र में इन्द्र वायु आदि का**] **निर्देश करना चाहिये। उन** [**इन्द्र वायु आदि**] **का भी यह शेष है, जैसे प्रस्थित (=प्रारम्भ में स्थित इन्द्र) देवता का शेष था** ॥३२॥

ग्रहणाद् वाऽपनीतः स्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(वा) वा शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। (ग्रहणात्) द्विदेवत्य आदि शेष से संसृष्ट=मिले हुए आग्रयण से पात्नीवत के ग्रहण से (अपनीतः) द्विदेवत्य आदि शेष अपनीत=बाधित=दूर हुआ (स्यात्) होवे। इसलिये पात्नीवत के भक्षण-मन्त्र में द्विदेवताओं का निर्देश न होवे॥

विशेष=कुतुहल वृत्तिकार ने 'वा' शब्द को वैषम्यार्थक मानकर पुनरभ्युन्नीत सोम में और पात्नीवत में वैषम्य दर्शाया है। उसे इस प्रकार समझना चाहिये—मित्रावरुण आदि के लिये पुनरभ्युन्नीत सोम इन्द्रादि देवतावाले सशेष चमस में ग्रहण किया गया है। अतः मैत्रावरुण आदि के शेष के साथ पूर्व इन्द्र आदि देवताक सोम का अपनय नहीं होता है। यहां द्विदेवताक ऐन्द्रवरुण आदि सोमों का आदित्यस्थाली में मेल हो गया है। उसके पश्चात् आग्रयणस्थाली में चार धाराओं से ग्रहणकाल में अन्य सोमों का भी मेल हो जाता है। (द्रष्टव्य—पूर्व पृष्ठ ७६८ विवरण)। उस संसृष्ट=मिले हुए आज्यस्थालीस्थ सोम से पात्नीवत का ग्रहण कहने से पूर्वदेवताओं का शेषत्व अपनीत हो जाता है। काशीमुद्रित में **अपनीतम्** पाठ है। यह 'शेषत्व' की दृष्टि से है। भाष्य में **अपनीयते हि स शेषः** पाठ '**अपनीतः**' पाठ का ही उपोद्बलक है।

व्याख्या—**यहां वह**(=**द्विदेवताओं का**)**शेष निश्चय से अपनीत होता है, पहले**(=**पुनरभ्युन्नीत सोम**) **के समान नहीं है। वहां**(**सशेषेष्वेव कथन से**) **पात्र लक्षणरूप संकीर्तित है, सोम ग्राह्यरूप कथित नहीं है**[**अर्थात् पुनरभ्युन्नीत सोम में** शुक्रस्याभ्युन्नीय=**सशेष चमसों में द्रोणकलश से सोम** लेकर, ऐसा कहा है। शुक्रान्मैत्रावरुणं गृह्णाति=**द्रोणकलश से मित्रावरुणदेवताक सोम का ग्रहण करे, ऐसा नहीं कहा है**]। यहां तो आग्रयणाद् गृह्णाति(=**आग्रयण से**[**पात्नीवत को**] **ग्रहण करता है**) **से आग्रयणी स्थालीस्थ सोम का यजन किये जानेवाले देवता के प्रति**

माणदेवतां प्रति । ननु स्थाल्यामाग्रयणोऽनाग्रयणश्च । तत्र यस्तस्माद् आग्रयणाद् गृह्यते, स पात्नीवतः । यस्तु सम्पातान्नासौ पात्नीवत इति । उच्यते—आग्रयणोऽपादानम् । तस्माद् योऽपैति आग्रयणोऽनाग्रयणो वा, स सर्वः पात्नीवतः । आग्रयणाच्चैष सर्वोऽपेतः।

नन्वनाग्रयणादप्यपेतः । नैष दोषः । आग्रयणात् तावदपेतः । तेनाऽसौ पूर्वदेवताभिः पीतः, इति न शक्यते वक्तुम् । यो हीन्द्रार्थस्य सोमस्यावयवः शेषः, स इन्द्रपीत इति प्रकृतावुच्यते । इहापि तद्वदेव पूर्वदेवतार्थस्यावयवो वदितव्यः । ननु योऽसौ पूर्वदेवतार्थस्तस्यैवायमवयवः । नेति ब्रूमः । न हि हुतस्यावयवो दृश्यते । ननु प्रकृतावपि हुतस्यावयवो न दृश्यते । उच्यते—हुताहुतस्य समुदायस्य तत्राऽवयव उपलक्ष्यते तद्देवतस्य ।

निर्देश होता है । (आक्षेप) **आग्रयण स्थाली में आग्रयण और अनाग्रयण सोम है । वहां जो उस आग्रयण स्थाली से गृहीत होता है, वह पात्नीवत है । और जो** [द्विदेवताओं के] **सम्पात (=टपकाये गये) से गृहीत होता है वह पात्नीवत नहीं है ।** (समाधान) [आग्रयणाद् गृह्णाति में] **आग्रयण अपादान है । उससे जो सोम** [ग्रहण क्रिया से] **पृथक् होता है, चाहे वह आग्रयण होवे अथवा अनाग्रयण होवे, वह सब पात्नीवत है । क्योंकि यह सारा** [पात्नीवत] **सोम आग्रयण से पृथक् हुआ है ।**

विवरण—स्थाल्यामाग्रयणोऽनाग्रयणश्च—आग्रयण-स्थाली में जो चार धाराओं से सोम गृहीत है, उनमें एक धारा द्रोणकलशस्थ सोम की है, दूसरी धारा भी आग्रयणस्थ सोम की है। तृतीय धारा आदित्य स्थालीस्थ द्विदेवताक सोमों के शेष की है, और चौथी धारा आदित्य ग्रह के सम्पात की है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७६८)। **यस्तु सम्पातान्नासौ पात्नीवतः**—आग्रयण से अर्थात् प्रथम-द्वितीय धारा से प्राप्त सोम का जो ग्रहण है,वह पात्नीवत है। उस ग्रहण में पूर्व देवताओं के शेष का जो अंश गृहीत होता है,वह पात्नीवत नहीं है। इस कारण पात्नीवत के भक्षणमन्त्र में पत्नीवान् देवता के साथ पूर्व दो-दो देवताओं का भी निर्देश करना चाहिये । **तस्माद् योऽपैति**— सिद्धान्ती का कथन है कि अपादान क्रिया से जो सोम पृथक् होता है, वह न आग्रयण है और नाही अनाग्रयण, वह तो सारा पात्नीवत है ।

व्याख्या—(आक्षेप) [**पात्नीवत के लिये ग्रहण किया गया सोम**] **अनाग्रयण** (=**पूर्व द्विदेवत्य शेष**) **से भी तो पृथक् हुआ है ।** (**समाधान**) **यह दोष नहीं है ।** [आग्रयणाद् पात्नीवतं गृह्णाति वचन से] **आग्रयण से** [पात्नीवत] **पृथक् हुआ है । इस हेतु से यह** (=**आग्रयण से पृथक् हुआ सोम**) **पूर्व देवताओं से पीया गया है, ऐसा नहीं कह सकते । जो इन्द्र के लिये गृहीत सोम का शेष अवयव है, वह इन्द्रपीत प्रकृति में कहा जाता है । इस प्रकार यहां भी उसी प्रकार पूर्व देवता के लिये गृहीत सोम का अवयव जानना चाहिये ।** (आक्षेप) **जो यह पूर्व** [दो]**देवताओं के लिये गृहीत सोम था,उसी का यह अवयव है ।**(समाधान)**नहीं है, ऐसा हम कहते हैं। हुत** (=**अग्नि में होम किये गये**) **का अवयव नहीं देखा जाता है ।** (आक्षेप) **प्रकृति**(=**इन्द्र देवतावाले सोम**) **में भी हुत सोम अवयव नहीं देखा जाता है ।** (समाधान) **हुत** (=**अग्नि में छोड़े गये**) **और अहुत** (=**शेष रहे**) **सोम के समुदाय का वहां अवयव लक्षित होता है उस**

नन्विहापि समुदाय एवासीत तद्देवत्यः। तस्यैवायमवयवः। नेत्युच्यते। आसीदयं समुदायस्तद्देवत्यः। इदानीं तस्यावयवोऽन्यदेवत्यो जातः। तेन समुदायस्तद्देवत्यत्वादपेतः।

आह। पूर्वदेवतापीतस्यासावयव आसीत्, तेन भूतपूर्वगत्या भविष्यति। उच्यते—प्रकृतौ न भूतपूर्वगत्याभिधानं कृतम्। इहापि तद्वदेव न कर्त्तव्यमिति। अपि च, इन्द्रदेवत्यः

देवतावाले का। (आक्षेप) यहां भी तो समुदाय ही उस देवता (=द्विदेवता) वाला था। उसी का यह अवयव है। (समाधान) नहीं है, ऐसा कहते हैं। था [कभी] यह समुदाय उस देवता (=द्विदेवता) वाला। इस समय उसका अवयव अन्य [पात्नीवत] देवतावाला हो गया है। इसलिये [आग्रयणस्थाली में चार धाराओं से गृहीत सोम का] समुदाय उस देवतात्व (=द्विदेवतात्व) से पृथक् हो गया है।

विवरण—नहि हुतस्यावयवो दृश्यते—सिद्धान्ती का तात्पर्य 'यहां अग्नि में जो सोम हुत हो चुका है, उसका अवयव नहीं जाना जाता है' ऐसा सामान्यतः प्रतीयमान नहीं है। अपितु उसका तात्पर्य है—जिस समुदाय का एक भाग हुत हो चुका है, उसका अवयव यहां नहीं जाना जाता है। तन्त्रवार्तिककार भट्ट कुमारिल ने **हुतस्य** का सम्बन्ध देवता के साथ लगाकर कहा है—'हुत देवताक से अन्य उसका देवता नहीं है, पूर्व देवताओं के अपनीत हो जाने से। हमारी व्याख्या भाष्य के उत्तरवचन 'हुताहुतस्य समुदायस्य' के अधिक अनुकूल है, तथा सरल भी है। **ननु प्रकृतावपि हुतस्यावयवो न दृश्यते**—पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के वचन के सामान्यतः प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार करके कहता है कि प्रकृति में भी तो अग्नि में छोड़े गये सोम का अवयव शेष नहीं है। **हुताहुतसमुदायस्य**-इससे सिद्धान्ती अपने तात्पर्य का स्पष्टीकरण करता है। सिद्धान्ती के तात्पर्य को भले प्रकार गृहीत न करके पुनः पूर्वपक्षी कहता है—**नन्विहापि समुदाय**······। **आसीदयं समुदायस्तद्देवत्यः**—यहां चार धाराओं से गृहीत कृत्स्न आग्रयणस्थ सोम को द्विदेवत्य कहना प्रौढोक्ति (=जबरदस्ती का समाधान) है। क्योंकि आग्रयणस्थ सोम में जो द्विदेवत्य सोमों का सम्पात आदित्यस्थाली से गृहीत है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७६८), उतना ही द्विदेवत्य हो सकता है। सम्पूर्ण आग्रयणस्थ सोम द्विदेवत्य नहीं है। प्रौढोक्ति का प्रयोग समाधाता वहां करता है, जब उस प्रकार कहने पर भी उनका समाधान करने में समाधाता समर्थ होवे। उसी समाधान की ओर भाष्यकार संकेत करते हैं—**इदानीं तस्यावयवोऽन्यदेवत्यो जातः।**

व्याख्या—**(आक्षेप) पूर्व देवताओं से पीत [आग्रणयणस्थ सोम का] वह अवयव (=पात्नीवत ग्रह में गृहीत) था। इस कारण भूतपूर्वगति से [द्विदेवत्य संबन्ध] हो जायेगा। (समाधान) प्रकृति में [इन्द्रपीतस्य के निर्देश में] भूतपूर्वगति से कथन नहीं किया है [वहां तो वह प्रत्यक्ष में इन्द्रपीत सोम का शेष है]। उसी प्रकार यहां भी भूतपूर्व गति से कथन नहीं करना चाहिये। और भी, वहां प्रकृति में इन्द्र देवतावाले सोम को इन्द्रपीत कहा है। और वहां (=पुनर-**

तत्रेन्द्रपीत इत्युक्तम् । अनपनीता च तस्येन्द्रदेवत्यता । अस्य पुनः पूर्वदेवतासम्बन्धोऽपगतः। तस्मान्नात्र पूर्वदेवता उपलक्षणीया इति ॥३३॥ इति पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१३॥

भ्युन्नीत सोम में) इन्द्रदेवतात्व अपनीत (=दूर) नहीं हुआ है। यहां इस (=पात्नीवत सोम) का पूर्वदेवता-सम्बन्ध अपगत हो गया है। इसलिये यहां [पात्नीवत के शेष-भक्षण के समय भक्षमन्त्र में] पूर्व देवता को लक्षित नहीं करना चाहिये ॥३३॥

विवरण—भूतपूर्वगत्या भविष्यति—भूतपूर्वगति=भूतपूर्व का ज्ञान, उससे कथन व्यवहार करना। जैसे किसी राजा के राज्य से च्युत हो जाने पर भी जयपुर का महाराजा वा उदयपुर का महाराणा कहना। अथवा किसी श्रेष्ठी के दिवालिया हो जाने पर भी सेठ जी कहना। अथवा किसी ब्राह्मण के आचार वा कर्म से भ्रष्ट हो जाने पर भी उसे ब्राह्मण कहना। ऐसे आचार वा कर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण के लिये ही **जातिब्राह्मण एव सः**' (ब्राह्मणकुल में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण) ऐसे निन्दावचन का प्रयोग होता है। वस्तुतः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि जाति शब्द नहीं हैं,[1] वर्णवाचक शब्द हैं। गुण कर्म और स्वभाव से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का निर्धारण होता है। यथा—**—चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** (गीता ४।१३); तथा गीता १८।४१—४४। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा **है—अथवा सर्व एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य शूद्र इति। तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः** (महाभाष्य २।२।६); इस की हमारी महाभाष्य हिन्दीव्याख्या भी देखें। एक ही जन्म में एक वर्ण से वर्णान्तर को प्राप्त होने के जो वर्णन इतिहास-पुराणों में वर्णित हैं, यथा 'विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण, और मातङ्ग का चण्डाल से ब्राह्मण होना' की उपपत्ति ब्राह्मणादि शब्दों को गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण शब्द मानने पर ही होती है। ब्राह्मण आदि को गौ अश्व आदि के समान जातिशब्द मानने पर जैसे गौ का गोत्व जन्म से मरणपर्यन्त अपरिहार्य रूप से रहता है, वैसे ही ब्राह्मण आदि में आचार वा कर्म से भ्रष्ट होने पर भी ब्राह्मणत्व स्वीकार करना होगा, और वह स्वजाति से बहिर्भूत नहीं माना जा सकेगा। **अनपनीता च तस्येन्द्रदेवत्यता—**पुनरभ्युन्नीत सोम में इन्द्र का देवतात्व अपनीत नहीं हुआ है, क्योंकि वहां होत्रक चमसों में प्रथम इन्द्र के लिये गृहीत सोम का होम करने पर जो शेष सोम बचा है उसी सशेष सोमचमस में द्रोणकलश से मित्रावरुण आदि देवताओं के लिये सोम का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रदेवताक अवशिष्ट सोम का ही मित्रावरुण आदि के लिये ग्रहण नहीं होता है। अतः मित्रावरुण आदि के लिये

---

१ इस का विस्तार से शास्त्रीय निरूपण श्री स्वामी माधव चैतन्य भारती कृत 'जात्युपाधिविवेकः' ग्रन्थ में देखें।

पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम् ॥१४॥

अस्ति पात्नीवतः सोमः। तत्र मन्त्रः—अग्ना३इ पत्नीवा३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब[1], इति। तत्र सन्देहः—किं त्वष्टा उपलक्षयितव्यः, न वेति? किं प्राप्तम्? उपलक्षयितव्यः। कुतः?

त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् ॥३४॥ (पू०)

पानात्। पानं श्रूयते—सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब, इति। तेनायमग्नये पत्नीवते सह त्वष्ट्रा दीयते, इति गम्यते। यस्मै च येन सह दीयते, उभाभ्यां तद्दीयते। एवं तत्सहदानं भवति। यथा देवदत्ताय यज्ञदत्तेन सह शतं दीयताम् इत्युक्ते तत्रोभाभ्यामपि दीयते। तस्मात् त्वाष्ट्रोऽप्यसौ सोमः। इति त्वष्टोपलक्षयितव्यः। असावपि इन्द्र इव पिबतीति ॥३४॥

हुत सोम के शेष में इन्द्र का सम्बन्ध बना रहता है। यहां पुनः आग्रयण-स्थाली में द्विदेवत्य सोमों तथा अन्य सोमों का जो मिला हुआ सोम है, उससे पात्नीवत देवता के लिये सोम का ग्रहण होता है। अतः यहां आग्रयण-स्थाली से गृहीत सोम का पूर्व देवता के साथ संबन्ध-विच्छेद हो जाता है ।३३।

—:o:—

व्याख्या—**पत्नीवान् देवता-सम्बन्धी सोम है। उसमें [होम का] मन्त्र है—**अग्ना३इ पत्नीवा३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोम पिब (**=हे पत्नीवन् अग्ने! त्वष्टा देव के साथ तुम प्रीतिपूर्वक सोम का पान करो)। इस विषय में सन्देह है—क्या [पात्नीवत सोम के शेष का भक्षण करते हुए भक्षमन्त्र में] त्वष्टा को लक्षित करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? उपलक्षित करना चाहिये। किस कारण से?**

विवरण—पात्नीवत सोम अग्निष्टोम में तृतीय सवन में है।

त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् ॥३४॥

सूत्रार्थः—[होममन्त्र में] (पानात्) त्वष्टाके सोमपान का निर्देश होने से (त्वष्टारम्) त्वष्टा को (तु) तो (उपलक्षयेत्) उपलक्षित करना चाहिये ॥

व्याख्या—**पान के कारण से। [सोम के] पान में [त्वष्टा भी] सुना जाता है—**सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब। **इस मन्त्र से यह [पात्नीवत सोम] त्वष्टा के साथ अग्नि पत्नीवान् देवता के लिये दिया जाता है, ऐसा जाना जाता है। जिसके लिये और जिसके साथ दिया जाता है, वह दोनों के लिये दिया जाता है। इस प्रकार [दोनों के लिये] सहदान होता है। जैसे 'यज्ञदत्त के साथ देवदत्त को सौ [रुपये] देओ' ऐसा कहने पर दोनों को ही दिये जाते हैं। इसलिये यह सोम त्वाष्ट्र (=त्वष्टा देवतावाला) भी है। अतः त्वष्टा का [भक्षमन्त्र में] निर्देश करना चाहिये। क्योंकि वह (=त्वष्टा) भी इन्द्र के समान [सोम का] पान करता है ॥३४॥**

---

१. तै० सं० १।४।२७॥

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥३५॥ (उ०)

नैतदेवम् । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्[1] । शब्दश्चाग्नेः पत्नीवतः पानमाह,त्वष्टुः सहभावमात्रम् । न ह्यननुष्ठीयमाने सहभावः सिद्ध्यति, इति त्वष्टरि पानमनुमीयते । ननु त्वष्ट्रे [2]पानञ्चोदितम् । सत्यं चोदितं मन्त्रवर्णेन, न चोदनया । चोदना हि पात्नीवतं गृह्णातीति । लोके तु कार्य्यं[3] दृष्ट्वाऽचोदितमप्यनुमीयत एव । लोकतश्चैतत्परिच्छिन्नम्, नैवञ्जातीयकेन वाक्येन, त्वष्टुः सोमः कृतो भवति इति ॥३५॥ इति पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम् ॥१४॥

अतुल्यत्वात् तु नैवं स्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—[त्वष्टा के] (तु) तो (अतुल्यत्वात्) पत्नीवान् अग्नि के तुल्य न होने से (एवम्) इस प्रकार (न स्यात्) नहीं होवे । अर्थात् त्वष्टा का भक्षमन्त्र में पत्नीवान् इन्द्र के साथ निर्देश न होवे ॥

व्याख्या—यह इस प्रकार नहीं है । हम शब्द को प्रमाण माननेवाले हैं । जो शब्द कहता है, वह हमारे लिये प्रमाण है । शब्द पत्नीवान् अग्नि के [सोम के] पान को कहता है, त्वष्टा का तो [उस सोमपान में] सहभाव (=साथ होना) मात्र है । अनुष्ठान न करते हुए (=साथ न देते हुए) सहभाव सिद्ध नहीं होता है, इस कारण त्वष्टा के विषय में हम पान का अनुमान करते हैं । (आक्षेप) त्वष्टा के लिये [सोम का] पान कहा है । (समाधान) सत्य है, मन्त्र के वर्णन से [त्वष्टा के लिये सोमपान] कहा गया है, परन्तु विधिवाक्य से नहीं कहा गया । विधिवचन तो पात्नीवतं गृह्णाति (=पत्नीवान् देवतावाले सोम का ग्रहण करता है) ही है । लोक में तो कार्य को देखकर वचन से न कहे गये कार्य का भी अनुष्ठान किया ही जाता है । 'त्वष्टा के लिये सोम होता है' यह लोक से जाना जाता है इस प्रकार के वाक्य से नहीं जाना जाता है ॥३५॥

विवरण—भाष्य में सूत्र के **अतुल्यत्वात्** पद का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है । उसे इस प्रकार जानना चाहिये—**सजूर्देवेन त्वष्ट्रा** में तृतीया का निर्देश सहार्थ के योग में होता है । और जिस में तृतीया होती है, वह अप्रधान=गौण होता है । पाणिनि का निर्देश है—**सहयुक्तेऽप्रधाने** (अष्टा० २।३।१९) । **पुत्रेण सह पिता गच्छति; शिष्येण सह आचार्य आगतः** यहां **गच्छति** और **आगतः** क्रिया में पिता और आचार्य का प्राधान्य है, पुत्र और शिष्य अप्रधान हैं, उनका सहभाव मात्र है। यदि कहो कि पाणिनि ने **सहयुक्ते** का निर्देश किया है, **सजूर्देवेन त्वष्ट्रा** में 'सह' शब्द का

---

१. महाभाष्य अ० १, पा० २, आह्निक १। २. 'दानम्' इति पाठान्तरम् ।

३. 'दृष्ट्वाऽचोदितमनुष्ठीयत एव' इति । 'दृष्ट्वा चोदितमचोदितमप्यनुष्ठीयत एव' इति च पाठान्तरम् ।

[पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१५॥

तस्मिन्नेव पात्नीवते मन्त्रः—**ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः। पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधम वह मादयस्व'**, इति। तत्र सन्देहः—किं त्रयस्त्रिंशतो

निर्देश नहीं है,तो यह बात अकिञ्चित्कर=तुच्छ है। पाणिनि ने **पुमान् स्त्रिया** (अष्टा० १।२।६७) सूत्र में बिना सह के योग के भी तृतीयान्त **स्त्रिया** का निर्देश किया है। अतः सहभाव मात्र गम्यमान होने पर अप्रधान में तृतीया होती है, यह **सहयुक्तेऽप्रधाने** सूत्र का तात्पर्य है।

शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्—यह पातञ्जल महाभाष्य (अ० १। पा० १।आ०१) का वचन है। इसी का यहां शब्द स्वामी ने उपयोग किया है। **नह्यननुष्ठीयमाने सहभावः सिद्ध्यति**—प्रधान की क्रिया का अप्रधान के द्वारा अनुष्ठान न होने पर सहभाव सिद्ध नहीं होता है। जैसे—**पुत्रेण सह पिता गच्छति**, यहां पिता के समान पुत्र भी गमन क्रिया करता है, तभी वह पिता का साथी बनता है। केवल पिता ग्रामान्तर को जावे, और पुत्र घर में बैठा रहे, तो **सह पुत्रेण पिता गच्छति** वाक्य का प्रयोग नहीं होगा। **त्वष्ट्रे दानं चोदितम्—सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा** मन्त्र में पिब का निर्देश होने से त्वष्टा के लिये भी सोम का पान कहा गया है। **लोके तु कार्यं दृष्ट्वा**—लोक में **पुत्रेण सह पिता गच्छति** वाक्य का प्रयोग होने पर पुत्र में अचोदित (=न कही हुई गमनक्रिया जानी जाती है, तद्वत् यहां (=**सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा** मन्त्र में अचोदित=विधिवाक्य से न कहा गया, त्वष्टा के लिये सोम के पान का अनुष्ठान किया ही जाता है। **एतत् परिच्छिन्नम्**—त्वष्टा के लिये सोम का त्याग। **नैवंजातीयकेन वाक्येन**—इस प्रकार के वैदिक वाक्य से यह अर्थ नहीं जाना जाता है, अर्थात् **देवेन सह त्वष्ट्रा सोमं पिब** का अर्थ है—'जो तू त्वष्टा के साथ विद्यमान है,सो तू सोम का पान कर'। भट्ट कुमारिल ने कार्य (=क्रिया) के साथ सम्बन्ध न होने पर भी 'सह' शब्द के प्रयोग का उदाहरण दिया है—**'सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी'** यहां दश पुत्रों की विद्यमानतामात्र विवक्षित है। इस लिये इस का अर्थ होता है—दश पुत्र होने पर भी गर्दभी भार ढोती है॥३५॥

—:०:—

व्याख्या—**उसी पात्नीवत कर्म में याज्या] मन्त्र है**—ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः। पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व (=**हे अग्ने! इन आगे जानेवाले तैंतीस देवों के साथ समान रथवाले=एक रथवाले=एक रथ में बैठकर समीप में आओ। अथवा यतः तुम्हारे अश्व विविध रूपों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, अतः नाना रथों पर बैठकर आओ। पत्नीवत्=पत्नीवाले तैंतीस देवों को अन्न=सोम प्राप्त कराओ। और सोमपान के पश्चात् तृप्त करो)। इस में सन्देह होता है—[भक्षमन्त्र में] क्या तैंतीस देवों का**

---

१. ऋ० ३।६।६; आश्व० श्रौत ५।१८।७।

देवानामुपलक्षणं कर्त्तव्यम्, उत नेति ? किं प्राप्तम् ? त्रयस्त्रिंशतं देवानुपलक्षयेत् । कथम् ? दीयते हि सोमस्त्रयस्त्रिंशते देवेभ्यः । एवं हि अग्निमग्नीदधीच्छति—आयाहि अग्नेऽर्वाचीनं त्रयस्त्रिंशता देवैः सह समानं रथमधिष्ठाय नानारथैर्वा, विभवन्ति हि ते अश्वाः । तदिदमनुष्वधमावह त्रयस्त्रिंशतं पत्नीवतो देवान् आगमय तर्पय चेति । अत्र हि, अग्निमग्नीदधीच्छति त्रयस्त्रिंशतो देवानां तृप्तये, इति गम्यते । यत्प्रधानश्चाऽत्र मन्त्रः, तत्परः सोमः । तस्मादुच्यते—त्रयस्त्रिंशद् वा उपलक्षयितव्या इति । ननु चोदनायां पत्नीवान् केवलोऽग्निर्देवतात्वेन श्रूयते । सत्यम्, चोदनायां पत्नीवान् देवतात्वेन श्रूयते, न तु देवतान्तरं निषिद्धयते । किमतो यद्येवम् ? एतदतो भवति-मान्त्रवर्णिकास्त्रयस्त्रिंशद् वा अविरुद्धाश्चोदनायां प्रतीयन्ते इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥ (सि०)

न त्रयस्त्रिंशद् वा उपलक्षयितव्या इति । नात्र मन्त्रे अग्निः आह्वाता परिवेष्टा वा तर्पयिता वा अध्येष्यते । नात्र त्रयस्त्रिंशद् वेष्विष्टेषु प्रयोजनं निर्वर्त्यते । कस्तर्हि यष्टव्यः ? पत्नीवान् । कुत एतत् ? स हि चोद्यते—'पात्नीवतं गृह्णाति, इति'[1] । ननु मान्त्र-

उपलक्षण करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है? तैंतीस देवों को लक्षित करे । किस हेतु से ? तैंतीस देवों को सोम दिया जाता है । अग्नीत् अग्नि को इस प्रकार सत्कार-पूर्वक प्रेरित करता है —हे अग्ने ! समीप आओ, तैंतीस देवों के साथ एक रथ पर बैठकर अथवा नाना रथों से, तुम्हारे अश्व विविधरूप ग्रहण में समर्थ हैं । इस अनुष्वध (=सोम) को प्राप्त कराओ, पत्नीवत् तैंतीस देवों को प्राप्त कराओ और तृप्त करो । यहां अग्नीत् तैंतीस देवों की तृप्ति के लिये इच्छा करता है, ऐसा जाना जाता है । जिसकी प्रधानतावाला यहां मन्त्र है, उसके लिये सोम है । इसलिये कहते हैं—तैंतीस देवों को लक्षित करना चाहिये । (आक्षेप) विधिवाक्य (=पात्नी-वतं गृह्णाति) में केवल पत्नीवान् अग्नि देवतारूप से श्रुत है । (समाधान) सत्य है, विधिवाक्य में पत्नीवान् ही देवतारूप से सुना जाता है, देवतान्तर का उसमें निबन्धन (=निषेध) नहीं है । इस से क्या यदि ऐसा है ? इससे यह होता है—मन्त्रवर्ण से प्राप्त अविरुद्ध तैंतीस देवता विधि-वाक्य में ज्ञात होते हैं । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं—

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(च) और (त्रिंशत्) [तीन अधिक] तीस देवता भी [त्वष्टा के समान] पात्नी-वत सोम में उपलक्षित नहीं होते हैं, उनके (परार्थत्वात्) स्तुत्यर्थ होने से ॥

विशेष—सूत्र में 'त्रिंशत्' पद त्रयस्त्रिंशद् देवताओं के उपलक्षणार्थ है ।

व्याख्या—तैंतीस देवों को लक्षित नहीं करना चाहिये । इस [ऐभिरग्ने०] मन्त्र में न अग्नि बुलानेवाला, न सोम परोसने (=देने) वाला, और न तर्पयिता सत्कारपूर्वक प्रेरित किया जाता है । न यहां (=पात्नीवत कर्म में) तैंतीस देवों के यजन से प्रयोजन सिद्ध होता है । तो कौन देवता यजन के योग्य है ? पत्नीवान् । यह कैसे ? उसी की विधि है—पात्नीवतं गृह्णाति ।

१. पूर्वत्र (मी० ३।२।३३ भाष्ये) उद्धृतवचनस्यैकदेशः ।

र्वाणकानां त्रयस्त्रिंशतो देवानामत्र सङ्कीर्त्तनम् । उच्यते—परार्थत्वेन ताः सङ्कीर्त्यन्ते। कथम् ? न हि अप्रत्तमग्नेस्तद्भवति। न च परकीयस्य दानमवकल्पते। तस्मात् 'त्वम-मूभ्यस्त्रयस्त्रिंशद्देवताभ्यो देहि' इत्यसमञ्जसं वचनम्। अग्नये त्वनेन दानमुक्तं भवति। कथम् ? ईशानो हि विलम्भयति द्रव्यम्। तदिह विलम्भनं सङ्कीर्त्तयन्, त्वमस्य ईशानः, इति प्रत्याययति।

ननु मादयस्वेत्युच्यते, न विलम्भयेति। उच्यते—न हि माद्यन्ति देवताः। तस्मा-न्मदकरणसङ्कीर्त्तनमदृष्टाय स्यात्। दृष्टाय तु त्यागसङ्कीर्त्तनं लक्षणया। लक्षणा हि अदृष्टकल्पनाया ज्यायसी। प्रमाणाद् हि सा भवति। ननु त्यागेऽपि लक्ष्यमाणेऽग्निः कर्त्ता अधीष्यते। तदुच्यते—अग्नेरप्यध्येषणाऽदृष्टार्थैव। तस्मादग्नेरैश्वर्य्यकरणमेतद् वाक्यं लक्षयतीति न्याय्यम्। अपि च, पात्नीवते सोमश्चोद्यते—पात्नीवतं गृह्णाति, इति।

(आक्षेप) यहां (=पात्नीवत सोम में) मन्त्रवर्णित तैंतीस देवताओं का संकीर्तन (=कथन) [किस लिये है ?] (समाधान) परार्थ (=स्तुति के लिये) वे देवता संकीर्त्तित हैं। कैसे ? अप्रत्त (=न दिया हुआ) [सोम] अग्नि का नहीं होता है। और दूसरे की वस्तु का दान भी उपपन्न नहीं होता है। इस कारण 'तू इन तैंतीस देवों को दे' यह कथन अयुक्त है। अग्नि के लिये तो दान इस मन्त्र से उक्त होता है। कैसे ? [किसी द्रव्य का] ईशान (=स्वामी) ही द्रव्य को अन्य को वितरित करा सकता है। इससे यहां वितरण का संकीर्तन करता हुआ, तू इस [सोम] का स्वामी है, ऐसा बोधित कराता है।

विवरण—अग्निमग्मीदधीच्छति—अधिपूर्वक 'इष' सत्कारपूर्वक व्यापार में प्रयुक्त होता है। द्र०—काशिका ३।३।१६१—**अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः। अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवान् उपनयेत्। ईशानो हि विलम्भयति द्रव्यम्**—विपूर्वक 'लभ' धातु वितरण अर्थ में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—(आक्षेप) [मन्त्र में] मादयस्व (=मत्त करो) ऐसा कहा है, विलम्भय (=वितरित करो) ऐसा नहीं कहा है। (समाधान) देव लोग मत्त नहीं होते हैं। इस कारण मदनकरण (=मत्त करने) का कथन अदृष्ट के लिये होवे। लक्षणा से त्याग का कथन दृष्ट प्रयोजन के लिये है। अदृष्ट की कल्पना से लक्षणा का आश्रयण श्रेष्ठ है। क्योंकि वह (=लक्षणा) प्रमाण (=किसी हेतु से होती है। (आक्षेप) त्याग के लक्षित करने पर भी तो अग्नि कर्त्तारूप से व्यापृत किया जाता है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—अग्नि की भी अध्येषणा (=प्रेरित करना) अदृष्टार्थ ही है। इस हेतु से अग्नि के ऐश्वर्य्यकरण (=स्वामी बनाने को) यह वाक्य लक्षित करता है, यही न्याय्य है। और भी, पात्नीवत में सोम कहा गया है—पात्नीवतं गृह्णाति=पत्नीवान् देवतावाले सोम का ग्रहण करता है। [इस से यहां लक्षणा से 'अग्नि सोम का स्वामी है' यह कहा जाता है।]

ननूक्तम्—मान्त्रवर्णिकं न प्रतिषेधति चोदनेति। उच्यते—तदपि मान्त्रवर्णिकं नास्तीत्युक्तम्। अपि च, सामर्थ्यात् प्रतिषेधतीति गम्यते। न हि सापेक्षः पत्नीवच्छब्द-स्तद्धितार्थेन संलक्ष्यते। तस्मात् केवलः पत्नीवान् देवतेति। एतच्चोदनावशेन मन्त्रो वर्णनीयः। तस्माद् यथैवास्माभिर्वर्णितो[1] मन्त्रः, तथैव भवितुमर्हतीति। पत्नीवांश्चाग्निः। अग्ने पत्नीवन्निति[2] सामानाधिकरण्येन निर्दिश्यते। तस्मादग्निरुपलक्षयितव्यः, न त्रय-स्त्रिंशद् देवता इति ॥३६॥ **इति पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम्** ॥१५॥

(आक्षेप) यह जो कहा है—मन्त्र के वर्णन से प्राप्त [देवतारूप] अर्थ को विधिवाक्य प्रतिषेध नहीं करता है। **(समाधान)** वह [देवतात्व] भी मन्त्रवर्णन से प्राप्त नहीं है, यह कहा है। और भी, सामर्थ्य से [विधिवाक्य मान्त्रवर्णिक देवतात्व का] प्रतिषेध करता है, ऐसा जाना जाता है। सापेक्ष (=अन्य तैंतीस देवों की अपेक्षा रखनेवाला) पत्नीवत् शब्द तद्धितार्थ से लक्षित नहीं होता हैं। इसलिये केवल पत्नीवान् देवता है। इस (=पात्नीवत गृह्णाति) विधिवाक्य के अनुसार मन्त्र का व्याख्यान करना चाहिये। इस कारण हमने जिस प्रकार मन्त्र का अर्थ कहा हैं, उसी प्रकार हो सकता है। पत्नीवान् अग्नि है। [इसीलिये मन्त्र में] **अग्ने पत्नीवन्** इस प्रकार सामाना-धिकरण्य से निर्दिष्ट होता है। इस हेतु से अग्नि को [भक्षण में] लक्षित करना चाहिये, त्रयस्त्रिंशत् देवताओं को लक्षित नहीं करना चाहिये ॥३६॥

विवरण—नहि सापेक्षः पत्नीवच्छब्दः तद्धितार्थेन संलक्ष्यते—'पात्नीवत शब्द में तद्धितार्थ है—'पत्नीवत् देवता है जिस हवि का, वह'। यहां **साऽस्य देवता** (अष्टा० ४।२।२३) सूत्र से तद्धित प्रत्यय अण् होता है। तद्धित के प्रकरण में **समर्थात् प्रथमाद्वा** (अष्टा० ४।१।८२) से समर्थ की अनु-वृत्ति है। अतः अर्थ होता है—समर्थ पत्नीवत् शब्द से अस्य देवता (=इस की देवता है) इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। सापेक्ष=अन्य की अपेक्षा रखनेवाला शब्द असमर्थ होता है। उस से तद्धित-प्रत्यय उत्पन्न नहीं होता है (इस विषय में विशेष विचार पूर्व भाग २ में देखें)। इसी लिये भाष्यकार ने कहा है—पात्नीवत के तद्धितार्थ से सापेक्ष पत्नीवत् देवता लक्षित नहीं होता है। **एतच्चोदनावशेन मन्त्रो वर्णनीयः**—यह कथन वहीं तक ठीक है, जहां तक विनियोग मन्त्रार्थ के अनुकूल होवे। किन्तु जहां विनियोग किसी पद वा वर्णमात्र के सादृश्य से किया गया हो [चाहे वह ब्राह्मण श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र किसी में भी क्यों न होवे], वहां चोदना=विधिवाक्य के अनुसार मन्त्र का अर्थ करना कथंचित् भी युक्त नहीं है। यथा—**दधिक्राव्णोऽकारिषम् इति आग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य** (आश्व० श्रौत० ६।१३) में दधिक्रावा=घोड़े को वाचक शब्द में दहीवाचक दधि के सादृश्य से दही के द्रप्स खाने में विनियोग किया है; **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम** (यजु० २५।२१); **तथा वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णम्** (यजु० २९।४०) मन्त्रों को कर्ण शब्दमात्र के दर्शन से कर्णवेधन

---

१. 'ऐभिरग्ने सरथं याहि' इति मन्त्रः।

२. द्र०—**अग्ना३इ पत्नीवा३ः** इति पूर्वनिर्दिष्टः (मी० ३।२।३४ भाष्ये) मन्त्रः।

[भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१६॥]

अस्ति अनुवषट्कारदेवता—**सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति**[1], इति। तत्र सन्देहः—किमनुवषट्कारदेवता उपलक्षयितव्या न वेति? किं प्राप्तम्? उपलक्षयितव्येति। न तत्र पारार्थ्यं किञ्चित् पूर्ववदुपलक्ष्यते। तस्मादुपलक्षयितव्येति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

में कात्यायन गृह्य में विनियोग किया है; **शन्नो देवीरभिष्टये** (यजु० ३६।१२) में शकारमात्र के सादृश्य से शनैश्चर ग्रह की पूजा; और **उद्बुध्यस्व** (यजु० १५।५४) मन्त्र में बुध अनर्थक शब्द के सादृश्य से बुध-ग्रह की पूजा में अग्निवेश आदि गृह्य में विनियोग दर्शाया है। ऐसे स्थलों में विनियोग के अनुसार मन्त्रार्थ करना मन्त्रार्थ की हत्या करना है। इसी लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में ब्राह्मण श्रौतसूत्र पूर्वमीमांसा आदि के कर्मकाण्डपरक विनियोगों को स्वीकार करते हुए भी लिखा है—**तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तेऽपि विनियोगो गृहीतुं योग्योऽस्ति**। अर्थात्—इस से युक्तिसिद्ध वेदादि-प्रमाणानुकूल मन्त्रार्थ का अनुसरण करनेवाला उन ग्रन्थों में उक्त विनियोग ग्रहण करने योग्य है (द्र०—ऋग्वेदभाष्य भाग १ पृष्ठ ३८८ रा० ला० कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित)। यहां युक्तिसिद्ध शब्द से शतपथ १३।५।२।२ में परिशिष्टरूप से, तथा कात्यायन श्रौत २०।६।१४-१७ में **गणानां त्वा गणपतिं** (यजुः० २३।१९) का अश्व और राजा की महिषी के संयोगरूप युक्तिविरुद्ध विनि-योग को अग्राह्य कहा है। प्रमाणानुकूल शब्द से **इदं विष्णुर्विचक्रमे** (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र का वामनाव-तार के तीन पैर भूमि मांगने रूप अर्थ को वेदादिसच्छास्त्रों के प्रमाणों से रहित होने के कारण अप्रामा-णिक कहा है। तथा मन्त्रार्थानुसृत शब्द से **दधिक्राव्णः, शन्नो देवी, उद्बुध्यस्व** आदि पदैकदेश वा वर्णैकदेश से किये गये विनियोग को अग्राह्य बताया है। इस विषय में विशेष मी० ३।२।४ के भाष्य के विवरण में पृष्ठ ७२० पर देखें। इसी प्रकार हमारी 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' पृष्ठ ८८-९६ भी देखें ॥३६॥

—:०:—

व्याख्या—**अनुवषट्कार देवता है**—'सोमस्याग्ने वीहि' इत्यनुवषट् करोति'=**सोमस्य अग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट्कार करता है। इसमें सन्देह है—क्या अनुवषट्कार की देवता को [सोम के भक्षण में] लक्षित करना चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये? क्या प्राप्त होता है? अनुवषट्कार की देवता को लक्षित करना चाहिये। उसमें पूर्व के समान परार्थता कुछ भी लक्षित नहीं होती है। इसलिये लक्षित करना चाहिये। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

विवरण—सोमयाग में मध्यतःकारियों के ऐन्द्र चमसों के वषट्कार से होम करने के पश्चात् **सोमस्याग्ने वीहि वौषट्** (ऐ० ब्रा० ३।५) से अनुवषट्कार का विधान है। अनुवषट्कार कहां होता है, कहां नहीं होता है। इस की व्यवस्था निम्न श्लोक में दर्शायी है—

---

१. ऐ० ब्रा० ३।५॥

वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥३७॥ (उ०)

अनुवषट्कारदेवता नोपलक्षयितव्या। कर्तृवत्। यथा कर्त्ता नोपलक्ष्यते—होतृपीतस्याऽध्वर्युपीतस्येति, एवमेवानुवषट्कारदेवताऽपि। न हि सा प्रकृतावुपलक्षिता। यच्च नाम प्रकृतौ कृतम्, तदिह करणीयम्। तस्मान्नोपलक्षयितव्येति॥३७॥ **इति भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम् ॥१६॥**

ऋतुग्रहा द्विदेवत्या यश्च पात्नीवतो ग्रहः।
आदित्यग्रहसावित्रा एते नानुवषट्कृताः ॥
(देवयाज्ञिक सोमयागपद्धति में पृष्ठ ३२६ पर उद्धृत)

इस का भाव यह है कि ऋतुग्रह द्विदेवत्य ऐन्द्रवायवादिग्रह, पात्नीवतग्रह, आदित्यग्रह और सावित्रग्रहों में अनुवषट्कार नहीं होता है। शेष ग्रहचमसों के होम में होता है। यह वषट्कार स्विष्टकृद् भाग के समान है—(द्र०—ऐ० ब्रा० ३।५)।

वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(कर्तृवत्) वषट्कार के करनेवाले होता पोता अध्वर्यु को जैसे **होतृपीतस्य पोतृपीतस्य अध्वर्युपीतस्य** के रूप में लक्षित नहीं किया जाता है, उसी के समान (वषट्कारः) अनुवषट्कार के देवता को (च) भी लक्षित नहीं करना चाहिये॥

विशेष—सूत्र में **वषट्कारः** पद से अनुवषट्कार देवता का उपलक्षण है। कुतुहलवृत्ति में **अनुवषट्कारश्च** पाठ है। वहां केवल उसकी देवतामात्र लक्षितव्य है।

व्याख्या—**अनुवषट्कार के देवता को [भक्षणमन्त्र में] लक्षित नहीं करना चाहिये। कर्त्ता के समान जैसे [वषट्कार के] कर्त्ता को** होतृपीतस्य अध्वर्युपीतस्य **के रूप में लक्षित नहीं करते, इसी प्रकार अनुवषट्कार के देवता को भी लक्षित नहीं करना चाहिये। प्रकृति (=सवनमुखीय मध्यतःकारियों के ऐन्द्र चमसों) में वह अनुवषट्कार देवता लक्षित नहीं किया। जो कार्य प्रकृति में किया है, वह यहां भी करने योग्य है। इसलिये अनुवषट्कार देवता को लक्षित नहीं करना चाहिये ॥३७॥**

विवरण—सोमेन यजेत से विहित सोमयाग में द्विदेवत्य ऐन्द्रवायवादि ग्रहों से अभ्यासरूप दो-दो बार होम किया जाता है, क्योंकि इन में दो वषट्कारों का विधान है (द्र०—कात्या० श्रौत ९।९।१२ तथा देवयाज्ञिक पद्धति पृष्ठ ३१५)। अनुवषट्कार अभ्यासरूप नहीं है। इसका सोमयागाङ्गभूत कर्मान्तर के रूप में विधान है (द्र०—संकर्षकाण्ड १।१। अधि० १, सूत्र १-४, तथा कुतुहलवृत्ति इसी सूत्र पर)। **नहि सा प्रकृतावुपलक्षिता**—यहां प्रकृति से सवनमुखीय मध्यतः कारियों के ऐन्द्र चमसों की ओर संकेत है। इनका प्रकृतित्व पूर्वमी० ३।२।२८ के भाष्य में कह चुके हैं। सोमयाग

[अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम् ॥१७॥

स्थितादुत्तरमुच्यते[1]—

छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥ (पू०)

नैतदस्ति—यदुक्तमूहेन मन्त्रवद् भक्षणं कर्त्तव्यमिति । अमन्त्रकं भक्षणं कर्त्तव्यम् । कस्मात् ? उच्यते—समानविधानत्वात् । नास्त्यत्र प्रकृतिविकृतिभावः । कथम्?

में कहां अनुवषट्कार करना चाहिये कहां नहीं करना चाहिये, इसका ऊपर निर्देश कर चुके हैं। संकर्षकाण्ड१।१।६ के भाष्य में वचन उद्धृत है—**न द्विदेवत्याननुवषट् करोति न ग्रहान् न पात्नीवतः;** तथा १।१।४ के भाष्य में वचन है—**सावित्रे नानुवषट् करोति न भक्षति।** इन वचनों से भी पूर्व-निर्दिष्ट नियम की पुष्टि होती है ॥३७॥

—:०:—

व्याख्या—[पूर्व २८ वें सूत्र में] **स्थित (=रुके हुए विचार) से आगे कहते हैं—**

छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्व २८ वें सूत्र में उक्त एकदेशी के पक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् सोमयाग के एक कर्म होने से यहां प्रकृति-विकृति भाव नहीं है। (**सर्वगामित्वात्**) सोम के अभिषवादि सोमधर्मों के सर्वगामी=तीनों सवनों में होने से। (छन्दःप्रतिषेधः) षोडशी में **'अनुष्टुपछन्दस इति षोडशिनि·· नमति'** वचन षोडशी के तृतीय सवन में होने से **जगतीच्छन्दसः** के प्रतिषेध रूप है ॥

सूत्र का भाव यह है कि सोम के अभिषवादि सोमधर्मों के तीनों सवनों में विद्यमान होने से यह एक ही कर्म है। एक कर्म में प्रकृति-विकृति भाव नहीं होता है। अतः अनैन्द्र हवियों के भक्षण-मन्त्र में ऊह नहीं हो सकता है। और जो ऊह में **अनुष्टुप्छन्दसः** आदि प्रमाण दिया है, वह भी ठीक नहीं है। षोडशी तृतीय सवन में होता है, उस के मन्त्र में **जगतीच्छन्दसः** है। अतः षोडशी में **अनुष्टुप्छन्दसः** का विधान **जगतीच्छन्दसः** के प्रतिषेध के लिये होने से ऊह का लिङ्ग नहीं है।

विशेष—पूर्व अपर्यवसित अधिकरण (सूत्र २७-२८) में **यथादेवतं वा०** (सूत्र२८) से एकदेशी ने जिस ऊहपक्ष की स्थापना की थी, उसका वही (१७ वें सूत्रवाला) पूर्वपक्षी इस सूत्र से खण्डन करता है।

व्याख्या—**यह [पक्ष ठीक] नहीं है— जो कहा है कि ऊह से मन्त्रयुक्त भक्षण करना चाहिये। मन्त्ररहित भक्षण करना चाहिये। किस हेतु से ? (समाधान) समान विधान होने से। यहां प्रकृति-**

---

१. पूर्वत्र २८तमे सूत्रे स्थितादग्र उच्यते।

प्रकरणस्य तुल्यत्वात् । यल्लिङ्गमुक्तम्, छन्दःप्रतिषेधः सः, इत्युच्यते । तृतीयसवनत्वाज्जगतीच्छन्दस इति प्राप्ते,'अनुष्टुप्छन्दस इति षोडशिनि भक्षमन्त्रं नमति'इति समानविधानेऽप्यवकल्पते । यत्तूक्तम्--ऐन्द्रः **सोमो गृह्यते मीयते** [1]**च इति** । नैते ऐन्द्रा अनैन्द्राश्च भिन्नाः यागाः। एकस्यैव एतेऽभ्यासविशेषाः । न चाभ्यासविशेषाणां धर्माः । गुणत्वात् । सर्व एते यागधर्माः । तेन कृत्स्ना यागस्य चोद्यन्ते सोमधर्माः,सोमश्चेति। यच्च **ऐन्द्रो गृह्यते मीयते चेति**,इन्द्रस्य मन्त्राम्नानान्मन्त्रेण ग्रहणं प्रकाशयितव्यम् । इतरासां देवतानां ध्यानादिनेति । तस्मादनैन्द्राणाममन्त्रकं भक्षणमिति ॥ ३८ ॥ **इत्यनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम्** ॥ **कृत्वाचिन्तारूपम्** ॥ १७ ॥

—।०।—

[ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम् ॥१८॥

एवं स्थिते चिन्त्यते । अस्ति तत्रैन्द्राग्नः सोमः--ऐन्द्राग्नं गृह्णाति, इति । तत्र सन्देहः । किं मन्त्रवद् भक्षणम्, अमन्त्रकं वेति ? किं प्राप्तम्?

विकृतिभाव नहीं है। कैसे? [ज्योतिष्टोम] प्रकरण के तुल्य होने से । और जो [प्रकृति-विकृतिभाव (भाष्य ३।२।२८) में] लिङ्ग कहा है, वह छन्द का प्रतिषेध है, ऐसा कहते हैं । [षोडशी ग्रह के] तृतीय सवन में होने से जगतीच्छन्दसः ऐसा प्राप्त होने पर अनुष्टुप्छन्दस इति षोडशिनि [अतिरात्रे] भक्षमन्त्रं नमति यह समान विधान में भी उपपन्न होता है । अर्थात् यह वचन जगतीछन्दसः का प्रतिषेध करके अनुष्टुप्छन्दसः का विधान करता है । और जो कहा है— 'ऐन्द्र सोम गृहीत होता है, और मापा जाता है' । ये ऐन्द्र और अनैन्द्र भिन्न याग नहीं हैं । एक ही [सोमयाग]के ये अभ्यासविशेष हैं। अभ्यासविशेषों के [पृथक्]धर्म नहीं होते है । गुण होने से, अर्थात् सोमयाग प्रधान है, उसके प्रति अन्य याग गुणभूत हैं। [एन्द्र सोम गृहीत होता है, और मापा जाता है आदि] ये सब याग के धर्म हैं। इसलिये सम्पूर्ण सोमधर्म याग के कहे गये हैं, और सोम भी । और जो 'ऐन्द्रः [सोमो] गृह्यते मीयते च' कहा है, वह इन्द्र देवता के मन्त्रपठित होने से मन्त्र से [सोम के] ग्रहण का प्रकाश करना चाहिये [इस बात को दर्शाता है]। इतर देवताओं का ध्यानादि के द्वारा [सोम का ग्रहण करना चाहिये] । इस हेतु से इन्द्र-भिन्न सोम का भक्षण मन्त्ररहित होता है ॥३८॥

विवरण—द्रष्टव्य – इसी सूत्र के अर्थ के नीचे विशेष अङ्कित विवरण ।।३८।।

—:०:—

व्याख्या—इस प्रकार (='अनैन्द्र सोम का अमन्त्रक भक्षण करना चाहिये' यह]स्थित होने पर विचार करते हैं । वहां (= ज्योतिष्टोम में) ऐन्द्राग्न सोम है—ऐन्द्राग्न गृह्णातीति (=ऐन्द्राग्न ग्रह का ग्रहण करता है) । इसमें सन्देह है । क्या [उसका इन्द्रपीतस्य] मन्त्र से युक्त भक्षण करना चाहिये, अथवा मन्त्ररहित भक्षण करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात्॥३९॥ (पू०)

ऐन्द्राग्ने तु मन्त्रः स्यात्। यस्य हि इन्द्राग्नी देवता, तस्येन्द्रः शक्यते हि स इन्द्रपीत इति व्यपदेष्टुम्। यस्य हि अवयवान्तरमिन्द्रेण पीतम्, स इन्द्रपीतः। तस्येन्द्राग्निभ्यां पिबद्भ्यां पीतमवयवान्तरमिन्द्रेण। तस्मान्मन्त्रवद् भक्षणमिति॥३९॥

एकस्मिन् वा देवतान्तराद्विभागवत्॥४०॥(उ०)

नाऽस्यावयवान्तरम् इन्द्रेण पीयते, न चाऽवयवाऽन्तरेण इन्द्रपीतेन तत्पीतं भवति। तेन पीत इति लक्षणाशब्दोऽयम्। इन्द्रमुद्दिश्य यः सङ्कल्पितः, इन्द्रो यस्य देवतेति। यथैव च साकाङ्क्षस्य तद्धितार्थेन असम्बन्धः, एवं समासोऽपि इन्द्रपीतस्येति साकाङ्क्षस्य नावकल्पते। तदुक्तम्—'व्यवस्था वाऽर्थसंयोगादिति।'

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात्॥३९॥

सूत्रार्थः—(ऐन्द्राग्ने) ऐन्द्राग्न सोम में (तु) तो (लिङ्गभावात्) इन्द्र का लिङ्ग होने से मन्त्र से युक्त भक्षण (स्यात्) होवे। अर्थात् इन्द्राग्नी से पान किये जाने पर इन्द्र से भी पान किया गया है। अतः इन्द्रपीतस्य निर्देश उपपन्न हो सकता है॥

व्याख्या - **ऐन्द्राग्न सोम के भक्षण में तो मन्त्र होवे। जिस [सोम का] इन्द्र और अग्नि देवता है, उसका इन्द्र देवता 'वह इन्द्र से पान किया गया है' ऐसा कहा जा सकता है। जिस का अवयवान्तर इन्द्र से पीया गया है, वह सोम इन्द्रपीत है ही। उस सोम के इन्द्र और अग्नि से पान करते हुए एक देश इन्द्र ने पीया है। इसलिये [ऐन्द्राग्न सोम का] भक्षण मन्त्रयुक्त होना चाहिये॥३९॥**

एकस्मिन् वा देवतान्तराद् विभागवत्॥४०॥

सूत्रार्थः—(एकस्मिन्) केवल इन्द्र से पीत सोम के भक्षण में (वा) ही **इन्द्रपीतस्य** मन्त्र होता है। (देवतान्तरात्) इन्द्र से इन्द्राग्नी भिन्न देवता होने से। (विभागवत्) जैसे **आग्नेयं चतुर्धा करोति**=अग्निदेवतावाले पुरोडाश का चार विभाग करना, दो देवतावाले अग्नीषोमीय पुरोडाश में नहीं होता है, उसी प्रकार अकेले इन्द्र के द्वारा पीये गये सोम के भक्षण में प्रयुक्त **इन्द्रपीतस्य** मन्त्र ऐन्द्राग्न सोम के भक्षण में प्रयुक्त नहीं होता है (द्र०—मीमांसा ३।१।२७)।

व्याख्या—**इस ऐन्द्राग्न सोम का एकदेश इन्द्र से नहीं पीया जाता है, और नाही एकदेश के इन्द्र के पान से वह इन्द्रपीत होता है। तेन पीतः यह लक्षणा (=लक्षित करनेवाला) शब्द है—इन्द्र को उद्देश करके जो सोम संकल्पित है, इन्द्र जिसका देवता है। जैसे साकाङ्क्ष शब्द का तद्धितार्थ के साथ संबन्ध नहीं होता है, इसी प्रकार इन्द्रपीतस्य यह समास भी साकांक्ष का उपपन्न नहीं होता है। जैसा कि कहा है—व्यवस्था वाऽर्थसंयोगात् [यह मी० ३।१।२७ का सूत्र है। इसका भाव है—आग्नेयं चतुर्धा करोति में अग्नि देवता है जिस का, ऐसा अर्थ का संयोग होने से व्यवस्था होती है। आग्नेय पुरोडाश का ही चतुर्धाकरण होता है, अग्नीषोमीय का नहीं होता है। 'अग्नि देवता है जिसका' ऐसे अर्थ का संयोग न होने से]।**

आह, ननु तेनैवाधिकरणेनैतद् गतम्, किमर्थं पुनश्चिन्त्यते इति ? उच्यते — यत् तत्र विचारितं सिद्धमेव तत्, कथं पुनर्विचार्यते? नैव साकाङ्क्षस्य देवतासम्बन्ध इति। नैवेह देवतासम्बन्धः, इति पूर्वः पक्षः। पानमात्रसम्बन्धोऽत्रेति। पानमात्रसम्बन्धेन यत्र द्वाभ्यां पीयते, तत्रैकेन। देवतासम्बन्ध इत्युत्तरः पक्षः। तस्मान्न पुनरुक्तमिति ॥४०॥

इत्यैन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम् ॥१८॥

—:०:—

(आक्षेप) उसी [चतुर्धाऽधिकरण (३।१। अधि० १५, सूत्र २६-२७)] अधिकरण से यह जाना गया, तो फिर क्यों विचार करते हो ? **(समाधान)** जो वहां विचार किया है वह सिद्ध ही है। तो फिर क्यों विचार करते हो। [वहां] 'साकाङ्क्ष का देवता-सम्बन्ध नहीं है' ऐसा कहा है। यहां (=**इन्द्रपीतस्य** में) देवता-सम्बन्ध नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष है। यहां पानमात्र का सम्बन्ध है। पानमात्र का सम्बन्ध होने से जहां दो देवताओं से पान किया जाता है, वहां एक से भी पीया जाता है। 'यहां देवता का सम्बन्ध है' ऐसा उत्तरपक्ष है। इसलिये पुनरुक्त नहीं है ॥४०॥

विवरण—नैव साकाङ्क्षस्य देवतासम्बन्धः—पहले ऐन्द्राग्न में इन्द्र के अग्नि के साथ साकाङ्क्ष होने से **इन्द्रपीतस्य** समास उपपन्न नहीं होता है, यह दर्शाया है। यह अर्थ 'आग्नेय चतुर्धाकरण' अधिकरण से **गतार्थ** हो जाता है। अतः प्रकृत विचार निरर्थक होता है। प्रकृत विचार की अनर्थकता हटाने के लिये कहा है—**नैव साकाङ्क्षस्य देवतासंबन्धः**। ऐन्द्राग्न में अग्नि के साथ आकाङ्क्षा रखनेवाले इन्द्र का देवतासम्बन्ध उपपन्न नहीं होता। यहां **ऐन्द्राग्नं गृह्णाति** में इन्द्र और अग्नि का सम्मिलित देवतात्व है। इसी प्रकार याग में इन्द्राग्नी का सम्मिलित देवतात्व है। अतः यहां अकेले इन्द्र का देवतासम्बन्ध नहीं है। इस व्याख्या के अनुसार भाष्यकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का निरूपण करते हैं—**नैवेह देवतासम्बन्ध इति पूर्वःपक्षः। पानमात्रसम्बन्धोऽत्र** से लेकर **तत्रैकेन** पर्यन्त पूर्वपक्ष का विवरण है। **देवतासम्बन्ध इत्युत्तरः पक्षः**—इसका भाव यह है कि इन्द्र और अग्नि का सोम के साथ पानमात्र सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि इन्द्र के लिये होम किया गया सोम ही इन्द्रपीत होता है। क्योंकि **नहि देवा अहुतस्याश्नन्ति**=देवता बिना होम किये हवि को नहीं खाते हैं। जो होम से बचा हुआ है, वह इन्द्रपीत नहीं है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। अतः **इन्द्रपीतस्य** में पीत शब्द लक्षणा से स्वीकृतत्व को कहता है। देवता का सम्बन्ध ग्रहणकाल में ही हो जाता है। अतः हुत और अहुत का समुदाय इन्द्र से स्वीकृत होने से **इन्द्रपीतस्य** ऐसा कहा है। **ऐन्द्राग्नं गृह्णाति** में इन्द्र और अग्नि का सम्मिलित देवतात्व है। इसी प्रकार उसके होम=त्याग=दान में भी दोनों का सम्मिलित ही देवतात्व है। अतः तद्धित-प्रत्यय के नियम से ऐन्द्राग्न सोम के भक्षण में **इन्द्रपीतस्य** मन्त्र नहीं हो सकता है। इसलिये ऐन्द्राग्न का अमन्त्र भक्षण होता है ॥४०॥

—:०:—

[गायत्रछन्दस इत्यादिमन्त्राणामनेकछन्दस्के विनियोगाऽधिकरणम् ॥१६॥]

अस्मिन् मन्त्रे 'गायत्रच्छन्दसः' इत्युच्यते। तत्र सन्देहः—किमेकच्छन्दसि सोमे मन्त्रः, उत नानाच्छन्दस्यपीति ? उच्यते—

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥ (पू०)

छन्दश्च देवतावत्। यथा अन्यसहितेन्द्रे न मन्त्रः, एवमनेकच्छन्दस्के सोमे न स्यान्मन्त्र इति। अत्रापि हि'गायत्रच्छन्दसः'इति सविशेषणस्य समासो नावकल्पते ॥४१॥

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥ (उ०)

सर्वेषु वा मन्त्रः स्यात्। कुतः ? अभावादेकच्छन्दसः। नैव कश्चिदेकच्छन्दाः

व्याख्या—इस [भक्षण-मन्त्र में] 'गायत्रच्छन्दसः' ऐसा कहा है। इसमें सन्देह है—क्या एक-छन्दःवाले सोम [के प्रदान] में [भक्षण का] मन्त्र होता है, अथवा नाना छन्दवाले सोम के प्रदान में भी भक्षण-मन्त्र होता है ? इस विषय में कहते हैं—

विवरण—गायत्रच्छन्दसः—गायत्री एव गायत्रम्,यहां छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थे उपसंख्यानम्(अष्टा०४।२।५ वा०)वार्त्तिक से गायत्री शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय उत्पन्न होता है। तदनन्तर गायत्रं छन्दो यस्य स्तोत्रशस्त्रादिविषये स सोमो गायत्रच्छन्दः अर्थात् गायत्र छन्द है जिस सोम का स्तोत्रशस्त्रविषय में, वह सोम गायत्रच्छन्दः कहाता है।

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(छन्दः) छन्द (च) भी (देवतावत्) देवता के समान जानना चाहिये। अर्थात् जैसे **इन्द्रपीतस्य** में केवल **इन्द्र** का ग्रहण होता है, उसी प्रकार **गायत्रछन्दसः** में भी केवल गायत्री छन्द का ही ग्रहण होता है, छन्दोऽन्तर का ग्रहण नहीं होता है॥

व्याख्या—**छन्द भी देवतावत् जानना चाहियें। जैसे अन्य देवता के साथ वर्त्तमान इन्द्र में [इन्द्रपीतस्य] मन्त्र का प्रयोग नहीं होता है, उसी प्रकार अन्य छन्दवाले सोम में भी** [गायत्रच्छन्दसः] **मन्त्र न होवे। यहां भी गायत्रच्छन्दसः में सविशेषण अर्थात साकाङ्क्ष का समास उपपन्न नहीं होता है ॥४१॥**

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् अन्य छन्दवाले सोम में **गायत्रछन्दसः**मन्त्र न होवे, यह ठीक नहीं है। (एकच्छन्दसः) एक छन्दवाले सोम-प्रदान के अभाव होने से। (सर्वेषु) अकेले गायत्री छन्दवाले छन्दोऽन्तर सहित गायत्रीछन्दवाले सोम के प्रदान में **गायत्रच्छन्दसः** मन्त्र प्रयुक्त होवे॥

व्याख्या—**अथवा सभी में**[गायत्रच्छन्दसः]**मन्त्र प्रयुक्त होवे। किस हेतु से? एक छन्दवाले**

सोमोऽस्ति । तेन यथाभूतोऽयम्,तथाभूतस्य छन्दो विशेषणम् । तस्मादनेकच्छन्दस्के सोमे मन्त्रः स्यादिति ॥४२॥ इति गायत्रच्छन्दस इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्के विनियोगाऽधिकरणम् ॥१६॥

—:०:—

सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवनाधिकारो हि ॥४३॥ (उपसं०)

यदुक्तम्—अनैन्द्राणाममन्त्रकं भक्षणमिति, तन्न । सर्वेषां समन्त्रकं भक्षणमिति । यथासमाम्नातश्च मन्त्रः स्यात् । न इन्द्रपीत इति सोम उच्यते । किं तर्हि ? सवनम् । प्रातःसवनशब्देन सामानाधिकरण्यात् । ननु सोमेऽपि षष्ठी । सत्यमस्ति षष्ठी, न तु तेन

सोम का अभाव होने से । कोई भी सोम एकछन्दवाला नहीं है । इसलिये जिस प्रकार का यह सोम है, उस प्रकार के सोम का छन्द विशेषण है । इस कारण अनेक छन्दवाले सोम में [गायत्रच्छन्दसः] **मन्त्र होवे ॥४२॥**

विवरण – अनेक छन्दोवाले सोम के भक्षण में गायत्रच्छन्दसः के प्रयोग का विधान करने पर पूर्वपक्षी द्वारा उपस्थापित 'साकाङ्क्ष गायत्र शब्द का समास नहीं होगा' इसका साक्षात् समाधान नहीं किया है । **एकच्छन्दसः अभावात्**— सूत्रपद से प्रतीत होता है कि अकेले गायत्रछन्दस्क सोम के न होने पर भी मन्त्र में [गायत्रच्छन्दसः] पढ़ा है । इस से जाना जाता है कि यह गायत्र छन्द अन्य छन्दों के उपलक्षणार्थ है । अतः जैसे **देवदत्तस्य गुरुकुलम्** में अर्थावगति होने पर सापेक्ष का भी समास होता है, तद्वत् यहां समास जानना चाहिये (द्र० —महाभाष्य २।१।१) ॥४२॥

—:०:—

सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवनाधिकारो हि ॥४३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द (३।२।३८ सूत्रोक्त) पूर्वपक्ष का निवर्तक है । अर्थात् 'अनैन्द्र सोमों का भक्षण मन्त्ररहित होवे' यह ठीक नहीं है । (ऐतिशायनस्य) ऐतिशायन आचार्य के मत में (सर्वेषाम्) सभी अर्थात् अनैन्द्र सोमों की (ऐकमन्त्र्यम्) एकमन्त्रता है, अर्थात् **इन्द्रपीतस्य** यही एक मन्त्र अनैन्द्र सोमों के भक्षण में भी होवे, (भक्तिपानत्वात्) **इन्द्रपीतस्य** में पीत शब्द भक्ति=लक्षणा से प्रयुक्त **है** । (सवनाधिकारो हि) **इन्द्रपीतस्य** का सोम वाच्य नहीं है, अपितु **इन्द्रेण पीतः सोमो यस्मिन् सवने** सवनाधिकार=सवन-प्रकरण ही वाच्य है ॥

विशेष —पूर्व अपर्यवसित अधिकरण में पूर्वपक्षी ने अनैन्द्र सोमों का अमन्त्रक भक्षण कहा था। उसका खण्डन २८ वें सूत्र में एकदेशी ने करके ऊह से समन्त्रक भक्षण कहा था । उसका प्रत्याख्यान (२७ वें सूत्रवाले) पूर्वपक्षी ने किया, और अनैन्द्र सोमों के अमन्त्रभक्षण को उपोद्वलित किया । उसका प्रत्याख्यान सिद्धान्ती इस सूत्र से करता है ।

व्याख्या —जो यह कहा है कि–'इन्द्रभिन्न देवताओं के सोम का भक्षण मन्त्ररहित होता है,' यह नहीं है । सब का समन्त्रक भक्षण होता है । और जैसा मन्त्र पढ़ा है, वही मन्त्र होवे । 'इन्द्रपीत' शब्द से सोम नहीं कहा जाता है । तो क्या कहा जाता है ? सवन । [मन्त्र में] **प्रात सवन शब्द के साथ समानाधिकरणता होने से ।** (आक्षेप) **सोम में भी षष्ठी है ।** (समाधान) **सत्य**

सामानाधिकरण्यम् । नासाविन्द्रेण सोमः पीतः, नापीन्द्राय दत्तः । अन्य एव पीतो दत्तो वा । स गत एव । न चातीतः समुदायो व्यपदिश्यते । प्रत्यक्षवचनो ह्ययं शब्दः । सवने तु न दोषः । इन्द्रपीतं भवति सवनम्, यत्रेन्द्रेण पीतम् । तस्मादनैन्द्रोऽपीन्द्रपीतसवनेऽन्तर्भवति, इति शक्यते मन्त्रेण वदितुम् । शक्यते चेत्,समानविधाने कथमिव मन्त्रो न भविष्यति ? भक्त्या ह्यपीतः पीत इत्युच्यते । एवमेव ऐतिशायन आचार्यो मन्यते स्म । अस्माकमप्येतदेव मतम् । आचार्यग्रहणम् तस्माद् आगतमिति तस्य सङ्कीर्त्यर्थम् ॥४३॥ इत्येकादशाधिकरणोक्तस्योपसंहारः ॥

इति श्रीशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

—:o:—

है [सोम में भी] षष्ठी है, परन्तु उसके साथ [इन्द्रपीतस्य का] सामानाधिकरण्य नहीं है। वह [पात्र में उपलभ्यमान] सोम न इन्द्र ने पीया है, और नाही इसे इन्द्र को दिया गया है । पीया और दीया हुआ सोम तो अन्य ही है । वह [पीया और दीया सोम तो] नष्ट हो चुका है । जो समुदाय अतीत हो जाता है, उसका कथन नहीं किया जाता है । यह [इन्द्रपीतस्य] शब्द प्रत्यक्ष को कहनेवाला है । [इन्द्रपीत से] सवन के कहे जाने पर तो दोष नहीं है । सवन इन्द्रपीत होता है—जिसमें इन्द्र ने सोम पीया । इस कारण अनैन्द्रसोम भी इन्द्रपीत सवन के अन्तर्गत होता हैं, इस हेतु से [अनैन्द्र-सोम भी] मन्त्र से कहा जा सकता है । और यदि कहा जा सकता है, तो समान विधान में मन्त्र क्यों नहीं होवेगा? अपीत सोम भी भक्ति से पीत कहा जाता है। इस प्रकार ही ऐतिशायन आचार्य मानते थे । हमारा भी यही मत है । आचार्य का ग्रहण उससे [यह विचार] प्राप्त हुआ, इस बात के संकीर्तन (=स्तुति) के लिये है ॥४३॥

विवरण—सवनशब्देन सामानाधिकरण्यात्—मन्त्रभाग इस प्रकार है—**वसुमद्गणस्य सोम देव ते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमतः उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि** (तै० सं० ३।२।५)। **ननु सोमेऽपि षष्ठी**—इस भाग में साक्षात् षष्ठी नहीं है । या तो **ते मतिविदः** षष्ठी की ओर संकेत है, अथवा **मधुमतः** षष्ठयन्तपद की ओर । **तस्मादागतम्**—आगत = प्राप्त अथवा ज्ञात । **गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च** = गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान गमन और प्राप्ति, ऐसा वैयाकरणों का मत है ॥४३॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृतायाम्
आर्षमतविमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः पूर्तिमगात् ॥

—:o:—

तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

[उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताऽधिकरणम् ॥१॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा[1] इति । तत्र सन्देहः—किम् ऋगादिजातिमधिकृत्य एते शब्दाः प्रवृत्ताः, उत वेदमधिकृत्य इति ? किम् तावत् प्राप्तम् ?

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥ (पू०)

जाताधिकारः स्यात् । कुतः ? श्रुतेः । एषां शब्दानां श्रवणादेव जातिं प्रतिपद्यामहे ।

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में सुना जाता है**—उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा (=**ऋक् से ऊंचे से कर्म किया जाता है, साम से ऊंचे से, और धीरे से यजुः से**) । **इस में सन्देह है—क्या ऋक् आदि जाति को मानकर ये** [ऋक् आदि]**शब्द प्रवृत्त हुए हैं, अथवा वेद को स्वीकार करके ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—उपांशु यजुषा—उपांशु का अभिप्राय है—उतने स्वर से बोलना जिसे पास बैठा भी भली प्रकार न सुन सके । **ऋगादिजातिमधिकृत्य**—ऋक् साम और यजुः के लक्षण पूर्व मी० २।१।३५,३७,३६ में सूत्रकार दर्शा चुके हैं । तदनुसार ऋचा का अर्थ होगा—ऋक्त्व जातिवाले मन्त्रों से । इसी प्रकार सामत्व जातिवाले मन्त्रों से, और यजुष्ट्व जातिवाले मन्त्रों से । **वेदमधिकृत्य**—वेदरूप से प्रसिद्ध ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद ग्रन्थ ।

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थः—['उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि में ऋक् आदि शब्दों में] (श्रुतेः) श्रवण से (जाताधिकारः) जाति का अधिकार (स्यात्) होवे । अर्थात् ऋक् साम और यजुः शब्द मन्त्र जाति के वाचक होवें ॥

व्याख्या—**जाति का अधिकार होवे । किस हेतु से ? श्रुति से । इन [ऋक् आदि] शब्दों के श्रवण से ही [ऋक् आदि] जाति को जानते हैं । इसलिये उपांशुत्व (=धीरे से बोलना)**

---

१. यद्यपि वाक्यमिदं मै० संहितायां(३।६।५; ४।८।७)द्वयोः स्थानयोरुपलभ्यते, तथाप्युत्तरसूत्रभाष्ये भाष्यकारेणोद्धृतमुपक्रमवाक्यमत्र न श्रूयत इति कृत्वा अनुपलब्धमूलमेवेदं वचनं ज्ञेयम् ॥

तेनोपांशुत्वं जात्याऽधिकृतया सम्बध्यते। वेदानामधिकारकः शब्दो नास्तीति। अपि च, ऋग्वेदव्यतिक्रान्तानाम् ऋचां यजुर्वेदे उच्चैः प्रयोगो भविष्यति। इतरथा तस्या एव ऋच उभौ धर्मौ वैकल्पिकौ स्याताम्। तत्र पक्षे बाधः स्यात्। प्रकरणञ्चैवमनुगृहीतं भवति। इतरथा वेदसंयोगे सर्वस्मिन्नपि क्रतावुपांशुत्वं स्यात्। तस्माज्जाताधिकारा एते शब्दा इति ॥१॥

वेदो वा प्रायदर्शनात्।२॥ (उ०)

अधिकृत जाति के साथ संबद्ध होता है। वेदों का अधिकारक शब्द नहीं है। और भी, ऋग्वेद से व्यतिक्रान्त (=अन्यत्र गई हुई) ऋचाओं का यजुर्वेद में उच्चैः प्रयोग होगा। अन्यथा उसी ऋचा के दोनों धर्म वैकल्पिक (=पाक्षिक) होवें। ऐसा होने पर पक्ष में [एक धर्म का] बाध होवे। इस प्रकार (==जातिवाचक शब्द मानने पर) प्रकरण अनुगृहीत होता है। अन्यथा वेद का संयोग होने पर सारे क्रतु में उपांशु धर्म होवे। इसलिये जातिवाचक ये [ऋक् आदि] शब्द हैं ॥१॥

विवरण—जाताधिकारः स्यात्—'जात' शब्द भाव अर्थ में क्तप्रत्ययान्त है। अतः यह भाव अर्थ में क्तिन्प्रत्ययान्त जाति शब्द का पर्याय है। **ऋग्वेदव्यतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेदे**—ऋक् लक्षण से लक्षित मन्त्र ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद में भी श्रुत हैं। अतः ऋक् शब्द को जातिवाचक मानने पर यजुर्वेदस्थ ऋचाओं का भी उच्चैः प्रयोग होगा। **ऋच उभौ धर्मौ**—ऋक् आदि शब्दों को वेदपरक मानने पर ऋग्वेद और यजुर्वेद में समानरूप से पठित ऋचाओं के ऋग्वेद में उच्चैस्त्व और यजुर्वेद में उपांशुत्वरूप दो धर्म होंगे। **तत्र पक्षे बाधः स्यात्**—धर्मों का विकल्प मानने पर ऋग्वेद अन्तर्गत मन्त्र का उच्चैस्त्व होने पर उपांशुत्व का, और यजुर्वेद अन्तर्गत होने पर उसी मन्त्र का उच्चैस्त्व धर्म का बाध होगा। **सर्वस्मिन्नपि क्रतावुपांशुत्वं स्यात्**—जितने भी दर्शपूर्णमास आदि याग हैं, उन के उत्पत्ति (=विधायक) वाक्य यजुर्वेद में हैं। अतः सब यज्ञों के यजुर्वेदान्तर्गत[1] होने से पूरे दर्शपूर्णमास आदि यागों में उपांशुत्व धर्म की प्रवृत्ति होगी ॥१॥

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् ऋक् आदि शब्द जातिवाचक नहीं हैं। (वेदः) ऋक् आदि शब्दों से वेद जाना जाता है। (प्रायःदर्शनात्) प्रस्तुत वाक्य के उपक्रम=आरम्भ में वेद शब्द के दर्शन से। अर्थात् उक्त वचन के उपक्रम में ऋग्वेद आदि पद श्रुत हैं। अतः उपसंहार में श्रुत ऋक् आदि पद भी वेद के ही बोधक हैं॥

विशेष—'**वेदः**' यह जाति में एकवचन है। **प्रायदर्शनात्** में प्राय पद प्रपूर्वक इण् धातु से भाव में घञ् होकर निष्पन्न है। प्र उपसर्ग के योग से यह उपक्रम=आरम्भ का वाचक है।

---

१. द्र०—**अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्** (अष्टा० २।४।४) पाणिनीय सूत्र और उसकी काशिकादिवृत्ति।

वेदं वा अधिकृत्य इदमुच्यते । कुतः ? प्रायदर्शनात् । किमिदं प्रायदर्शनादिति ? वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे शब्दाः श्रूयन्ते --**प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् । स तपोऽतप्यत । तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त । अग्निर्वायुरादित्यः । ते तपोऽतप्यन्त । तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त । अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः**[1] इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते--**उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा**[1] **इति** । एतस्मात् कारणादेभिः प्रकृतैरुपांश्वादि कर्त्तव्यम्, न जात्या ऋगादिभिरित्युच्यते । कुत एतदवगम्यते ? वाक्योपसंहारे श्रुतत्वात् । यस्मादित एते वेदा जाताः, तस्मादेतैरुपांश्वादि कर्त्तव्यमिति । ऋगादिभिरपि वेदवचनैरेवोपसंहारेण भवितव्यम् । इतरथा वाक्यमेव नावकल्पेत । तत्रानर्थका एव भवेयुः । तस्माद् वेदाधिकारा इति ॥२॥

व्याख्या—**वेद को अधिकृत करके यह** 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' **आदि कहा जाता है । किस हेतु से ? प्रायदर्शन से । यह प्रायदर्शन क्या है ? वेदप्राय वाक्य में वेद के आरम्भ में नियम्यमान** (=**नियमित हुए**) **ये शब्द सुने जाते हैं**—प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् । स तपोऽतप्यत । तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त । अग्निर्वायुरादित्यः । ते तपोऽतप्यन्त । तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त । अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः (= **आरम्भ में यह अकेला प्रजापति था । उसने तप तपा । उस तप तपते हुए प्रजापति से तीन देव उत्पन्न हुए—अग्नि वायु और आदित्य । उन देवों ने तप तपा । उन तप तपते हुए तीन देवों से तीन वेद उत्पन्न हुए— अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद) ऐसा उपक्रम करके उपसंहार में यह सुना जाता है- ऋचा से उच्चै कर्म किया जाता है, साम से उच्चैः, और यजु से उपांशु । इस [उपक्रमरूपी] कारण** (=**हेतु**) **से इन प्रकृत ऋग्वेदादि से उपांशु आदि कर्म करना चाहिये, ऋक आदि जाति से नहीं करना चाहिये । यह कैसे जाना जाता है ?** उच्चैर्ऋचा **क्रियते आदि के] वाक्य के उपसंहार में श्रुत होने से । जिस कारण इन से ऋक् आदि वेद ये उत्पन्न हुए हैं, इस कारण इन वेदों से उपांशु आदि कर्म करना चाहिये । इस प्रकार ऋक् आदि शब्दों को भी वेदवाचक ही उपसंहार में होना चाहिये । अन्यथा वाक्य ही उपपन्न न होवे । वाक्य उपपन्न न होने पर ऋक् आदि पद अनर्थक ही होवें । इसलिये वेद का अधिकार जानना चाहिये । २ ।**

विवरण—वेदं वा अधिकृत्य—यहां सूत्र में तथा आगे उद्ध्रियमाण वचन में वेद शब्द से **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इस आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के परिभाषाप्रकरण में पठित सूत्र से मन्त्र और ब्राह्मण समुदाय का ग्रहण नहीं है । इस में निम्न कारण हैं—

१. **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** सूत्र आपस्तम्ब आदि कृष्ण यजुओं के श्रौतसूत्र में पढ़ा है, और वहां पर भी परिभाषा-प्रकरण में । परिभाषा-प्रकरण में पठित संज्ञा वा परिभाषायें स्वशास्त्र तक ही सीमित होती हैं । वे सामान्य लोकव्यवहार वा अन्य शास्त्रों में प्रमाण नहीं मानी जाती

---

१. अनुपलब्धमूलम् । द्र०—पूर्व पृष्ठ ७८८ टि० १ ।

लिङ्गाच्च ॥३॥ (उ०)

लिङ्गमप्यस्मिन् अर्थे भवति— यथा ऋगादयः शब्दाः शक्नुवन्ति वेदमभिवदितु-

हैं। यथा पाणिनि की गुण वृद्धि संज्ञायें तथा तच्छास्त्रोक्त परिभाषायें पाणिनीय शास्त्र तक ही सीमित रहती हैं। उनका प्रयोग न लोक में होता है, न शास्त्रान्तरों में ।

२. ब्राह्मणग्रन्थ श्रौतसूत्रों से पौर्वकालिक हैं, अतः उनमें औत्तरकालिक श्रौतसूत्रों की संज्ञायें स्वीकृत नहीं हो सकती हैं ।

३. शबर स्वामी ने इस अधिकरण के पूर्वोत्तर सूत्रों के भाष्य में जो ब्राह्मण पाठ उद्धृत किया है, उसके उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से न्यूनातिन्यून इस वचन में वेदशब्द मन्त्र-संहितापरक ही है।

४. **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इस आपस्तम्बवचन (आप० परि०) की व्याख्या में धूर्त स्वामी तथा हरदत्त ने स्पष्ट लिखा है— **कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्** (**वेदत्वमाख्यातम्**)। अर्थात् किन्हीं आचार्यों ने केवल मन्त्रों को ही वेदसंज्ञा मानी है। इस विषय पर विशेष विचार हमारी वैदिक सिद्धान्तमीमांसा में वेदसंज्ञा-मीमांसा' प्रकरण (संस्कृत में पृष्ठ १४०-१५५ तथा हिन्दी में पृष्ठ १५६-१७८ तक) में विस्तार से किया है । मीमांसा शाबरभाष्य की हमारी व्याख्या भाग १ में, पृष्ठ १०८-१०६ तक भी संक्षेप से इस विषय में लिखा है। वहां मीमांसाशास्त्र में वेदपद घटित ८ सूत्रों पर भी विचार किया है।

त्रयो देवा अजायन्त अग्निर्वायुरादित्यः— ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः जहां-जहां भी वेद क प्रादुर्भाव का उल्लेख है, वहां-वहां अग्नि वायु आदित्य का ही निर्देश है, और इन्हीं से ऋग्वेद यजुर्वेद साम-वेद की उत्पत्ति कही है। ये अग्नि वायु आदित्य देव भौतिक हैं,वा प्राणधारी? इस विषय में दो मत हैं। पहला मत है—ये यथादृष्ट भौतिक देव हैं। इन से सम्प्रति भी वैदिक ध्वनियां=तरङ्गें निसृत होती हैं। आद्य ऋषियों ने इन्हें योगज सामर्थ्य से सुना=उपलब्ध किया। इसी कारण वेद का एकनाम श्रुति है। इस मत का पोषक प्रमाण पुराणों में दृष्टिगोचर होता है—**आकाशसम्भवो वेदः**[1]। ईसाई और मुसलमान स्वस्व मतों के ग्रन्थों को 'आकाशीय पुस्तक' मानते हैं। सम्भव है इस का मूल वेद का आकाश-प्रभव मत होवे। आचार्य सायण इन्हें जीवधारी मानव मानते हैं— **जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्** (ऋग्भाष्योपोद्घात)। यही मत स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी है ॥२॥

लिङ्गाच्च ॥३॥

सूत्रार्थः—(च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग से भी यह जाना जाता है कि ऋक् आदि शब्द वेदपरक हैं ॥

व्याख्या—इस अर्थ में लिङ्ग भी होता है कि—जिस प्रकार ऋक् आदि शब्द वेद को कह

१. द्र०—पं० रामशंकरभट्टाचार्यकृत 'पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन' पृष्ठ ३८१। यहां 'नाग' २३६।८' इतना ही मूलस्थल का संकेत दिया है।

मिति । **ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः**[1] इति द्वौ वेदौ सङ्कीर्त्य ऋक्शब्दं च त्रिषु पादेषु, चतुर्थे पादे उपसंहरति बहुवचनेन—**वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः** इति ऋक्शब्दं वेदवचनं दर्शयति। तस्मादपि पश्यामो वेदाधिकारा एते शब्दा इति ॥३॥

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥ (उ०)

धर्मोपदेशश्च भवति साम्नः—उच्चैः साम्ना इति । स वेदाधिकारपक्षे युज्यते ।

सकते हैं—ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः (=प्रातःकाल द्युलोक में सूर्य ऋचाओं से गति करता है, मध्याह्न में यजुर्वेद से ठहरता है, अस्तमय (=सायं) काल में सामवेद से पूजित होता है। इस प्रकार सूर्य वेद से अशून्य (=जिस में शून्यता नहीं है, ऐसे) तीन कालों से गति करता है। मन्त्र के तीन पादों में दो वेदों का और ऋक् शब्द का कथन करके, चौथे पाद में बहुवचन से उपसंहार करता है—वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः से ऋक् शब्द की वेदवचनता दर्शाता है । इससे भी हम जानते हैं कि ऋक् आदि शब्द वेद को कहनेवाले हैं ।।३।।

विवरण—यहां वेद शब्द का प्रयोग मन्त्रों के लिये है, न कि ब्राह्मणसहित के लिये। भट्ट कुमारिल ने **यस्त्वध्येतॄणां वेदशब्दप्रयोगो मन्त्रेषु दृष्टः** (=जो 'वेद' शब्द का प्रयोग वेद के अध्येताओं में प्रसिद्ध है) लिख कर भी तात्कालिक लोक-प्रसिद्धि से बाधित होकर वेद शब्द का अर्थ "सब्राह्मणक वेद" बलात् किया है । यह चिन्त्य है ।।३।।

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण संबन्धः ।।४।।

सूत्रार्थः—(च) और (धर्मोपदेशात्) साम के उच्चैस्त्व धर्म के उपदेश से भी ऋगादि शब्द वेद के वाचक हैं। अन्यथा साम के ऋगाधारक होने से उसका उच्चैस्त्व सिद्ध होने पर (द्रव्येण) साम व्यक्ति के साथ उच्चैस्त्व का सम्बंध (नहि) नहीं करना चाहिये ।।

विशेष—कुतुहल वृत्तिकार ने लिखा है—'सामवेदी ऋचाओं में द्रव्य शब्द का प्रयोग करते हैं। यहां ऋचायें जिसका आधार हैं, वह साम द्रव्य शब्द से लक्षित होता है।'[2] तन्त्रवार्तिक में यह सूत्र **वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत** इस ८ वें सूत्र से आगे व्याख्यात है। क्या तन्त्रवार्तिक में स्थान-भ्रंश हुआ है ? यह विचारणीय है ।

व्याख्या—**साम के धर्म का उपदेश भी होता है**—उच्चैः साम्ना । **वह वेदाधिकारपक्ष**

---

१. अनुपलब्धमूलम् । किञ्चित्पाठभेदेन—'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः' ॥ तै० ब्रा० ३।१२।९॥

२. द्रव्यशब्दमृक्षु प्रयुञ्जते छन्दोगाः। इह तदाधारकं साम लक्ष्यते । कुतुहलवृत्ति ।

जाताधिकारे तु **ऋच** उच्चैस्त्वेन साम्न उच्चैस्त्वं सिद्धम् । नास्य सामद्रव्येण सह सम्बन्धो वदितव्यः[1] । तस्मादपि वेदाधिकारा इति ॥४॥

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥ (उ०)

त्रयी यस्य विद्या स त्रयीविद्यः । यस्त्रीन् वेदानधीते स एवं प्रख्यायते । त्रयीति चैष शब्द ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः । यदि ऋक्सामयजूँषीति त्रयो वेदा उच्यन्ते, एवं तद्विदि त्रयीविद्याख्या युज्यते, भवति च । तस्माद् वेदाधिकारा एते ॥५॥

में ही युक्त होता है । जातिवाचक होने पर तो ऋचाओं के उच्चैस्त्व से ही साम का उच्चैस्त्व सिद्ध है । इसका साम द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं कहना चाहिये । इससे भी ऋक् आदि वेद के वाचक हैं ॥४॥

विवरण—ऋच उच्चैस्त्वेन साम्न उच्चैस्त्वं सिद्धम्—साम नाम गीति का है, उसका आधार ऋगक्षर होते हैं । अत एव कहा है—**ऋच्यध्यूढं साम गीयते** (अनुपलब्ध) ऋचा पर आश्रित साम गाया जाता है । ऋचा का उच्चैस्त्व **उच्चैर्ऋचा क्रियते** से सिद्ध होने पर साम का उच्चैस्त्व कहने की आवश्यकता नहीं होती है, ऋचा के उच्चैस्त्व से ही साम का उच्चैस्त्व स्वतः सिद्ध है । **सामद्रव्येण**—द्रव्य शब्द की व्याख्या सूत्रार्थ के विशेष में देखें । **वदितव्यः**—भाष्य का सर्वत्र मुद्रित पाठ **वेदितव्यः** है । यह असम्बद्ध सा है । हमने कुतूहल वृत्ति के आधार पर पाठ शोधा है ॥४॥

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

सूत्रार्थः—(च) और (त्रयीविद्याख्या) तीन विद्याओं के जाननेवाले की त्रयीविद्य ऐसी संज्ञा (तद्विदि) तीन वेदों के जाननेवाले में होने से ऋक् आदि शब्द वेद के वाचक हैं ।

व्याख्या—**त्रयी (=तीन विभागवाली) विद्या है जिसकी, वह त्रयीविद्य होता है । जो तीन वेदों को पढ़ता है, वह इस प्रकार (=त्रयीविद्य) कहा जाता है । त्रयी यह शब्द ऋक् यजुः और साम में प्रसिद्ध है । यदि ऋक् यजुः और साम तीन वेद कहे जाते हैं, तो तीन वेदों के जाननेवाले में त्रयीविद्य संज्ञा युक्त होती है, तथा [त्रयीविद्य संज्ञा] होती है । इसलिये ऋक् आदि शब्द वेद के वाचक हैं ॥५॥**

विवरण—त्रयी यस्य विद्या—त्रि शब्द से 'तीन अवयव हैं जिसमें' इस अर्थ में **द्वित्रिभ्यां तस्यायज् वा** (अष्टा० ५।२।४३) से पूर्वसूत्र से विहित तयप् को अयच् आदेश होता है—त्रय । अयच् को स्थानिवद्भाव से तयप् प्रत्यय मानकर **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०** (अष्टा० ४।१।१५) इत्यादि सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है । **त्रयी यस्य विद्या स त्रयीविद्यः** यहां त्रयी में **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनुङ्०** (अष्टा० ६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त होता है, उसका त्रयी शब्द

---

१. 'वेदितव्यः' इति पूर्वमुद्रितपाठोऽशुद्धः ।

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥ (आशङ्का)

अथ यदुक्तम्—ऋग्वेदमतिक्रान्तानाम् ऋचां यजुर्वेदेऽप्युच्चैस्त्वं भविष्यतीति। तत्र मत्पक्षे यथाश्रुतः प्रयोगो भविष्यतीति यदुक्तम् तत् परिहर्त्तव्यमिति ॥ आभाषान्तं सूत्रम् ॥६॥ ॥आ०॥

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥ (उ०)

नैष दोषः। सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उच्चैस्त्वं, सर्वस्मिंश्च यजुर्वेदे उपांशुत्वम्। तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्ताया ऋचो यजुर्वेदे उपांशुत्वं भवतीति नैतद् दूष्यति। वेदधर्मः स न ऋग्धर्म इति वेदस्य च न धर्मद्वयेन सम्बन्धः ॥७॥

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥८॥

के संज्ञावाची होने से **संज्ञापूरण्योश्च** (अष्टा० ६।३।३८) से प्रतिषेध होता है। उत्तरपद को ह्रस्वत्व वाच्य के पुँल्लिङ्ग होने से होता है ॥५॥

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥

सूत्रार्थः—(व्यतिक्रमे) उलटा होने पर अर्थात् ऋक् आदि शब्दों के वेद वाचक न होकर मन्त्र जाति विशेष के वाचक होने पर (यथाश्रुति) जिस ऋक् यजुः साम का जो उच्चैस्त्व आदि धर्म कहा है, वह यथाश्रुत होगा (इति चेत्) यदि ऐसा कहा जाये तो। अर्थात् ऋक् आदि शब्दों को जातिवाचक मानने पर यजुर्वेद में पठित मन्त्र का भी यथाश्रुत उच्चैस्त्व धर्म होगा।

व्याख्या—**और जो यह कहा है कि ऋग्वेद का अतिक्रमण करके यजुर्वेद में वर्तमान ऋचाओं का भी उच्चैस्त्व धर्म होगा। ऐसा होने पर मेरे पक्ष में यथाश्रुत [उच्चैस्त्व] प्रयोग होगा, यह जो कहा है, उसका परिहार करना चाहिये। यह आभाषान्त (=शङ्कारूप) सूत्र है ॥६॥**

न सर्वस्मिन् निवेशात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(सर्वस्मिन्) पूरे ऋग्वेद में उच्चैस्त्व, पूरे यजुर्वेद में उपांशुत्व और पूरे सामवेद में उच्चैस्त्व धर्म के (निवेशात्) निविष्ट=व्याप्त होने से उक्त दोष (न) नहीं है।

व्याख्या—**यह दोष नहीं है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में उच्चैस्त्व और सम्पूर्ण यजुर्वेद में उपांशुत्व धर्म होगा। ऐसा होने पर यदि ऋग्वेद से अतिक्रान्त ऋचाओं का उपांशुत्व धर्म होता है, तो यह दूषित नहीं होता है। वह [उच्चैस्त्व] वेद का धर्म है, ऋक् का धर्म नहीं है। इससे वेद का दो धर्मों से सम्बन्ध नहीं होता है ॥७॥**

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥८॥

सूत्रार्थः—[उच्चैस्त्व आदि धर्मों का] वेद के साथ संयोग होने से (प्रकरणेन) प्रकरण से (न) नहीं (बाध्येत) बाधित होगा।

यदुक्तम्—प्रकरणमेवमनुगृहीतं भवतीति वेदसंयोगाद् वाक्येन प्रकरणे बाध्यमाने न दोषो भविष्यति ॥८॥ **उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम्** ॥१॥

—:०:—

[आधाने गानस्योपांशुताधिकरणम् ॥२॥]

अस्त्याधानम्—**य एवं विद्वानग्निमाधत्ते**[1] इति । तद् याजुर्वैदिकम् । तत्र सामगान-मामनन्ति—**य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति**[2], **य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति**[3], **य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति**[4] इति । तत्र सन्देहः—किमाधाने सामगानमुच्चैः, उत उपांशु इति ? उच्चैरिति प्राप्तम् । कुतः ? सामवेदेनैतत् क्रियते यद् वारवन्तीयादिभिः । तस्मादुच्चैरे-तानि सामानि गेयानीति ॥ एवं प्राप्ते, ब्रूमः—

व्याख्या—**जो यह कहा है—'[उच्चैस्त्व आदि को मन्त्र धर्म मानने पर] प्रकरण अनु-गृहीत होता है' । [इसका समाधान यह है कि] वेद का संयोग होने से वाक्य से प्रकरण को बाधने पर दोष नहीं होगा [क्योंकि प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है]** ॥८॥

विवरण—वाक्येन—उपक्रमगत वेदशब्द व्यवहार रूप वाक्य से । **प्रकरणम्—**ऋक् आदि का उच्चैस्त्व आदि विधानरूप प्रकरण ॥८॥

—:०:—

व्याख्या—**[अग्नियों के] आधान [कर्म का विधान]** है—य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते **जो इस प्रकार विद्वान् अग्नि का आधान करता है । वह [आधान कर्म] यजुर्वेद में विहित है । वहां (=आधान कर्म में) साम के गान का भी निर्देश है—**य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति **(=जो इस प्रकार विद्वान् वारवन्तीय नाम के साम का ज्ञान करता है)**, य एवं विद्वान् यज्ञा-यज्ञीयं गायति **(=जो इस प्रकार विद्वान् यज्ञायज्ञीय नाम के साम का गान करता है)**, य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति **(=जो इस प्रकार विद्वान् वामदेव्य नाम के साम का गान करता है), इस विषय में सन्देह है—क्या आधान में साम का गान उच्चैः करना चाहिये, अथवा उपांशु । उच्चैः करना चाहिये, यह प्राप्त होता है । किस हेतु से ? यह [साम गान] सामवेद से किया जाता है, जो वारवन्तीय आदि ऋचाओं से किया जाता है । इसलिये इन सामों का गान उच्चैः करना चाहिये । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

---

१. मै० सं० १।६।३, १३॥ २. तै० ब्रा० १।१।८॥ य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायते। मै० सं० १।६।७॥

३. द्र०—यज्ञायज्ञीयं गायते । मै० सं० १।६।७॥ य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति इति ताण्ड्यब्राह्मणे (५।३।६) उपलभ्यमानोऽपीह नाभिप्रेतः । अस्य याजुर्वैदिकत्वेन वचनात् ।

४. तै० ब्रा० १।१।८॥ 'गायते' पाठान्तरेण । मै० सं० १।६।७॥

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥ (उ०)

विवरण—वारवन्तीयं गायति—सामगानों का नामकरण कई हेतुओं से होता है, उनमें दो मुख्य हैं। एक—पदविशेषों से विशिष्ट ऋचा में गान होना, दूसरा—किसी के द्वारा देखा जाना। यहां उदाहृत वारवन्तीय और यज्ञायज्ञीय प्रथम कोटिका है और वामदेव्य द्वितीय कोटिका। सामवेद की एक ऋचा है—**अश्वं नत्वा वारवन्तम्** (सा० प्र० १, अर्ध० १, द० २, मं० १७) इसमें **वारवन्तम्** शब्द है। विभक्ति रहित वारवन्त शब्द से **मतौ छः सूक्तसाम्नोः** (अष्टा० ५।२।५९) सूत्र से प्रातिपदिक से मतुप् प्रत्यय के अर्थ (=वह जिसमें है) में छ प्रत्यय होता है, सूक्त और साम अभिधेय होने पर। **अस्य वामस्य पलितस्य** यह ऋ० १।१६४ का प्रथम मन्त्र है। इस में से अस्य वाम शब्द समुदाय लेकर 'अस्य वाम शब्द है जिस सूक्त में' इस अर्थ में छ प्रत्यय होकर **अस्यवामीयं सूक्तम्** आदि प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार वारवन्त शब्द है जिस साम में, वह वारवंतीय साम कहाता है। इसी प्रकार **यज्ञायज्ञा वो अग्नये** (सा० प्र० १, अर्ध० १, द० ४, मं० १) ऋचा पर गेय साम यज्ञायज्ञीय कहाता है, क्योंकि इस में यज्ञायज्ञ शब्द है। पाणिनीय शास्त्र में इस प्रकरण में चार सूत्र हैं, जिनमें दो गण भी हैं। वैदिक-ग्रन्थों का स्वाध्याय करनेवालों को इन चार सूत्रों और दो गणस्थ शब्दों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इन्हीं चार सूत्रों के नियमों से सूक्तों सामों अध्यायों और अनुवाकों के लिए होनेवाले शतशः प्रयोग वैदिक-ग्रन्थों में व्यवहृत हैं।

इसी प्रकार का एक प्रकरण अष्टाध्यायी में और है, वह है दृष्ट का। पाणिनि का नियम है—दृष्टं साम (अष्टा० ४।२।७) इसका अर्थ है तृतीयान्त प्रातिपदिक से दृष्ट (=देखा गया) अर्थ में अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यदि वह दृष्ट साम होवे। इस नियम के अनुसार वसिष्ठ से दृष्ट साम का नाम वासिष्ठ होगा। इसी प्रकार वैश्वामित्र आदि। इस प्रकरण में २-३ सूत्र तथा कतिपय वार्तिक हैं। **वामदेव्यम्**—इस में वामदेव शब्द से दृष्ट साम अर्थ में ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं। वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्। दो प्रत्यय स्वरभेद के लिये हैं।

दृष्टं साम प्रकरण के सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिये। यद्यपि पाणिनि ने साम का निर्देश किया है, तथापि इस प्रकरण के दृष्ट अर्थ में विहित प्रत्यय ऋचा मन्त्र आदि के दर्शन में भी होते हैं। वैदिक-ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। अतः पाणिनीय 'साम' शब्द को उपलक्षणार्थ जानना चाहिये ॥८॥

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग ॥९॥

सूत्रार्थः—(गुणमुख्यव्यतिक्रमे) गौण और प्रधान में से एक के व्यतिक्रम (=उल्लङ्घन) प्राप्त होने पर सामस्वर में विरोध होने पर (तदर्थत्वात्) गुणविधि के प्रधानार्थ होने से (मुख्येन) मुख्य के साथ (वेदसंयोगः) वेद का सम्बन्ध जानना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि आधान रूप मुख्य कर्म यजुर्वेदस्थ है। उसी की सिद्धि के लिये गुण=अङ्ग कर्मों का विधान होता है। आधान के अङ्गरूप से साम गान श्रुत है। यद्यपि **उच्चैः साम्ना**

गुणाऽनुरोधेन वा मुख्यं व्यतिक्रमेद्, मुख्यानुरोधेन वा गुणमिति गुणो व्यतिक्रमितव्यो न्याय्यः, मुख्यश्चानुग्रहीतव्य इति । कुतः ? मुख्याऽर्थत्वाद् गुणस्य । गुणस्यानुष्ठानेन मुख्यः सगुणः कथं स्यादिति गुणे प्रवर्तते । गुणप्रवृत्त्या चेन्मुख्यस्य गुणहानिर्भवति, गुणप्रवृत्तौ फलमेव नावाप्तं भवति । अथ प्रधानं सगुणं करिष्यामीति गुणे प्रवर्त्तमानो गुणस्य गुणं विनिपातयति, नास्य स्वार्थो हीयते । नाऽसौ गुणं सगुणं कर्तुं प्रवर्त्तते । गुणश्च सामगानं, प्रधानमाधानम् । आधानस्य याजुर्वैदिकत्वाद् उपांशुता गुणः । स गुणधर्ममुच्चैस्त्वं सामवैदिकं बाधते । तस्मादुपांशु सामानि गेयानीति ॥९॥ **आधाने गानस्योपांशुताधिकरणम् ।२॥**

—:०:—

[ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वैदिकताधिकरणम् ॥३॥]

यजुर्वेदे ज्योतिष्टोमं समामनन्ति – **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[1] इति । तथा सामवेदेऽप्यस्यैवमेव समाम्नानम्[2] । सकृच्च कृतायां बुद्धौ द्वितीयं गुणार्थं श्रवणं भवति । तत्र

निर्देश से अङ्गभूत सामगान में उच्चैस्त्व धर्म प्राप्त होता है, तथापि मुख्य कर्म के याजुर्वैदिक होने से सामरूप गुण कर्म में याजुर्वैदिक उपांशुस्वर ही होगा ॥९।

व्याख्या—**[गुण कर्म और मुख्य कर्म में विरोध होने पर] गुण के अनुरोध से मुख्य के धर्म का उल्लङ्घन करें, अथवा मुख्य के अनुरोध से गुण कर्म के धर्म का उल्लङ्घन करें ? [इस संशय में] गुण कर्म के धर्म का व्यतिक्रमण करना ही न्याय्य है और मुख्य कर्म के धर्म का अनुग्रह करना उचित है । किस हेतु से ? गुण कर्म के मुख्य के लिये होने से । गुण कर्म के अनुष्ठान से मुख्य सगुण कैसे होवे, यह विचार कर ही गुण कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है । और यदि गुण कर्म की प्रवृत्ति से मुख्य कर्म के गुण की हानि होती है, तो गुण कर्म की प्रवृत्ति होने पर अर्थात् गुण कर्म करने पर भी फल ही प्राप्त नहीं होता है । और यदि प्रधान कर्म को सगुण करूंगा, इससे गुण में प्रवृत्त हुआ गुण के उच्चैस्त्व गुण को ही छोड़ता है, उसके स्वार्थ की हानि नहीं होती हैं । क्योंकि वह व्यक्ति गुण को सगुण करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता है । साम का गान गुण कर्म है, आधान प्रधान है । आधान के यजुर्वेद सम्बन्धी होने से उसका उपांशुत्व गुण है । वह [प्रधान का धर्म] गुण कर्म साम के सामवेद सम्बन्धी उच्चैस्त्व धर्म को बाधता है । इसलिये [आधान कर्म में निर्दिष्ट] साम उपांशुस्वर से गान करने योग्य हैं ॥**

—:०:—

व्याख्या—**यजुर्वेद में ज्योतिष्टोम को पढ़ते हैं**—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत (**=ज्योतिष्टोम से स्वर्ग की कामनावाला यजन करे) । तथा सामवेद में भी इस का पाठ है । एक बार बुद्धि में उपस्थित हो जाने पर दूसरी बार का श्रवण गुणार्थ (=गुण विधान के लिये)**

---

१. द्र०—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत । आप० श्रौत० १०।२।१॥

२. द्र०—ताण्ड्य ब्रा० १६।१।१–२॥

सन्देहः—किं याजुर्वैदिकमाम्नानं क्रियार्थं, सामवैदिकं गुणार्थम्, उत विपरीतमिति ? यतरच्चाम्नानं क्रियार्थं तद्धर्मा भविष्यन्ति। किं तावत् प्राप्तम्। सामवैदिकं क्रियार्थं याजुर्वैदिकं वेत्यनिश्चयो विशेषानवगमादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

भूयस्त्वेन गुणानां परिच्छिद्येत। यत्र भूयांसो गुणाः समाम्नातास्तत्र क्रियार्था चोदना इति गम्यते। यत्र हि कर्त्तव्यतया चोदना, तत्र इतिकर्त्तव्यता आकाङ्क्षयते। यत्राकाङ्क्षिता इतिकर्त्तव्यता, तत्र इतिकर्त्तव्यतावचनं न्याय्यम्। ये च भूयांसो गुणाः, सा इतिकर्त्तव्यता। तदितिकर्तव्यतालिङ्गेन कर्त्तव्यताचोदनामनुमिमीमहे। यथा बहुषु

होता है। इसमें सन्देह है—क्या यजुर्वेद में निर्दिष्ट पाठ क्रियार्थ है, और सामवेद सम्बन्धी गुण के लिये है, अथवा इससे विपरीत अर्थात् सामवैदिक क्रियार्थ और याजुर्वैदिक गुणार्थ है ? कौन सा पाठ क्रिया के लिये होगा, कर्म में उसके धर्म होंगे। क्या प्राप्त होता है ? सामवैदिक क्रियार्थ है, अथवा याजुर्वैदिक, इस में विशेष हेतु की प्रतीति न होने से निश्चय नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

विवरण—ज्योतिष्टोम समामनन्ति—ज्योतिष्टोम की अग्निष्टोम उक्थ षोडशी अतिरात्र अत्यग्निष्टोम वाजपेय और आप्तोर्याम संज्ञक सात संस्थाएं हैं। संस्था नाम समाप्ति का है। संपूर्वक स्था धातु का समाप्ति अर्थ होता है। यथा—**संतिष्ठते ज्योतिष्टोमः** (   ) जिस ज्योतिष्टोम की जिस स्तोत्र से समाप्ति होती है, उसी से उसका नामकरण होता है।

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

सूत्रार्थः—(उभयश्रुति) दो वा अधिक वेदों में श्रवण है जिस कर्म का, उसके क्रियार्थता का निश्चय (भूयस्त्वेन) गुणों के अधिक विधान से करना चाहिये। अर्थात् जिस वेद में जिस कर्म के गुणों का अधिकता से विधान हो, उसे मुख्य क्रियार्थ जानना चाहिये।

विशेष—सूत्रस्थ 'उभयश्रुति' पद में बहुव्रीहि-समास है, उभय=उभयथा श्रुतिः श्रवणं यस्य कर्मणः तत्कर्म उभयश्रुति। यहां 'उभय' शब्द उपलक्षणार्थ है, इससे जिस कर्म का विधान तीन वेदों में हो, वहां भी इसी प्रकार निश्चय करना चाहिये।

व्याख्या—**[उभयश्रुति कर्म] गुणों की अधिकता से निश्चित होवे। जिस वेद में अधिक गुणों का पाठ है, वहां का विधिवाक्य क्रियार्थ है, ऐसा जाना जाता है। जहां किसी कर्म का कर्तव्य रूप से विधान होता है, वहां [उस कर्म की पूर्ति के लिये] इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है। जहां इतिकर्तव्यता आकाङ्क्षित होवे, वहीं इतिकर्तव्यता का कथन (=विधान) न्याय्य होता है। और जो अधिक गुण हैं, वही इतिकर्तव्यता है। इसलिये इतिकर्तव्यता के लिङ्ग से कर्तव्यता की विधि का अनुमान करते हैं। जैसे बहुत से राजसदृश जनों के बैठे हुए होने पर जिसका श्वेत**

राजप्रतिमेषूपविष्टेषु यस्य श्वेतं छत्रं वालव्यजनञ्च, स राजेत्यवगम्यतेऽनाख्यातोऽपि राजलिङ्गेन। एवं कर्त्तव्यतालिङ्गेन गुणानां भूयस्त्वेन ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वैदिकस्य चोदना अनुमीयते। तस्माज्ज्योतिष्टोमस्योपांशुप्रयोगः। यजुर्वेदेन हि ज्योतिष्टोमः क्रियते, यत्तेन चोद्यते। अचोदितं न शक्यते कर्तुमिति ॥१०॥ **ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वैदिकताधिकरणम् ॥३॥**

—:o:—

[प्रकरणस्य विनियोजकताधिकरणम् ॥४॥]

उक्तानि विनियोगकारणानि श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यमिति। श्रुतिः—**ऐन्द्रया गार्हपत्यम्**[1] इति द्वितीया विभक्तिः। लिङ्गं मन्त्रेषु वचनसामर्थ्यम्—**बर्हिर्देवसदनं दामि**[2] इति। वाक्यम्—**अरुणया क्रीणाति**[3] इति। अथ किमेतावन्त्येव विनियोगकारणानि? नेत्युच्यते।

छत्र और बाल-व्यजन होवे, अर्थात् जिस के ऊपर श्वेत छत्र धारित होवे, और चंवरी गाय के बालों से निर्मित चंवर डुलाया जा रहा होवे, वह राजा है, ऐसा बिना कहे भी राजा के चिह्न से जाना जाता है। इसी प्रकार कर्तव्यता रूप लिङ्ग गुणों के आधिक्य से याजुर्वैदिक ज्योतिष्टोम की विधि अर्थात् क्रियार्थता का अनुमान होता है। इसलिये ज्योतिष्टोम का उपांशु प्रयोग होता है। यजुर्वेद से ही ज्योतिष्टोम किया जाता है, जो उससे विहित है, अविहित नहीं किया जा सकता है॥

विवरण—ज्योतिष्टोमस्योपांशुप्रयोगः—ज्योतिष्टोम का भूय इतिकर्तव्यता युक्त विधान यजुर्वेद में है। इसलिये ज्योतिष्टोम का याजुर्वैदिकत्व सिद्ध होता है। ज्योतिष्टोम में ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद तीनों से कर्म होते हैं। इस अधिकरण से ऐसा ध्वनित होता है कि ज्योतिष्टोम के याजुर्वैदिक होने से ऋचाओं और सामों का जो प्रयोग होता है, वह उपांशु होना चाहिये। परन्तु यह तथ्य विपरीत है। ज्योतिष्टोम में जिस वेद से जो-जो कर्म किया जाता है, उस-उस में उस-उस वेद का धर्म प्रवृत्त होता है। इसलिये वार्तिककार ने इस व्याख्यान को निष्फल कहा है। अतएव कुतुहल वृत्तिकार ने भाष्यकार के अनुरोध से अधिकरण का व्याख्यान करके अन्यथा व्याख्यान किया है।

—•—

व्याख्या—**विनियोग के कारण श्रुति लिङ्ग और वाक्य कह दिये। श्रुति**—ऐन्द्रयागार्हपत्यम् **में द्वितीया विभक्ति। लिङ्ग—मन्त्रों में [क्रियमाण कर्म को] कहने का सामर्थ्य**—बर्हिर्देवसदनं दामि। **वाक्य**—अरुणया क्रीणाति। **क्या विनियोग के इतने ही कारण हैं? नहीं, ऐसा कहते हैं। और दूसरा क्या कारण है? इस प्रश्न से ही [अधिकरण का] आरम्भ है। प्रश्न**

---

१. मै० सं० ३।२।४॥ २. मै० सं० १।१।२॥

३. द्र०—पूर्व भाग २, पृष्ठ ६५०, टि० २॥

किमपरं कारणमिति प्रश्नेनैवोपक्रमः । भवति च प्रश्नेनैवोपक्रमः । यथा का नामेयं नदी, को नामायं पर्वतः, किमिदं फलमिति । तदुच्यते—

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ॥११॥

यद् असंयुक्तं श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन वा तत् प्रकरणाद्, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात् । यदितिकर्त्तव्यताकाङ्क्षिणः सन्निधौ पूरणसमर्थमुपनिपतति यद् वचनं, तत् तेन प्रकृतेन सहैकवाक्यतां याति । तस्मात् प्रकृते विनियुज्यते ।

किमिहोदाहरणं, किञ्च प्रयोजनमिति ? दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य श्रूयते—**समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति**[1] । तानि तत्रैव प्रकरण-सामर्थ्याद् विनियुज्यन्ते, न अग्निहोत्रे ज्योतिष्टोमे वा ॥११॥ **प्रकरणस्य विनियोजकताधिकरणम् ॥४॥**

—:o:—

से ही [लोक में] उपक्रम देखा जाता है। जैसे—यह किस नामवाली नदी है, किस नामवाला पर्वत है, और यह कौनसा फल है । इसलिये कहते हैं—

विवरण—श्रुति की विनियोग कारणा मी० ३।२।३-४, अधि० २ में, लिङ्ग की मी० ३।२।१-२, अधि० १ में तथा वाक्य की मी० ३।१।१२, अधि० ६ में कही है ।

असंयुक्तं प्रकरणाद् इतिकर्तव्यतार्थित्वात् ॥११॥

सूत्रार्थः—(असंयुक्तम्) श्रुति लिङ्ग और वाक्य से जो असम्बद्ध है, वह (इतिकर्तव्यतार्थित्वात्) इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले (प्रकरणात्) प्रकरण से सम्बद्ध=विनियुक्त होता है ।

व्याख्या—**जो श्रुति लिङ्ग और वाक्य से असम्बद्ध (=अविनियुक्त) हैं, वह इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले प्रकरण से सम्बद्ध (=विनियुक्त) होता है । जिस इति कर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले की समीपता में आकाङ्क्षा को पूर्ण करनेवाला जो वचन होता है, वह उस प्रकृत कर्म के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होता है। इसलिये वह प्रकृत कर्म में विनियुक्त होता है ।**

व्याख्या—**यहां क्या उदाहरण है, और क्या प्रयोजन है ? दर्शपूर्णमास को प्रारम्भ करके सुना जाता है**—समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति । **ये वहीं (=दर्शपूर्णमास में ही) प्रकरण सामर्थ्य से विनियुक्त होते हैं, अग्निहोत्र वा ज्योतिष्टोम में विनियुक्त नहीं होते हैं ॥११॥**

विवरण—दर्शपूर्णमास के प्रकरण में समिद् आदि ५ प्रयाज श्रुत हैं । दर्शपूर्णमास को

---

१. तै० सं० २।६।१॥

[क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम् ॥५॥]

अथ किमेतावन्त्येव विनियोगकारणानि ? नेत्युच्यते। किञ्च—

क्रमश्च देशसामान्यत् ॥१२॥

क्रमवतामानुपूर्व्येणोपदिश्यमानानां यस्य पर्य्याये यं धर्म्ममामनन्ति, तस्य तं प्रति आकाङ्क्षाऽनुमीयते। सत्यामाकाङ्क्षायामेकवाक्यभावः। तस्मात् ततो विनियोग इति। किमिह उदाहरणं, किञ्च प्रयोजनं ? आनुपूर्व्यवतां यागानामनुमन्त्रणेष्वाम्नातेषूपांशु-

---

अपनी पूर्णता के लिये इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा है, अर्थात् किस-किस कर्म को करने से मेरी पूर्णता होती है, उधर प्रयाज-संज्ञक यागों को आकाङ्क्षा है कि हमारा क्या प्रयोजन है। इस प्रकार परस्पर आकाङ्क्षा होने पर प्रकरणरूप प्रमाण से समिद् आदि प्रयाजों का दर्शपूर्णमास के साथ सम्बन्ध होता है ॥११॥

—:०:—

व्याख्या—**क्या इतने ही विनियोग के कारण हैं ? नहीं। और क्या है ?**

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(देशसामान्यात्) देश की समानता से (क्रमः) क्रम (च) भी विनियोजक होता है।

विशेष—दो आनुपूर्वी से उपदिश्यमान क्रमवालों में जिस के क्रम में जो पठित है, उसका उसके साथ सम्बन्ध होता है। वैदिक उदाहरण भाष्य व्याख्या में देखें। यहां हम उदाहरण के लिये पाणिनीय नियम और उसका उदाहरण उपस्थित करते हैं। पाणिनीय नियम है **यथासंख्य-मनुदेशः समानाम्** (अष्टा० १।३।१०)। इसका भाव है—सम संख्यावाले उद्देशियों और अनु-देशियों (=पश्चात् उपदिष्टों) में यथाक्रम अनुदेश होता है। प्रथम का प्रथम के साथ, द्वितीय का द्वितीय के साथ इत्यादि। जैसे—**तस्थस्थमिपां तांतंतामः** (अष्टा० ३।४।१०१) यहां ङित् लकारों में तस् थस् थ मिप् के स्थान में ताम् तम् त अम् आदेश कहे हैं। जिनके स्थान में आदेश होता हैं, और जो आदेश होते हैं, वे सम संख्यावाले चार-चार हैं। यहां यथासंख्य सम्बन्ध होता है—'तस्' के स्थान में 'ताम्', 'थस्' के स्थान में 'तम्', 'थ' के स्थान में 'त' और 'मिप' के स्थान में 'अम्'। यही अभिप्राय मीमांसा सूत्र का है कि देश की समानता से क्रम विनियोजक होता है।

व्याख्या—**आनुपूर्वी से उपदेश किये गये क्रमवालों में जिस के पर्याय में जिस धर्म का कथन करते हैं, उसकी उसके प्रति आकाङ्क्षा जानी जाती है। आकाङ्क्षा होने पर परस्पर एक-वाक्यता होती है। उस एकवाक्यता से विनियोग होता है। यहां क्या उदाहरण है, और क्या प्रयोजन है ? आनुपूर्वीवाले यागों के अनुमन्त्रण मन्त्रों के पाठ में उपांशुयाज के क्रम में** दब्धिर्ना-

याजस्य क्रमे **दब्धिर्नामासि**[1] इति समाम्नातः । तस्याकाङ्क्षामुत्पाद्य तेनैकवाक्यतां यात्वा तत्रैव विनियोगमर्हतीति ।

तथा चैन्द्राग्नं कर्म्म वियातसजातस्यास्ति भ्रातृव्यवतश्च[2] । तस्य याज्यानुवाक्या-युगलमप्याम्नायते ऐन्द्राग्नम्—**इन्द्राग्नी रोचनादिवः, प्रचर्षणिभ्यः**[3] इत्येकम् । अपरम्—**इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम्**[4] इति । तत्र लिङ्गाद्विनियोगे सिद्धे विशेषविनियोगो भवति । पूर्वं युगलं पूर्वस्यैन्द्राग्नस्य, उत्तरमुत्तरस्येति । एतदुदाहरणं प्रयोजनञ्चेति ॥१२॥ **क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम् ॥५॥**

—:०:—

मासि मन्त्र पढ़ा है। उस मन्त्र की आकाङ्क्षा (=मेरे द्वारा क्या किया जाये) को उत्पन्न करके उस (=उपांशुयाज) के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर उसी (=उपांशुयाज) में ही [दब्धि-र्नामासि मन्त्र] विनियुक्त होने योग्य होता है, अर्थात् विनियुक्त होता है ॥

विवरण—**आनुपूर्व्यवतां यागानामनुमन्त्रणेषु**—दर्शपूर्णमास में असोमयाजी के प्रधान यागों की आनुपूर्वी इस प्रकार है—पूर्णमास में—आग्नेय उपांशुयाज अग्नीषोमीय; दर्श में—आग्नेय उपांशुयाज ऐन्द्राग्न। प्रत्येक याग के (=वौषट् द्वारा होम के) अनन्तर यजमान तत्तद् देवता से आशीः चाहता है, उनके मन्त्र अनुमन्त्रण कहाते हैं। दर्शपूर्णमास के प्रधान याग के अनुमन्त्रण मन्त्र हैं—पूर्णमास में **अग्नेरन्नादो०, दब्धिर्नामासि०, अग्नीषोमौ** वृत्रहणौ०। दर्श में—**अग्नेरन्नादो० दब्धिर्नामासि० इन्द्राग्न्योरहं०**। यहां आग्नेय याग के पीछे उपांशुयाज होता है। इसी प्रकार यजमान के अनुमन्त्रण मन्त्रों में **अग्नेरन्नादो०** के पश्चात् **दब्धिर्नामासि०** मन्त्र आता है। इस प्रकार यहां आनुपूर्व्य से पठितयागों के आनुपूर्व्य से पठित मन्त्रों का क्रम रूप प्रमाण से विनियोग होता है। **दब्धिर्नामासि**—अनुमन्त्रण मन्त्र का यह पाठ उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में मानव श्रौत १।४।२।४ में मिलता है। तै० सं० १।६।२ तथा काठक सं० ५।१ में **दब्धिरसि** पाठभेद से मिलता है।

व्याख्या—**तथा जिसके सजात (=सम्बन्धी) मरते हों, तथा जो भ्रातृव्यवान् (=शत्रुओंवाला) हो, उसके लिये ऐन्द्राग्न कर्म कहा है। उस ऐन्द्राग्न कर्म की इन्द्राग्नी देवतावाले याज्या-अनुवाक्या के दो जोड़े पढ़े गये हैं—एक—इन्द्राग्नी रोचना दिवः, प्रचर्षणिभ्यः; तथा दूसरा—इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम्। यहां लिङ्ग से विनियोग सिद्ध होने पर विशेष नियोग (=सम्बन्ध) होता है—पूर्व याज्यानुवाक्या का जोड़ा पूर्व ऐन्द्राग्न कर्म का है, और अगला अगले ऐन्द्राग्न कर्म का। यह उदाहरण है, और प्रयोजन है ॥१२॥**

---

१. द्र०—मानव श्रौत १।४।२।४॥

२. ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाता वियायुः। ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान् ॥ मै० सं० २।१।१॥

३. मै० सं० ४।११।१॥ ४. मै० सं० ४।११।१॥

[समाख्याया विनियोजकताधिकरणम् ॥६॥]

अथ किमेतावन्त्येव विनियोगकारणानीति ? नेत्युच्यते । किञ्च—

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

समाख्या चैवं स्यात् । कथं विनियोगकारणमिति ? समाख्या सति सम्बन्धे भवति । यथा पाचको लावक इति । तत्र पाचकशब्दमुपलभ्य पचतिना अस्य सम्बन्ध इति गम्यते । एवं वेदेऽपीति । अकृतकार्यसम्बन्धं समाचक्षाणं शब्दमुपलभ्य भवति सम्बन्धे तस्मिन् सम्प्रत्ययः । किमिहोदाहरणं प्रयोजनं च ? आध्वर्य्यवमिति समाख्यातानि

विवरण—मैत्रायणी सं० काण्ड २, प्रपा० १–४ में काम्येष्टियां पढ़ी हैं । इसी प्रकार मै० सं० काण्ड ४, प्रपा० १०–१४ तक सम्पूर्ण कर्मों की याज्यानुवाक्याएं पढ़ी हैं । इनमें काम्येष्टियों की याज्यानुवाक्या का आरम्भ १०वें प्रपाठक के ११वें अनुवाक से होता है । **वियातसजातस्य**—जिसके सम्बन्धी मरते हों, उनके लिये ऐन्द्राग्न कर्म का विधायक वचन है—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाता वियायुः** (मै० सं० २।१।१) । भ्रातृव्यवान् के लिये ऐन्द्राग्न कर्म का विधायक वाक्य है—**ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान्** (मै० सं० २।१।१) । इनमें प्रथम ऐन्द्राग्न कर्म की **इन्द्राग्नी रोचना दिवः** तथा **प्रचर्षणिभ्यः** क्रमशः अनुवाक्या और याज्या मै० सं० ११।१ में पढ़ी है, और द्वितीय ऐन्द्राग्न कर्म की अनुवाक्या और याज्या उसी के आगे **इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम्** से निर्दिष्ट है । इन ऐन्द्राग्न कर्मों और इनकी याज्यानुवाक्याओं का निर्देश पूर्व-मीमांसा ३।२।१६ के भाष्य में भी आया है । पाठक उसे भी देखें ।

—:०:—

व्याख्या—क्या इतने ही विनियोग के कारण हैं ? नहीं । तो और क्या हैं ?

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(आख्या) संज्ञा (च) भी विनियोग में कारण होती है । आख्या के (तदर्थत्वात्) उस समाख्येय=जिसे कहना हो, के लिये होने से ।

व्याख्या—समाख्या (=संज्ञा) भी इसी प्रकार [विनियोग का कारण] होवे । संज्ञा विनियोग का कारण कैसे है ? संज्ञा [संज्ञा-संज्ञी के] सम्बन्ध होने पर होती है । जैसे—पाचक लावक । वहां पाचक शब्द को सुनकर 'पचति (=पाक) क्रिया के साथ इस [पाचक नामवाले] का सम्बन्ध है, ऐसा जाना जाता है । इसी प्रकार वेद में भी जानना चाहिये । [वेद में] जिसके अर्थ का सम्बन्ध नहीं किया गया है, उस सम्बन्ध को कहनेवाले शब्द को सुनकर उस सम्बन्ध के विषय में ज्ञान होता है । यहां क्या उदाहरण है, और क्या प्रयोजन है ? आध्वर्यव नाम से कहे

कर्म्माणि अध्वर्य्युणा कर्त्तव्यानि, हौत्रमिति च होत्रा। एतद् उदाहरणं प्रयोजनञ्चेति ॥१३॥ **समाख्याया विनियोजकताधिकरणम्** ॥६॥

—:०:—

[श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम् ॥७॥]

उक्तानि विनियोगकारणानि—श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यं प्रकरणं स्थानं समाख्यानमिति। तेषां समवाये किं बलीय इति चिन्त्यते—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्
अर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

एकार्थवृत्तित्वाद्वाचो युगपदसम्बन्धाद् द्वयोर्द्वयोः सम्प्रधारणा।

तत्र श्रुतिलिङ्गयोः किं श्रुतिर्बलीयसी, आहोस्विल्लिङ्गमिति ? किं पुनरत्रोदाहरणम्—**ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते**[1] इति। अत्र चिन्त्यते—किमिन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वोपस्थानं

जानेवाले कर्म अध्वर्यु को करने चाहियें और हौत्र संज्ञावाले होता को करने चाहियें। यह उदाहरण और प्रयोजन है।

—:०:—

व्याख्या—श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्या रूप विनियोग के कारण कह दिये हैं। इनके एक विषय में एक साथ प्राप्त होने पर कौन सा प्रमाण बलवान् होता है, यह विचार किया जाता है—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—(श्रुति—समाख्यानाम्) श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्या के (समवाये) एक साथ उपस्थित होने पर (पारदौर्बल्यम्) पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है (अर्थविप्रकर्षात्) अर्थ की दूरी होने से। (अर्थ की दूरी भाष्य-व्याख्यान से जानें)।

व्याख्या—वाक् का [एक काल में] एक अर्थ में वर्तन होने से [अनेकों के साथ] एक साथ वाक् का सम्बन्ध न होने से दो-दो अर्थों में निश्चय किया जाता है।

[अथ लिङ्गात् श्रुतेः प्राबल्याधिकरणम्]

वहां श्रुति और लिङ्ग में श्रुति बलवान् है, अथवा लिङ्ग बलवान् है ? इस विषय में क्या उदाहरण है ? ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते **(=इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है)। इस विषय में विचार करते हैं—क्या इन्द्र वा गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, यह अनियम है अथवा गार्हपत्य का ही उपस्थान करना चाहिये ? यदि श्रुति**

---

१. उत्तरत्र 'कदाचनस्तरीरसि' निर्दिष्टेन मन्त्रेण सहेदं वाक्यं न क्वचिदस्माभिरुपलब्धम्। पूर्वत्र ३।२।३ भाष्ये निर्दिष्टं वाक्यं त्वन्येन मन्त्रेण सह वर्तते।

कर्त्तव्यमित्यनियमः, उत गार्हपत्यस्यैवेति ? यदि तुल्यबले एते कारणे ततो विकल्पः, अथ श्रुतिर्बलीयसी गार्हपत्य एवोपस्थेयः ॥

का पुनरत्र श्रुतिः ? किं लिङ्गम् ? श्रुतिर्गार्हपत्यशब्दश्रवणम् । लिङ्गं पुनः— **कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे**[1] इतीन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यम् । **अथ** किं वाक्यं नाम ? संहत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यम् । यद्येवमिदमपि वाक्यम्— **ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इति, इदमपि— **कदा चन स्तरीरसि** इति । उभयत्रापि संहत्य अर्थमभिदधति पदानि । तेन वाक्यस्य वाक्यस्य चैषा सम्प्रधारणा, न श्रुतिलिङ्गयोः । यदि वा श्रुतिलिङ्गवाक्यानि विवेक्तव्यानि, इदं श्रुतिवाक्ययोरन्तरम्, इदं लिङ्गवाक्ययोरिति । तदभिधीयते - यत् तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गम्[2] । यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रादेवावगम्यते, स श्रुत्याऽवगम्यते [इति] श्रवणं श्रुतिः । एकार्थमनेकं पदं वाक्यमित्युक्तमेव[3] । तदेतत् सर्वेष्वेव वाक्येषु समवेतं विविक्तञ्च दृश्यते । इह तावत् **कदा चन स्तरीरसि** इत्यनेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थातव्य इति । नैतत् कस्यचिच्छब्दस्य

(=गार्हपत्यम, **द्वितीया श्रुति) और लिङ्ग** (= **ऐन्द्री = इन्द्र को कहने का सामर्थ्य) दोनों कारण समान बलवाले हैं, तो विकल्प होना चाहिये और यदि श्रुति बलवान् है, तो गार्हपत्य ही उपस्थान के योग्य है अर्थात् गार्हपत्य का ही उपस्थान करना चाहिये ।**

यहां श्रुति क्या है, और लिङ्ग क्या है ? [द्वितीयाविभक्त्यन्त] गार्हपत्य शब्द का श्रवण श्रुति है, और लिङ्ग कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे (**=हे इन्द्र ! तुम कभी भी हिंसक नहीं होते हो, और दाश्वान्=हवि देनेवाले यजमान को फल देने के लिये प्राप्त होते हो) में इन्द्र शब्द का विशिष्ट देवता को कहने का सामर्थ्य है। अच्छा तो वाक्य क्या है ? मिलकर अर्थ को कहनेवाले पद वाक्य होते हैं ।** (आक्षेप) **यदि ऐसा** (=**यही वाक्य का लक्षण**) **है, तो यह भी वाक्य है**—एन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते **और यह भी**—कदा चन स्तरीरसि । **दोनों में भी पद मिलकर अर्थ को कहते हैं । इसलिये यह वाक्य वाक्य का परस्पर विचार है, श्रुति और लिङ्ग का नहीं । अथवा श्रुति लिङ्ग और वाक्य का विवेचन करना है । यह श्रुति और वाक्य का अन्तर है और यह लिङ्ग और वाक्य का अन्तर है ।** (समाधान) **इस विषय में कहते हैं—जो शब्द का अर्थ को कहने का सामर्थ्य है, वह लिङ्ग होता है । जो अर्थ का कथन शब्द के श्रवणमात्र से ही जाना जाता है, वह श्रुति से जाना जाता है, अतः श्रवण ही श्रुति है । एक अर्थवाला अनेक पद वाक्य होता है, यह कह ही चुके हैं । यह सभी वाक्यों में एकत्रित और पृथक् देखा जाता है । यहां** 'कदा चन स्तरीरसि **इस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान करना चाहिये' यह किसी शब्द के श्रवण**

---

१. मन्त्रोऽयं बहुत्राम्नातोऽपि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति वाक्येन सह नोपलब्धोऽस्माभिः । २. 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति क्वाचित्कं वचनमनुसंधेयम् ।

३. अर्थैकत्वादेकं वाक्यम् । मीमांसा २।१।४६॥

श्रवणादेवावगम्यते, नापि शब्दान्तरस्य समीपे उच्चारितस्य सामर्थ्यमस्ति, येनैतद् अव-गम्येत। एतस्यां खलु ऋचि इन्द्रशब्दो विद्यते, यो विशिष्टां देवतामवगमयितुं शक्नोति। तया चावगमितया प्रयोजनमस्तीति,तेनेन्द्रोपस्थाने इन्द्रशब्दः प्रयुज्यते, तदेकवाक्यत्वाच्चा-वशिष्टानि पदानि। न त्वेवमस्यामृचि कस्यचिच्छब्दस्य सामर्थ्याद् गार्हपत्यस्योपस्थानं भवति। श्रवणादेव तु गार्हपत्यशब्दस्य वयमग्निं प्रतीमः, न लिङ्गात्। यदि तु लिङ्गं बलीयः, इन्द्र उपस्थातव्यः, यदि गार्हपत्यश्रवणं, ततो गार्हपत्यः॥

एवं तर्हि लिङ्गवाक्ये विरुद्धयमाने इह सम्प्रधार्ये, न श्रुतिलिङ्गे। इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यादिन्द्रोपस्थानं, यदि लिङ्गं बलीयः। अथ नु वाक्यं, गार्ह-पत्य उपस्थेयः। वाक्यं ह्येतद् ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति। नैतदेवम्। यद्यप्येतद् वाक्यं श्रुतिरप्यत्रास्ति, या त्वत्र श्रुतिः सा लिङ्गेन विरुद्धयते, न यद् वाक्यम्? कथम्?

से ही नहीं जाना जाता है और नाही समीप उच्चरित शब्दान्तर का सामर्थ्य है, जिससे यह अर्थ जाना जाये। इस ऋचा में इन्द्र शब्द विद्यमान है, जो विशिष्ट देवता को बताने में समर्थ है। और उस प्रकार जानी गई ऋचा से प्रयोजन है। इसलिये इन्द्र के उपस्थान में इन्द्र शब्द प्रयुक्त होता है और उसके एकवाक्य होने से अन्य शेष पद भी उसी अर्थ को कहते हैं। इस ऋचा में किसी शब्द का सामर्थ्य गार्हपत्य के उपस्थान में नहीं है। गार्हपत्य शब्द के श्रवण से ही तो हम अग्नि को जानते हैं, लिङ्ग से नहीं जानते। यदि लिङ्ग बलवान् होवे, तो इन्द्र का उपस्थान होना चाहिये, और यदि गार्हपत्य शब्द का श्रवण बलवान् होवे, तो गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये।

विवरण—यत्तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गम्—स्कन्द स्वामी ने निरुक्त १।१७ के **लिङ्गज्ञा अत्र स्मः** की व्याख्या में लिङ्ग का अर्थ 'देवता को कहने में समर्थ शब्द' दर्शाया है—**लिङ्गं देवताभिधानसमर्थः शब्दः** (स्कन्द नि० टी० भाग १, पृष्ठ १०५)। **कदा चन स्तरीरसि**—यह मन्त्र अग्नि के उपस्थान में बहुत्र मिलता है, परन्तु साक्षात् गार्हपत्य के उपस्थान में हमें उप-लब्ध नहीं हुआ। पूर्व मीमांसा ३।२।३ के भाष्य में **निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्रया गार्हपत्यमुप-तिष्ठते** (मै० सं० ३।२।४) वचन उद्धृत किया है, उसमें **निवेशनः संगमनो वसूनाम्** अन्य ऐन्द्री ऋचा है (यह विनियोग अग्निचयन का है)। एकार्थमनेकपदं वाक्यमित्युक्तमेव—यह संकेत **अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्** (मी० २।१।४६) की ओर है।

व्याख्या—(आक्षेप) **इस प्रकार यहां विरुद्ध होनेवाले लिङ्ग और वाक्य सम्प्रधार्य (= निश्चय योग्य) हैं, श्रुति और लिङ्ग नहीं। इन्द्र शब्द के विशिष्ट देवता के कथन में सामर्थ्य होने से इन्द्र का उपस्थान होवे, यदि लिङ्ग बलवान् होवे। और यदि वाक्य बलवान् होवे, तो गार्हपत्य उपस्थान योग्य होवे। क्योंकि यह वाक्य ही है**—ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। (समाधान) **यह इस प्रकार नहीं है। यद्यपि यह** (=ऐन्द्रया गार्हपत्यमुतिष्ठते) **वाक्य है, परन्तु यहां श्रुति भी है। जो यहां** [गार्हपत्यम्] **श्रुति है, वह लिङ्ग से विरुद्ध होती है, न कि जो वाक्य है। कैसे?**

बलीयस्यपि हि लिङ्गे ऐन्द्रयोपतिष्ठते इत्येतद् गार्हपत्यशब्देन सहैकवाक्यतामुपैत्येव। यदि हि नोपेयात्, ततो लिङ्गेन विरुद्धयेत। यस्तु गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गे बलीयसि परित्यक्तो भवति। नासावुपस्थानेन सम्बध्यते। तदा हि इन्द्रं गार्हपत्य-शब्दोऽभिवदेदग्निसमीपं वा। अथ नु श्रुतिः प्रमाणं भवति, ततो लिङ्गेन अवगतमिन्द्रो-पस्थानं बाध्येत। तस्माच्छ्रुतिलिङ्गयोरेवैष विरोधो, न लिङ्गवाक्ययोरिति। अथ वा नात्रैकवाक्यत्वाद् इन्द्रप्राधान्यं गार्हपत्यप्राधान्यं वोपस्थानस्य। कुतस्तर्हि? इन्द्रशब्द-वत्त्वान्मन्त्रस्येन्द्रप्राधान्यं, द्वितीयाविभक्तिश्रवणाद् गार्हपत्यप्राधान्यम्। तस्माच्छ्रुति-लिङ्गयोर्विरोधः। किं तावत् प्राप्तम्?

तुल्यबले एते कारणे इति। कथम्? इदमपि कारणम्, इदमपि, श्रुतिरपि लिङ्ग-मपि। न हि विज्ञानस्य विज्ञानस्य च कश्चिद्विशेष उपलभ्यते रूपं प्रति, अस्य भङ्गुरस्येव रूपम्, अस्य दृढस्येवेति। ननु लिङ्गस्य भङ्गुरस्येव रूपं, सविचिकित्सो हि भवति लिङ्गात् प्रत्ययः। निर्विचिकित्सः श्रुतेः। नैतद् युक्तम्। यतो लिङ्गात् सविचिकित्सः प्रत्ययः। तस्य च श्रुतेश्च नैव सम्प्रधारणास्ति। यतस्तु खलु लिङ्गान्निर्विचिकित्सः

लिङ्ग के बलवान् होने पर भी ऐन्द्रया उपतिष्ठते यह [वाक्यस्थ] 'गार्हपत्य' शब्द के साथ एक-वाक्यता को प्राप्त होता ही है। यदि [गार्हपत्य शब्द के साथ एकवाक्यता को] प्राप्त न होवे, तो लिङ्ग से विरोध होवे। इसलिये गार्हपत्य शब्द के श्रवण से ही जो अर्थ प्रतीत होता है, वह लिङ्ग के बलवान् होने पर परित्यक्त होता है, अर्थात् छोड़ दिया जाता है और वह (=गार्हपत्य) उपस्थान से सम्बद्ध नहीं होता है। उस अवस्था में (=गार्हपत्य का उपस्थान के साथ सम्बन्ध न होने पर) इन्द्र को गार्हपत्य शब्द कहे, अथवा अग्नि की समीपता को। और यदि श्रुति प्रमाण होती है, तब लिङ्ग से प्रतीत हुआ इन्द्र का उपस्थान बाधित होता है। इसलिये यह श्रुति और लिङ्ग का ही विरोध है, लिङ्ग और वाक्य का विरोध नहीं है। अथवा यहां एकवाक्यत्व से इन्द्र का प्राधान्य अथवा गार्हपत्य का प्राधान्य उपस्थान का नहीं है। तो किस से है? मन्त्र के इन्द्र शब्द वाला होने से इन्द्र का प्राधान्य और द्वितीया विभक्ति के श्रवण से गार्हपत्य का प्राधान्य है, इस लिये श्रुति और लिङ्ग का विरोध है। क्या प्राप्त होता है?

ये [श्रुति और लिङ्ग] तुल्य बलवाले कारण हैं। [अङ्गाङ्गी भाव के बोधन में] यह भी कारण है और यह भी—श्रुति भी और लिङ्ग भी। द्विविध विज्ञान का रूप के प्रति कोई विशेष (=भेद) उपलब्ध नहीं होता है—इस विज्ञान का भङ्गुर (=विनष्ट होनेवाले) के सदृश रूप है और इस विज्ञान का दृढ़ (=स्थिर रहनेवाले) के समान रूप है। (आक्षेप) लिङ्ग का भङ्गुर के समान रूप है। लिङ्ग से संशय युक्त ज्ञान होता है, और श्रुति से संशय रहित ज्ञान होता है। (समाधान) यह युक्त नहीं है। जिस कारण लिङ्ग से संशय युक्त प्रत्यय होता है। इस कारण उसका और श्रुति का विचार नहीं है। जिस कारण लिङ्ग से संशय रहित ज्ञान होता है, इस कारण वह श्रुति के साथ विकल्प को प्राप्त हो सकता है।

प्रत्ययः स श्रुत्या विकल्पितुमर्हति। ननु नैव कदाचिल्लिङ्गान्निर्विचिकित्सः प्रत्ययोऽस्ति। नैतदेवम्। एवं हि सति नैव लिङ्गं नाम किञ्चित् प्रमाणमभविष्यत्। कामं मा भूत् प्रमाणं, भवति तु संशयो लिङ्गपरिज्ञातेष्वर्थेषु। यदि वा विस्पष्टमेवाप्रामाण्यं, न संशयः। कथम्? समर्थमेतदिममर्थमभिनिर्वर्त्तयितुमिति लिङ्गादेतावद् अवगम्यते। न च यद् यस्य निर्वर्त्तनायालं, तदसत्येव वचने तन्निर्वर्त्तयितुमर्हति। तस्मान्न लिङ्गं विनियोजकमिति॥ अत्राभिधीयते—प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निधाने यमर्थमामनन्ति स तस्य साधनभूत इत्येव गम्यते, कथं खलु उपकरिष्यतीति सन्दिह्यमाने भवति सामर्थ्यात् परिनिश्चयः। यत्रायं समर्थः, तत्र शक्यो विनियोक्तुमिति। तस्माद् भवति लिङ्गं प्रमाणमिति। न च लिङ्गप्रामाण्ये विनिगमनायां हेतुरस्ति। तस्मात् तुल्यबले एते कारणे। **कदा चन स्तरीरसि** इति लिङ्गादिन्द्र उपस्थातव्यः, श्रुतेर्गार्हपत्य इति। अविरोधात् खल्वपीममेवार्थं प्रतिपद्यामहे। बलीयानपि हेतुर्विरुद्ध्यमानमबलीयांसं बाधितुमर्हति, नाविरुद्धम्। न च कश्चन विरोधो, यदिन्द्रमुपतिष्ठेतानेन मन्त्रेण, गार्हपत्यमपि॥

नन्वयमेव विरोधः सकृदुपस्थानं चोदितम्, असकृदभिनिवर्त्यते इति। उपस्थेयभेदात् प्रतिप्रधानमावर्त्तन्ते गुणा इति न्याय एवैषः, न विरोधः। अयं तर्हि विरोधः—गार्हपत्ये उपस्थीयमाने अग्निवचन इन्द्रशब्दो गुणक्रियायोगं वाऽपेक्षमाणो भवितुमर्हति,

---

(आक्षेप) लिङ्ग से कभी भी संशयरहित ज्ञान नहीं होता है। (समाधान) ऐसा नहीं है। ऐसा होने पर लिङ्ग नाम का कोई प्रमाण नहीं होता। (आक्षेप) लिङ्ग प्रमाण न होवे, फिर लिङ्ग से परिज्ञात अर्थों में संशय होता ही है। और यदि विस्पष्ट ही लिङ्ग की अप्रमाणता है, तो संशय भी नहीं होता है। कैसे? यह इस अर्थ को सम्पन्न करने में समर्थ है, इतना ही लिङ्ग से जाना जाता है। और जो जिसको सिद्ध करने के लिये समर्थ है, वह वचन के न होने पर सिद्ध नहीं कर सकता है। इसलिये लिङ्ग विनियोजक नहीं है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं—प्रकरणवान् अर्थ के सामीप्य में जिस अर्थ का कथन करते हैं, वह उसका साधन रूप है, इतना जाना जाता है। 'यह कैसे उपकार करेगा' ऐसा सन्देह होने पर सामर्थ्य से निश्चय होता है—जहां यह समर्थ है, वहां यह विनियोग किया जा सकता है। इसलिये लिङ्ग प्रमाण होता है। और लिङ्ग की प्रमाणता होने पर निश्चय में कोई हेतु नहीं है। इस कारण ये [लिङ्ग और श्रुति] तुल्य बलवाले कारण हैं। कदा चन स्तरीरसि इस लिङ्ग से इन्द्र का उपस्थान करना चाहिये और श्रुति से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये। [दोनों में] विरोध न होने से इस अर्थ को हम प्राप्त होते हैं, अर्थात् जानते हैं। बलवान् हेतु भी विरोधी अल्प बलवाले को बाध सकता है, अविरुद्ध को नहीं बाध सकता। यहां कोई विरोध नहीं है—इस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान करे और गार्हपत्य का भी।

(आक्षेप) यही तो विरोध है कि उपस्थान एक बार कहा है और अनेक बार किया जाता है। (समाधान) उपस्थेय (=जिसका उपस्थान करना है, उस) के भेद से प्रतिप्रधान गुणों का आवर्तन होता है, यह न्याय है, विरोध नहीं है। (आक्षेप) अच्छा तो यह विरोध है—गार्हपत्य के उपस्थान में इन्द्र शब्द गुण अथवा क्रिया के योग की अपेक्षा करता हुआ अग्नि को

इन्द्रे तूपस्थातव्ये निरपेक्ष इन्द्रवचन एव। **गौणमुख्ययोश्च मुख्ये सम्प्रत्यय**[1] इति। नेति ब्रूमः। विरोधे मुख्येन गौणो बाध्येत, न च कश्चिद् विरोधः। युगपदभिधाने हि विरुद्धच्येयाताम्। इह चान्यस्मिन् प्रयोगेऽग्निवचनोऽन्यस्मिन्निन्द्रवचनः। अतस्तुल्यबले एते कारणे इति॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्बलीयसी। कुतः? अर्थविप्रकर्षात्। किमिदमर्थविप्रकर्षादिति? अर्थस्य विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः। कः पुनरर्थः? श्रुत्यर्थः। **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इति सन्निकृष्टः श्रुत्यर्थः, इन्द्र उपस्थेय इति **विप्रकृष्टः**। **कथम्? कदा चन स्तरीरसि** इत्यनेन मन्त्रेणेन्द्र उपस्थातव्य इति न श्रूयते। सत्यपीन्द्राभिधानसामर्थ्ये वचनाभावादनुपस्थानीय इन्द्र इत्येव गम्यते। नन्विदमुक्तम्—प्रकरणाम्ना-

---

कहनेवाला हो सकता है। इन्द्र के उपस्थान में निरपेक्ष इन्द्र का वाचक ही है। गौण और मुख्य में मुख्य में कार्य जाता है। (समाधान) [**गौण मुख्य न्याय**] नहीं है, ऐसा कहते हैं। **विरोध होने पर मुख्य से गौण बाधा जाता है। यहां कोई विरोध नहीं है। दोनों को एक साथ कहने में विरुद्ध होवें। यहां तो अन्य प्रयोग में अग्नि को कहनेवाला है, अन्य में इन्द्र को कहनेवाला। इस लिये ये** [**श्रुति और लिङ्ग**] **तुल्य बलवाले कारण हैं। इस प्रकार** (=**श्रुति** और **लिङ्ग की तुल्यबलता**) **प्राप्त** होने **पर** कहते हैं—

विवरण—सकृदुपस्थानं चोदितम्—**कदा चन स्तरीरसीत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते**—वचन से एक बार ही उपस्थान कहा गया है। परन्तु आक्षेप्ता के वचनानुसार **कदा चन स्तरीरसीत्यैन्द्रचा इन्द्रमुपतिष्ठते** और **कदा चन स्तरीरसीत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इस प्रकार सम्बन्ध करने पर दो उपस्थान विहित होते हैं। **गुणक्रियायोगं वाऽपेक्षमाणः**—यहां गुणयोगं क्रियायोगं **वाऽपेक्षमाणः** ऐसा कहना चाहिये, समस्त **गुणक्रियायोगं** प्रयोग में 'वा' पद असम्बद्ध रहता है। **गुणयोगम्**—इन्द्र के गुण ऐश्वर्यवत्ता को लेकर इन्द्र गार्हपत्य अग्नि को कहेगा अथवा **क्रियायोगम्—इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति यः सः** इस प्रकार क्रिया के सम्बन्ध से इन्द्र शब्द अग्नि को कहेगा। इस प्रकार इन्द्र शब्द का गौण अर्थ गृहीत होता है।

व्याख्या—**श्रुति और लिङ्ग में श्रुति बलवान् होती है। किस हेतु से? अर्थ की दूरी से।** यह अर्थविप्रकर्षात् **क्या है? अर्थ का विप्रकर्ष** (=दूरत्व) **अर्थविप्रकर्ष है। अर्थ क्या है? श्रुति का अर्थ।** गार्हपत्यमुपतिष्ठते में [**उपस्थान के प्रति गार्हपत्य रूप**] **श्रुत्यर्थ निकट है। 'इन्द्र का उपस्थान करना चाहिये' यह दूर है। कैसे?** कदा चन स्तरीरसि **इस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान करना चाहिये, यह अर्थ नहीं सुना गया है। इन्द्र के कथन में सामर्थ्य होने पर भी** [इन्द्र उपस्थेयः **इस प्रकार के**] **वचन का अभाव होने से इन्द्र उपस्थान योग्य नहीं है, यही जाना जाता है।** (आक्षेप) **अभी तो कहा है कि प्रकरण में** [कदाचन **मन्त्र का**] **पाठ होने से यह कर्म**

---

१. **लौकिकोऽयं न्यायः।** पातञ्जल-महाभाष्ये 'गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इत्येवं **बहुधोदाह्रियते। द्र०** महाभाष्य **१।१।१५, २३; १।२।६९; १।४।३२; ३।१।१; ६।३।४६॥**

नादङ्गमित्यवगम्यते, सामर्थ्याद् विनियोग इति । नैतदस्ति । उक्तमेवैतत् **धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् अशब्दमनपेक्षं स्याद्**[1] इति ।। यदेतत् प्रकरणं लिङ्गं च उभयमप्येतदशब्दम् । न चातिक्रान्तप्रत्यक्षविषये एवंलक्षणके अर्थे शब्दमन्तरेण परिच्छेदोऽवकल्पते । अतो मन्यामहे, विप्रकृष्टं श्रुत्यर्थाल्लिङ्गमिति । यद्येवं श्रुतिर्यत्र विरोधिनी न विद्यते, तत्रापि न लिङ्गादर्थपरिच्छेदः । तत्रैतदेव नास्ति लिङ्गं प्रमाणमिति । कुत एवैतेन श्रुतिर्विरोत्स्यते इति । तत्र श्रुतिलिङ्गयोर्बलीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणैव नोपपद्यते इति ब्रूमः । अत्रोच्यते—इतिकर्त्तव्यतार्थिनः प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निधावुपनिपतितो मन्त्र आम्नानसामर्थ्यादिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य वाक्यशेषतामभ्युपेत्य एतेन मन्त्रेण यजेतेति । किमुक्तं भवति ? यागेन अभीप्सिते साध्यमानेऽनेन मन्त्रेणोपकुर्यादिति । चान्तरेणेन्द्राभिधानम् अयं मन्त्र उपकर्त्तुं शक्नोति । तेनैतदुक्तं भवति—अनेन इन्द्रोऽभिधातव्य इति । अतः श्रुतिमूल एवायमर्थः । यदि श्रुतिमूलः, न श्रुत्यन्तरेण बाधितुं शक्यः । तदेतल्लिङ्गं यदि वा नैव प्रमाणम् । यदि वा श्रुत्या विकल्पितुमर्हतीति । नाप्यप्रमाणं भविष्यति, नापि विकल्पिष्यते इति ब्रूमः । कथम् ? श्रुतिलक्षणोऽयमर्थ इत्युपपादितम् । तस्माद् नाप्रमाणम् । यतस्तु खल्वा-

---

का अङ्ग है, यह जाना जाता है और सामर्थ्य से [इन्द्र के उपस्थान में] विनियोग होगा। (समाधान) यह नहीं है । यह कह चुके हैं—'धर्म के विधि-शब्दमूलक होने से जो शब्द से नहीं कहा गया है, वह अनपेक्ष होता है' (द्र०–मी० १।३।१) । जो यह प्रकरण और लिङ्ग है, ये दोनों ही अशब्द (=शब्द से बोधित नहीं) हैं । और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ऐसे शब्दमूलक अर्थ में शब्द के बिना परिच्छेद (=धर्म का निश्चय) उपपन्न ही नहीं होता है । इससे हम मानते हैं कि श्रुत्यर्थ से लिङ्ग दूर है । (आक्षेप) यदि ऐसा है, अर्थात् शब्द के बिना निश्चय ही नहीं हो सकता है, तो जहां श्रुति विरोधी नहीं है, वहां भी लिङ्ग से अर्थ का निश्चय नहीं होगा । ऐसी अवस्था में 'लिङ्ग प्रमाण है' यही सिद्ध नहीं होगा, तो कैसे लिङ्ग से श्रुति विरुद्ध होवेगी। तब श्रुति और लिङ्ग में बलवत्ता के प्रति विचार ही उपपन्न नहीं होता है । (समाधान) इस विषय में कहते हैं - इति कर्तव्यता की चाहना करनेवाले प्रकरणवान् अर्थ की समीपता में पढ़ा गया मन्त्र पाठ-सामर्थ्य से इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले वाक्य के शेष भाव को प्राप्त होकर 'इस मन्त्र से यजन करे' ऐसा जाना जाता है । इससे क्या कहा जाता है ? याग से इष्ट को सिद्ध करते हुए इस मन्त्र से उपकृत करे । विना इन्द्र का कथन किये यह मन्त्र उपकार नहीं कर सकता है । इससे यह उक्त होता है कि इस मन्त्र से इन्द्र का कथन करना चाहिये । इस कारण यह अर्थ श्रुतिमूलक ही है । (आक्षेप) यदि [उक्त अर्थ] श्रुतिमूलक है तो श्रुत्यन्तर से नहीं बाधा जा सकता है । यह लिङ्ग या तो प्रमाण नहीं है अथवा [यदि प्रमाण है तो] श्रुति के साथ विकल्पित हो सकता है । (समाधान) लिङ्ग न तो अप्रमाण होगा और न ही श्रुति के साथ विकल्प को प्राप्त होगा, ऐसा हम कहते हैं । कैसे ? यह अर्थ श्रुतिलक्षित है, यह उपपादित (=सिद्ध) कर चुके । इसलिये अप्रमाण नहीं है । यतः आनुमानिक एकवाक्यता और लिङ्ग के सामर्थ्य

---

१. मी० १।३।१।।

नुमानिकीमेकवाक्यतां लिङ्गसामर्थ्यं चापेक्ष्य श्रौतोऽयमर्थो यदिन्द्रस्योपस्थानमनेन मन्त्रेणेत्यवगम्यते। प्रत्यक्षा तु श्रुति गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति। स एषोऽर्थविप्रकर्षः। प्रथमं तावल्लिङ्गज्ञानम्। ततः सामर्थ्याच्छब्देनायमर्थोऽभिहितो भवति। तदेतच्छ्रुतिविरोधे नावकल्पते। विस्पष्टं ह्यवगतमेतत्—अनेन मन्त्रेण गार्हपत्य उपस्थेय इति। तत्र विज्ञातमेतदेवमयमुपकरोति मन्त्र इति। एतस्मिंश्च निर्ज्ञाते कृतसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रकरणयोर्नैतदेवं कल्पयितुं शक्यम्। इन्द्रोपस्थानं शब्देनाभिहितमिति। तस्मादर्थविप्रकर्षाच्छ्रुत्या लिङ्गं बाध्यते इति॥

विकल्पस्य चान्याय्यत्वात्। अन्याय्यश्च विकल्पः। तत्र हि अभावः पक्षे। नित्यवच्च ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति श्रूयमाणे यदभावः पक्षे परिकल्प्यते तदश्रुतं भवति, श्रुतं च हीयते। यावांश्च श्रुतस्यार्थस्योत्सर्गे दोषस्तावानश्रुतपरिकल्पनायाम्। उभयत्र हि प्रसिद्धिर्बाध्यते। तस्मादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्बलीयसीत्यवगच्छामः॥

अथ यदुक्तं सति विरोधे न्याय्यो बाधः। न चात्रास्ति विरोध इति। अयमस्ति

की अपेक्षा करके यह श्रौत अर्थ 'इन्द्र का उपस्थान इस मन्त्र से होता है' ऐसा जाना जाता है। गार्हपत्यमुपतिष्ठते यह प्रत्यक्ष श्रुति है। यह [लिङ्ग के] अर्थ का विप्रकर्ष (=दूरत्व) है। प्रथम लिङ्ग का ज्ञान करना, उसके पश्चात् सामर्थ्य से शब्द से यह अर्थ कहा जाता है। [इसकी प्रतीति होती है]। यह श्रुति के विरोध होने पर उपपन्न नहीं होता है। यह विस्पष्ट ही जाना गया है—इस मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये। इसमें यह जाना गया कि यह मन्त्र इस प्रकार उपकार करता है। इस अर्थ के निर्ज्ञात होने पर वाक्य और प्रकरण के कृतसामर्थ्य (=जिनका सामर्थ्य उपपन्न हो गया है, ऐसा) होने पर इस प्रकार से कल्पना नहीं की जा सकती है कि इन्द्र का उपस्थान शब्द से कहा गया है। इस कारण अर्थ की दूरी से श्रुति से लिङ्ग बाधित होता है।

विवरण—कृतसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रकरणयोः—यहां मन्त्ररूप वाक्य का सामर्थ्य याग का उपकाररूप प्रयोजनत्व, और प्रकरण का सामर्थ्य याग का अङ्गत्वबोधरूप प्रयोजनत्व जानना चाहिये।

व्याख्या—विकल्प के अन्याय होने से भी। [श्रुति और लिङ्ग का] विकल्प अन्याय्य भी है। विकल्प में पक्ष में अभाव होगा। ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते के नित्यवत् श्रूयमाण होने पर जो पक्ष में अभाव की कल्पना होती है, वह अश्रुत है और श्रुत अर्थ का त्याग होता है। जितना दोष श्रुत अर्थ के त्याग में होता है, उतना ही अश्रुत अर्थ की कल्पना में भी होता है। दोनों में ही प्रसिद्धि का बाध होता हैं। इस कारण विकल्प के अन्याय्य होने से श्रुति और लिङ्ग में श्रुति बलवान् होती है, ऐसा जानते हैं।

और यह जो कहा है कि 'विरोध होने पर बाध न्याय्य है। यहां [श्रुति और लिङ्ग में]

विरोधः। यदकृतसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रकरणयोरिन्द्रोपस्थानवाचिनी श्रुतिर्भवति। कृतसामर्थ्ययोस्तु नावकल्पते। न च वाक्यप्रकरणाभ्यां युगपत् कृतसामर्थ्याभ्यामकृतसामर्थ्याभ्यां च शक्यं भवितुम्। तस्माद् विरोधः। विरोधे च श्रुतिर्लिङ्गाद् बलीयसीति॥

लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे किमुदाहरणम्? **स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः**[1] इति। अत्र सन्देहः—किं कृत्स्नो मन्त्र उपस्तरणे पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्यः, उत **कल्पयाम्यन्त** उपस्तरणे **तस्मिन् सीदेत्येवमादिः** पुरोडाशासादने इति? यदि वाक्यं बलीयः, ततः कृत्स्न उभयत्र।

विरोध नहीं है'। उनमें यह विरोध है—जिनका सामर्थ्य अनुपपन्न है, ऐसे [मन्त्ररूप] वाक्य और प्रकरण की इन्द्रोपस्थानवाची श्रुति होती है। वाक्य और प्रकरण के समर्थ होने पर [इन्द्रोपस्थान श्रुति] उपपन्न नहीं होती है। वाक्य और प्रकरण एक साथ (=एक काल में) उपपन्न सामर्थ्य वाले और अनुपपन्न सामर्थ्यवाले नहीं हो सकते हैं। इस कारण विरोध है और विरोध होने पर श्रुति लिङ्ग से बलवान् होती है।

विवरण—यदकृतसामर्थ्ययो····श्रुतिर्भवति—इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मन्त्र रूप वाक्य और प्रकरण यागाङ्ग बोध प्रयोजन रूप सामर्थ्य से युक्त होते हैं, उससे पूर्व ही **गार्हपत्यमुपतिष्ठते** श्रुति प्रवृत्त होकर इन्द्रोपस्थान का विधान कर देती है। और यदि वाक्य और प्रकरण यागाङ्ग बोध प्रयोजन रूप सामर्थ्य से युक्त हो जाते हैं, अर्थात् **अनेन मन्त्रेण इन्द्रोपस्थानं कर्तव्यम्** ऐसा कहने में समर्थ हो जाते हैं, तो गार्हपत्य का उपस्थान उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि एक मन्त्र से एक उपस्थान कहा है।

[अथ वाक्यात् लिङ्गस्य प्राबल्याधिकरम्]

व्याख्या—**लिङ्ग और वाक्य के विरोध में क्या उदाहरण है?** स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमस्यमानः (=**हे पुरोडाश! तेरा सुखकारी ठहरने का स्थान बनाता हूं, उसे घृत की धारा से अच्छा सेवन योग्य सुखकारी बनाता हूं। उस स्थान में तू बैठ, अमृत=घृत अथवा उपद्रव रहित स्थान में स्थिर हो, हे व्रीहियों=धानों के सार भूत! प्रसन्न चित्तवाला होकर**)। इसमें सन्देह है—**क्या पूरा मन्त्र [पुरोडाशपात्री के घृत से] उपस्तरण (=चुपड़ने) और पुराडाश के पुरोडाशपात्री में रखने में प्रयोग करना चाहिये, अथवा** 'कल्पयामि' **पर्यन्त** [पुरोडाशपात्री के] **उपस्तरण में और** 'तस्मिन् सीद' **इत्यादि पुराडाश के पुरोडाशपात्री में रखने में? यदि वाक्य बलवान् है तो पूरा मन्त्र दोनों (=उपस्तरण और पुरोडाश के आसादन) में प्रयोग करना चाहिये। किस हेतु से?**

---

१. यथाश्रुत पाठस्तु नोपलब्धेषु संहिताब्राह्मणेषूपलभ्यते। मानवश्रौतसूत्रे तु विभज्य विनियोगः प्रदर्श्यते। द्र०—१।२।६।१६, २२॥ तै० ब्राह्मणे (३।७।५) तु 'कृणोति' पदस्य स्थाने 'करोमि' इत्याम्नायते।

कथम् ? **सुशेवं कल्पयामीत्येतदपेक्ष्य तस्मिन् सीदेत्येवमादिः** पूर्वेणैकवाक्यतामुपैति—यत् कल्पयामि, तस्मिन् सीदेति । अथ लिङ्गं बलीयः,ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे । कथम्? **स्योनं ते सदनं कृणोमीति** सदनकरणमभिवदितुमयमलमिति। **तस्मिन् सीदेत्ययमपि** पुरोडाशं सादयितुमिति सादने विनियुज्यते ॥ किं तावत् प्राप्तम्—

सुशेवं कल्पयामि (=**अच्छा सुखकारी बनाता हूं**) **की अपेक्षा करके** तस्मिन् सीद (=**उस में बैठ**) **इत्यादि पूर्व के साथ एकवाक्यता को** प्राप्त होता है—**जिसे बनाता हूं, उसमें बैठ । और यदि लिङ्ग बलवान् है, तो उस से** 'कल्पयामि' **पर्यन्त स्थान बनाने में । किस हेतु से** ? स्योनं ते सदनं कृणोमि **यह स्थान बनाने को कहने में समर्थ है और** तस्मिन् सीद **यह भी पुरोडाश को [उस स्थान में] रखने में । इसलिये पुरोडाश के रखने में विनियुक्त होता है । क्या प्राप्त होता है** ?

विवरण—उपस्तरणे—स्रुवा में घृत भरकर किसी पात्र **को** चिकना करना उपस्तरण कहाता है । यहां पुरोडाशपात्री=जिसमें पके हुए पुरोडाश को रखा जाता है, का घृत से उपस्तरण अभिप्रेत है । **यदि वाक्यं बलीयः**—मन्त्र के उत्तरार्ध में **तस्मिन्** पद का निर्देश है । **यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः** यत् और तत् शब्दों का परस्पर साकाङ्क्ष होने से नित्य सम्बन्ध होता है । दोनों में से किसी एक का वाक्य में प्रयोग होने पर दूसरे का सम्बन्ध स्वतः उत्पन्न हो जाता है । अतः यहां **यस्मिन् ते सदनं कृणोमि···तस्मिन् सीद··** की एकवाक्यता जानी जाती है । अतः वाक्य के बलवान होने पर पूरा मन्त्र पुरोडाशपात्री में घृत के उपस्तरण द्वारा स्थान बनाने और पुरोडाश को उस स्थान में रखने में विनियोग प्राप्त होता है । **अथ लिङ्गं बलीयः**—मन्त्र के पूर्व भाग में **सदनं कृणोमि** में स्थानकरण लिङ्ग है, और उत्तरभाग में **तस्मिन् सीद** पुरोडाश का स्थापन रूप लिङ्ग है । इन दोनों की बलवत्ता होने पर पूर्व भाग स्थानकरण में और उत्तर भाग पुरोडाश के स्थापन में विनियुक्त होगा ।

विशेष—यहां पर यह विज्ञातव्य है कि यह मन्त्र उपलब्ध संहिताओं और ब्राह्मणों में से केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।५ में मिलता है । उसमें **कृणोमि** के स्थान में **करोमि** पाठ है । **कृणोमि** पाठ सम्प्रति केवल मानव श्रौत १।२।६ में मिलता है, वहां पूर्वार्ध १९वें सूत्र से उपस्तरण में विनियुक्त है, और उत्तरार्ध २२वें सूत्र से पुरोडाश के रखने में विनियुक्त है । इससे यह सम्भावना हो सकती है कि मानव श्रौत की जो संहिता रही होगी,उससे भाष्यकार ने यह मन्त्र उद्धृत किया होगा (इस मन्त्र का निर्देश भाष्यकार ने मी० २।१।४६ के भाष्य में भी किया है) । प्रसङ्ग से यहां एक बात और लिख देना चाहते हैं दर्श पूर्णमास में पुरोडाश व्रीहि वा यव का होता है । व्रीहिमय पुरोडाश में **व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः** मन्त्र अक्षरशः विनियुक्त हो जाता है, परन्तु यवमय पुरोडाश में यह मन्त्र विनियुक्त नहीं हो सकता है । आप० श्रौत २ ११।२ में **तूष्णीं यवमयम्** से यवमय पुरोडाश का बिना मन्त्र के आसादन कहा है । मानव श्रौत १।२।६।२२ में **यवानां मेध इति यवानाम्** निर्देश से **व्रीहीणां मेध** के स्थान में **यवानां मेध** ऐसा ऊह दर्शाया है । मीमांसकों का मत है कि प्रकृति में ऊह नहीं होता है । अतः मानव सूत्र विशेष विचारार्ह हो जाता है ।

तुल्यबले एते कारणे इति । यथा लिङ्गं प्रति श्रुतेर्बलीयस्त्वमुक्तम्, न तथा वाक्यं प्रति लिङ्गस्योच्यते । अथ वा वाक्यमेव लिङ्गाद् बलीयः । कुतः ? तद्धि श्रुत्यापि बाध्यते । न च बलीयः कारणं शक्यते बाधितुम् । तेनास्य भङ्गुरतामध्यवस्यामः । यस्त्वेकेन बाध्यते, शक्योऽसावन्येनापि बाधितुमिति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलीय इति । कुतः ? अर्थविप्रकर्षात् । कोऽत्रार्थविप्रकर्षः ? प्रकरणवतः सन्निधावाम्नानाद् दर्शपूर्णमासाङ्गमयं मन्त्र इत्यवगम्यते । **तस्मिन् सीद** इति पुरोडाशासादनाभिधानसामर्थ्यात् सादने विनियुज्यमाने कृतसामर्थ्यं मन्त्राम्नानमिति, नास्ति प्रमाणं येनोपस्तरणेऽपि विनियुज्येत । तथा **स्योनं ते सदनं कृणोमि** इत्येषोऽपि प्रकरणाम्नानसामर्थ्यादेव दर्शपूर्णमासाङ्गतामापन्नः सामर्थ्यादेवोपस्तरणे विनियोगात् कृतप्रयोजनः, न पुरोडाशासादने विनियोगमर्हति । न हि अस्मिन् विनियुज्यमानस्य किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति । एवमुपस्तरणे **तस्मिन् सीद** इत्यस्य नास्ति सामर्थ्यम्, पुरोडाशासादनेऽपि **स्योनं ते** इत्यस्य । पूर्वेणैकवाक्यतामुपेत्योपस्तरणे सामर्थ्यम्, पूर्वस्य परेणैकवाक्यत्वात् सादने । न तु स्वरूपेणोभयोः ।

व्याख्या—ये (=लिङ्ग और वाक्य) तुल्य बलवाले कारण हैं । जैसे लिङ्ग के प्रति श्रुति की बलवत्ता कही है,उस प्रकार वाक्य के प्रति लिङ्ग की बलवत्ता नहीं कही जाती है । अथवा वाक्य ही लिङ्ग से बलवान् है । किस हेतु से ? वह लिङ्ग श्रुति से बाधा गया है, और जो बलवान् कारण होता है, वह बाधा नहीं जा सकता है । इस कारण लिङ्ग की भङ्गुरता (=अस्थिरता) को निश्चित जानते हैं । जो एक से बाधा जाता है,वह अन्य से भी बाधा जा सकता है । ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

लिङ्ग और वाक्य में लिङ्ग बलवान् है । किस हेतु से ? अर्थ की दूरी से । यहां अर्थ की दूरी क्या है ? प्रकरणवान् [दर्शपूर्णमास] की समीपता में पढ़ने से यह [स्योनं ते०] मन्त्र दर्शपूर्णमास का अङ्ग है, ऐसा जाना जाता है । 'तस्मिन् सीद' का पुरोडाश के स्थापन रूप अर्थ के कथन में सामर्थ्य होने से पुरोडाश के स्थापन में मन्त्र का पाठ सफल सामर्थ्यवाला होता है । कोई प्रमाण नहीं है, जिससे [तस्मिन् सीद] उपस्तरण में भी विनियुक्त होवे । तथा 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह भी प्रकरण में पाठ सामर्थ्य से ही दर्शपूर्णमास के अङ्गभाव को प्राप्त हुआ, अपने अर्थ के सामर्थ्य (=लिङ्ग) से उपस्तरण में विनियुक्त हुआ सफल प्रयोजनवाला हो जाता है । इससे पुरोडाश के रखने में विनियोग के योग्य नहीं होता है । इस (=पुरोडाश के स्थापन) में विनियुक्त होने का [इस स्योनं ते० मन्त्र का] कुछ भी प्रयोजन नहीं है । इसी प्रकार उपस्तरण में तस्मिन् सीद इसका सामर्थ्य नहीं है और नाही पुरोडाश के स्थापन में स्योनं ते मन्त्र का सामर्थ्य है । [तस्मिन् सीद का] पूर्व [स्योनं ते] से एकवाक्यता को प्राप्त होकर उपस्तरण में सामर्थ्य जाना जाता है, और पूर्व [स्योनं ते] का पर [तस्मिन् सीद] के साथ एक वाक्यता होने से पुरोडाश के स्थापन में सामर्थ्य जाना जाता है, दोनों का स्वरूप से [उपस्तरण और पुरोडाश के स्थापन में] सामर्थ्य नहीं जाना जाता है ।

तदेषोऽर्थविप्रकर्षः—यत् **स्योनं ते** इत्यस्य प्रत्यक्षं सदनकर्मणोऽभिधानसामर्थ्यम्, तन्मुख्यम् । **तस्मिन् सीद** इत्यस्य पुनः पूर्वेण सहैकवाक्यतामुपगतस्य भवति जघन्यम् । तदत्र पूर्वस्य मन्त्रस्याभिधानसामर्थ्यादुपस्तरणे विनियोग उक्तो भवतीति सन्निकृष्टो लिङ्गस्य श्रुत्यर्थः । उत्तरस्य तूपजनितेऽभिधानसामर्थ्ये ततः श्रुत्यर्थ इति लिङ्गान्तरितो विप्रकृष्टो भवति । एवमुत्तरस्य सादने सन्निकृष्टः, पूर्वस्य च लिङ्गान्तरितः । तस्मादर्थविप्रकर्षाल्लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलवत्तरम् । ततः **स्योनमि**त्येष शब्दो यद्यप्युत्तरेण आकाङ्क्षित इति सादनेऽपि प्रयोगमर्हति, तथापि भित्त्वा वाक्यमुपस्तरण एव विनियोक्तव्यः, **तस्मिन् सीद** इत्येष च सादने ॥

ननु **स्योनं ते** इत्यस्य शब्दस्य यथैवोपस्तरणाभिधानसामर्थ्यम्, एवमुत्तरेणैकवाक्यतामुपगन्तुं सामर्थ्यम् । सामर्थ्यं च लिङ्गमित्युच्यते । तस्माद्भिद्यमाने वाक्ये लिङ्गमेव बाधितं भवतीति । सत्यमेवम् । एतदपि लिङ्गम् । लिङ्गमपि खल्वेतदेवँल्लक्षणकं

इनका अर्थ का विप्रकर्ष यह है—जो यह स्योनं ते का प्रत्यक्ष स्थान बनाना रूप [उपस्तरण] कर्म के कथन करने का सामर्थ्य (=लिङ्ग) है, वह प्रमुख है, और तस्मिन् सीद का पूर्व के साथ एक वाक्यता को प्राप्त हुए का जो [स्थान बनाना रूप=उपस्तरण कर्म का] सामर्थ्य जाना जाता है, वह जघन्य (=गौण) है। सो यहां पूर्व [स्योनं ते] मन्त्र के अभिधान-सामर्थ्य से उपस्तरण में विनियोग उक्त होता है, इससे लिङ्ग का श्रुत्यर्थ (=इस मन्त्र से उपस्तरण करे) निकट है, अर्थात् लिङ्ग=उपस्तरण के कथन सामर्थ्य से 'इस मन्त्र से उपस्तरण करे' ऐसी श्रुति की साक्षात् कल्पना होती है। उत्तर [तस्मिन् सीद] का तो [एकवाक्यता से उपस्तरण में] अभिधान-सामर्थ्य के उत्पन्न किये जाने पर उससे श्रुत्यर्थ जाना जाता है। अर्थात् 'तस्मिन् सीद' भाग में एकवाक्यता के बल से लिङ्ग=उपस्तरण के कहने का सामर्थ्य उत्पन्न किया जाता है='तस्मिन् सीद' भाग उपस्तरण अर्थ को कहने में समर्थ है। लिङ्ग=अभिधान सामर्थ्य की कल्पना के पश्चात् 'इससे उपस्तरण करे' ऐसी श्रुति की कल्पना की जाती है। इस प्रकार श्रुत्यर्थ (='तस्मिन् सीद' से उपस्तरण करे) लिङ्ग (=उत्पादित अभिधान-सामर्थ्य) से व्यवहित होने से दूर है। इसी प्रकार उत्तर [तस्मिन् सीद] का पुरोडाश के स्थापन में श्रुत्यर्थ निकट है और पूर्व [स्योनं ते] का पुरोडाश के स्थापन में श्रुत्यर्थ लिङ्ग से व्यवहित है। इस कारण अर्थ की दूरता से लिङ्ग और वाक्य में लिङ्ग बलवान् है। इस से 'स्योनं ते' यह शब्द यद्यपि उत्तर [तस्मिन् सीद] के साथ आकाङ्क्षा रखने से पुरोडाश के स्थापन में भी प्रयोग को प्राप्त हो सकता है, फिर भी वाक्य का भेद करके [स्योनं ते] उपस्तरण में ही विनियोग किया जाना चाहिये और 'तस्मिन् सीद' यह पुरोडाश के स्थापन में।

(आक्षेप) 'स्योनं ते' इस शब्द का जिस प्रकार उपस्तरण के कथन में सामर्थ्य है, उसी प्रकार उत्तर वाक्य [तस्मिन् सीद] के साथ एकवाक्य भाव को प्राप्त होने का भी सामर्थ्य है। और सामर्थ्य ही लिङ्ग कहाता है। इस कारण वाक्यभेद होने पर लिङ्ग ही बाधित होता है। (समाधान) यह सत्य है। यह भी लिङ्ग ही होता है। लिङ्ग भी इसी प्रकार का दूरार्थवाला

विप्रकृष्टार्थमेव भवति। लिङ्गादेकवाक्यता, तस्मादभिधानसामर्थ्यम्, ततः श्रुत्यर्थ इति विप्रकृष्टार्थता। विप्रकृष्टार्थता च बाधने हेतुभूता। तस्मान्नोत्तरेणैवाक्यतां यास्यतीति, एवं **तस्मिन् सीद** इत्युत्तरं न पूर्वेणापि॥ अपि चोत्तरेणैकवाक्यतामुपगतस्य न किञ्चिदपि दृष्टमस्ति कार्यम्। उपस्तरणप्रत्यायनं तु दृष्टम्। कुतः? श्रुतत्वादुपस्तरणस्य सादनस्य च[1]। एवमुत्तरस्य सादनप्रत्ययायनं, न तु पूर्वेणैकवाक्यतायाम्। न चैतौ पूर्वोत्तराभ्यामेकवाक्यतामन्तरेण पृथग् यथायथं कार्यं न कुरुतः। तस्मात् पूर्वः पूर्वत्र विनियोजनीयः, उत्तर उत्तरत्रेति॥

अथ यदुक्तम्—श्रुत्यापि तद् बाधितमिति वाक्येनापि तद् बाधितव्यमिति। नैतदेवम्। न हि बाधितस्यान्येनापि बाधनमेव न्याय्यम्। बाधितं हि अनुग्रहीतव्यमर्थवत्त्वाय, श्रुतिं प्रति विप्रकृष्टार्थं, वाक्यं प्रति सन्निकृष्टार्थम्। तस्माल्लिङ्गं बलीय इति॥

ही होता है। लिङ्ग से एकवाक्यता होगी। उस [एकवाक्यता] से अभिधान के सामर्थ्य (=यह उपस्तरण में समर्थ है) की प्रतीति होगी और उस [अभिधान सामर्थ्य रूप लिङ्ग] से श्रुति (=इस से उपस्तरण करे) अर्थ की। इस प्रकार अर्थ की दूरता है। अर्थ की दूरता ही बाधने में हेतु रूप है। इस कारण [स्योनं ते वचन] उत्तर [तस्मिन् सीद] के साथ एकवाक्यता को प्राप्त नहीं होगा, और इसी प्रकार 'तस्मिन् सीद' यह उत्तर वचन पूर्व [स्योनं ते] के साथ एकवाक्यता को प्राप्त नहीं होगा। और भी, उत्तर [तस्मिन् सीद] के साथ एकवाक्यता को प्राप्त हुए [स्योनं ते] का कुछ भी दृष्ट कार्य नहीं है। उस [स्योनं ते] का उपस्तरण को कहना तो दृष्ट कार्य है। किस हेतु से? उपस्तरण और पुरोडाश को रखना कार्य के श्रुत होने से। इसी प्रकार उत्तर [तस्मिन् सीद] का पुरोडाश को रखने का ज्ञान कराना दृष्ट कार्य है, पूर्व [स्योनं ते] के साथ एकवाक्यता में कोई दृष्ट कार्य नहीं है। और ये दोनों पूर्व और उत्तर की एकवाक्यता के बिना यथायथ (=जैसा कहा है, वैसा) पृथक्-पृथक् कार्य नहीं करते, ऐसा भी नहीं है अर्थात् दोनों वाक्य पृथक्-पृथक् क्रमशः उपस्तरण और पुरोडाश का स्थापन अर्थ को कहते ही हैं। इसलिये पूर्व [स्योनं ते] वाक्य का पूर्वत्र (=उपस्तरण में) विनियोग करना चाहिये और उत्तर [तस्मिन् सीद] वाक्य का उत्तरत्र (=पुरोडाश के स्थापन में) विनियोग करना चाहिये।

और जो यह कहा है—श्रुति ने भी उसे (=लिङ्ग को) बाधा है, इसलिये वाक्य से भी उस (=लिङ्ग) को बाधना चाहिये। यह ऐसा नहीं है। एक के द्वारा बाधे गये का दूसरे के द्वारा भी बाधा जाना न्याय्य नहीं है। बाधे गये को अनुगृहीत करना चाहिये, उसकी प्रयोजनवत्ता के लिये अर्थात् जिससे वह बाधित अर्थ कहीं प्रयोजनवाला होवे, इसलिये उस पर अनुग्रह (=कृपा) करना चाहिये। श्रुति के प्रति लिङ्ग दूर अर्थवाला है, वाक्य के प्रति लिङ्ग निकट अर्थवाला है। इस कारण लिङ्ग [वाक्य से] बलवान् है॥

---

१. द्र०—स्योनं ते सदनं कृणोमि……पात्र्यामुपस्तृणाति। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ … इत्युपस्तीर्णे सादयति। मानव श्रौत १।२।६।१६, २२॥

अथ वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे कथमिति ? किं पुनः प्रकरणं नाम ? कर्त्तव्यस्येति-कर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम् । प्रारम्भो हि स तस्या वचनक्रियायाः । स एष विध्यादिर्विध्यन्तापेक्षः । वाक्यं तूक्तमेव । तयोर्विरोधे किमुदाहरणम् ? सूक्तवाकनिगदः[२]। तत्र हि पौर्णमासीदेवता अमावास्यादेवताश्चाम्नाताः । ताः परस्परेणैकवाक्यतां नाभ्युपयन्ति । तत्र लिङ्गसामर्थ्यात् पौर्णमासप्रयोगादिन्द्राग्निशब्द उत्क्रष्टव्योऽमावास्यायां प्रयोक्तव्यः । अथेदानीं सन्दिह्यते—योऽस्य शेषः, **अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्** यावत्कृत्वा सूक्तवाके समाम्नातस्तावत्कृत्व उभयोः पौर्णमास्यमावास्ययोः प्रयोक्तव्यः, प्रकरणं बलवत्तरमिति, उत यत्रेन्द्राग्निशब्द उत्कृष्य नीतस्तत्रैव प्रयोक्तव्यः, वाक्यं बलवत्तरमिति? एवं सर्वेषु संशयः । किं तावत् प्राप्तम् ?

[अथ प्रकरणाद् वाक्यस्य प्राबल्याधिकरणम्]

व्याख्या—श्रुति और वाक्य के विरोध में कैसे [निर्णय] होगा ? प्रकरण क्या है ? इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा करनेवाले कर्तव्य (=कर्म) का वचन प्रकरण कहाता है । वह उस वचन रूप क्रिया का प्रारम्भ होता है । यह प्रकरण विधि के आरम्भ से लेकर विधि के अन्त तक की अपेक्षा रखनेवाला होता है । वाक्य का लक्षण तो कह ही दिया है । इन दोनों के विरोध में क्या उदाहरण है ? सूक्तवाक-संज्ञक निगद । उस [सूक्तवाक निगद] में पौर्णमासी के देवता और अमावास्या के देवता पढ़े हैं । वे परस्पर एकवाक्यता को प्राप्त नहीं होते हैं । वहां लिङ्ग के सामर्थ्य से पौर्णमासी के प्रयोग से इन्द्राग्नी शब्द का उत्कर्ष करना चाहिये और अमावास्या में प्रयुक्त करना चाहिये । अब इसमें सन्देह होता है—जो इस दर्शपूर्णमास में इष्ट देवता का शेष अवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम् है । उसे क्या जितनी बार सूक्तवाक में पढ़ा है, उतनी बार दोनों पौर्णमासी और अमावास्या में प्रयोग करना चाहिये, यदि प्रकरण बलवान् होवे अथवा जहां इन्द्राग्नी शब्द का उत्कर्ष करके ले जाया गया है, वहां ही प्रयोग करना चाहिये, यदि वाक्य बलवान् होवे । इसी प्रकार [सूक्तवाक के] सभी वचनों में संशय होता है । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—**कर्तव्यस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनम्**—जैसे दर्शपूर्णमासाभ्यां **स्वर्गकामो यजेत** (मी० शा० भा० २।३।४; ४।४।३ में उद्धृत) यह इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले दर्शपूर्णमास कर्म का विधायक वचन है । **सूक्तवाकनिगदः**—सूक्तवाक निगद का पूरा पाठ पूर्व मी० ३।२।११ के भाष्य की टिप्पणी (पृष्ठ ७२८ टि० १) में उद्धृत किया है । उस पाठ में प्रकृत विचार्यमाण वाक्यों को देखें । इस सूक्तवाक में पूर्णमासी में इष्ट (=यजन किये गये) अग्नि अग्नीषोम प्रजापति देवता और अमावस्या में इष्ट इन्द्राग्नी इन्द्र (पक्षान्तर में–महेन्द्र) देवता स्मृत हैं ।

---

२. कृत्स्नोऽपि सूक्तवाकनिगदः पूर्वत्र टिप्पण्यामुद्धृतः (पृष्ठ ७२८ टि० १) । तत्रैवाऽत्र उद्ध्रियमाणानि वचनानि यथायथं द्रष्टव्यानि ।

तुल्यबले एते कारणे इति। कुतः ? इतरत्रापि आकाङ्क्षा, इतरत्रापि। तुल्यायामाकाङ्क्षायां नास्ति विनिगमनायां हेतुः,तस्मात् तुल्यबले इति। अथ वा वाक्यं दुर्बलम्। बाधितं हि तल्लिङ्गेन। इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रकरणाद् वाक्यं बलीयः। कथम् ? अर्थविप्रकर्षात्। कोऽत्रार्थविप्रकर्षः ? वाक्ये एकैकं पदं विभज्यमानं साकाङ्क्षं भवति, कृत्स्नं परिपूर्णं भवति। तत्र प्रत्यक्ष एकवाक्यभावः। प्रकरणे त्वप्रत्यक्षः। कथम् ? इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य समीपे उपनिपतितं पूर्णमिति तस्य प्रकृतस्य साकाङ्क्षत्वमगम्यते। नैकवाक्यभूतमित्यनुमीयते। एकवाक्यतया चाभिधानसामर्थ्यमवकल्प्य अभिहितोऽयमेवं भवतीति परिकल्पना। एषोऽत्रार्थविप्रकर्षः—यद् वाक्यस्य समासन्ना श्रुतिः,प्रकरणस्य विप्रकृष्टा। **तस्मात् सूक्तवाकेन प्रहरति**[1] इति पौर्णमासीदेवतावाचिनाम् अमावास्यादेवतावाचिनां च निष्कृष्य प्रयोगे तच्छेषाणामपि निष्कृष्य प्रयोगः। तेन यद्यपि प्रकरणसामर्थ्यात् पौर्णमासीदेवतापदशेषाणाम् अमावा-

---

निगदः—निगद मन्त्र यजुःसंज्ञक गद्य मन्त्रों के अन्तर्गत आते हैं (द्र०—मी० २।१। अधि० १३, सूत्र ३८–४५)।

व्याख्या—ये [वाक्य और प्रकरण] तुल्य बलवाले कारण हैं। किस हेतु से ? इतरत्र (=वाक्य में) भी आकाङ्क्षा है, और इतरत्र (=प्रकरण में) भी। [दोनों में] समान रूप से आकाङ्क्षा होने पर निश्चय में कोई हेतु नहीं है। इस कारण ये दोनों तुल्य बलवाले अथवा वाक्य दुर्बल है, क्योंकि वह लिङ्ग से बाधित है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रकरण से वाक्य बलवान् है। किस हेतु से ? अर्थ की दूरी से। यहां अर्थ की दूरी क्या है ? वाक्य में एक-एक पद विभक्त किये हुए साकाङ्क्ष (=अन्य की आकाङ्क्षा रखनेवाले) होते हैं, और पूरा वाक्य परिपूर्ण (=आकाङ्क्षा से रहित) होता है। अतः वहां (=वाक्य में) एकवाक्यता प्रत्यक्ष है। प्रकरण में एकवाक्यता अप्रत्यक्ष है। किस हेतु से ? इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले [याग] की समीपता में निगद पूर्ण पठित है। इस कारण उस प्रकृत [सूक्तवाक] का साकाङ्क्षत्व जाना जाता है। एकवाक्य रूप नहीं है,ऐसा अनुमान होता है। एकवाक्यता से अभिधान-सामर्थ्य की कल्पना करके यह इस प्रकार कथित होता है, इस प्रकार कल्पना की जाती है। यहां अर्थ की दूरता यह है—वाक्य की [प्रकरण की अपेक्षा] श्रुति निकट है, और प्रकरण की [वाक्य की अपेक्षा] दूर है। इसलिये सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति **(=सूक्तवाक से प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है) में पौणमासी देवतावाची और अमावास्या देवतावाची पदों का पृथक् करके प्रयोग होने पर उन देवताओं के शेषभूत पदों का भी पृथक् करके प्रयोग होगा। इस कारण यद्यपि प्रकरण-सामर्थ्य से पौर्णमासी के देवता पदों के शेषभूत वचनों का**

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

स्यादेवतावाचिभिः सहैकवाक्यताऽनुमीयते, प्रत्यक्षा त्वमावास्यादेवतापदैः[1] सह। न च प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानं सम्भवति। अर्थवति च प्रकरणे सञ्जाते न निराकाङ्क्षाणामाकाङ्क्षा शक्योपपादयितुम्॥

अथ यदुक्तं, लिङ्गेनापि हि तद् बाध्यते। अतः प्रकरणेनापि बाधितव्यमिति। न यदन्येनापि बाध्यते, तद् भङ्गुरमन्यत्रापीत्यवगन्तव्यम्। अथ भङ्गुरम्, प्रमाणमेव नाभविष्यत्। किञ्चित् तु प्रति कस्यचित् प्रभावः। वाक्यस्य प्रकरणं प्रति बाधकशक्तिः, न तु लिङ्गं प्रति। लिङ्गं प्रति विप्रकृष्टार्थमेतत्, प्रकरणं प्रति सन्निकृष्टार्थम्। तेन वाक्येन प्रकरणं बाध्यते इति॥

अमावास्या के देवतावाची पदों के साथ एकवाक्यता का अनुमान होता है, तथापि अमावास्या देवतावाची पदों के साथ प्रत्यक्ष है। और प्रत्यक्ष विरोध होने पर अनुमान उपपन्न नहीं होता है। प्रकरण के अर्थवान् हो जाने पर निराकाङ्क्ष पदों की परस्पर आकाङ्क्षा उत्पन्न नहीं की जा सकती है॥

विवरण—वाक्यस्य समासन्ना श्रुतिः—इसका तात्पर्य यह है कि एकवाक्यता से अभिधान सामर्थ्य—'यह वचन इस अर्थ को कहने में समर्थ है' इस लिङ्ग की कल्पना की जाती हैं, तत्पश्चात् अर्थाभिधान सामर्थ्य से श्रुति='इस से यह कर्म करे' की कल्पना होती है। इस प्रकार वाक्य से श्रुति एकलिङ्ग से व्यवहित होती है। **प्रकरणस्य विप्रकृष्टा**—इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा रखनेवाले याग के समीप में पठित वचन आकाङ्क्षा के बल से एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर एकवाक्यता से अभिधान-सामर्थ्य (=लिङ्ग) की कल्पना होती है और फिर लिङ्ग से श्रुति की। यथा दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित हविर्निर्वाप आदि से दर्शपूर्णमास को करे। **प्रत्यक्षा त्वमावास्यादेवतापदैः सह**—यहां पूर्व वाक्य के अनुसार अमावास्या पद के स्थान में पौर्णमासी पद युक्त प्रतीत होता है। इससे वाक्य इस प्रकार स्पष्टार्थ हो जाता है—'यद्यपि प्रकरण सामर्थ्य से पौर्णमासी के देवतावाची पदों के शेष वचनों की अमावास्या के देवतावाची पदों के साथ एकवाक्यता का अनुमान होता है,परन्तु उनकी पौर्णमासी के देवतावाची पदों के साथ एकवाक्यता प्रत्यक्ष है।'

व्याख्या—और जो यह कहा है कि लिङ्ग से भी वाक्य बाधा जाता है, इसलिये प्रकरण से भी बाधित होना चाहिये। अन्य से जो बाधित होता है, वह अन्यत्र भी भङ्गुर (=बाधावाला) होवे, यह नहीं जाना जाता हैं। यदि वह [वाक्य] भङ्गुर (=बाधित=कार्य करने में असमर्थ होता, तो प्रमाण ही नहीं होता। किसी के प्रति तो किसी का प्रभाव होता है। वाक्य की प्रकरण के प्रति बाधक शक्ति है, लिङ्ग के प्रति नहीं है। लिङ्ग के प्रति यह (=वाक्य) विप्रकृष्ट अर्थवाला है। प्रकरण के प्रति सन्निकृष्ट अर्थवाला है। इसलिये वाक्य से प्रकरण बाधा जाता है।

---

१. इह पूर्वत्र पौर्णमासीदेवतापदशेषाणाम् अमावास्यादेवतापदैः सहानुमानिक्येकवाक्यता उक्ता। अतः इह 'प्रत्यक्षा पौर्णमासीदेवतापदैः सह' इत्येवं पाठेन भाव्यम्। नहि पौर्णमासीदेवतापदशेषाणाम् अमावास्यादेवतापदैः सहैकवाक्यता संभवति, तत्कुतः 'प्रत्यक्षा' इत्युक्ता स्यात्।

अथ प्रकरणस्य क्रमस्य च विरोधे किमुदाहरणम् ? राजसूयप्रकरणेऽभिषेचनीय-क्रमे शौनःशेपाख्यानादि आम्नातम्[1]। यदि प्रकरणं बलवत्, सर्वेषां तदङ्गम्। यदि क्रमः, अभिषेचनीयस्यैव। किं तावत् प्राप्तम् ? तुल्यबले एते कारणे इति। कुतः ? न तावद् विशेषमुपलभामहे, येनावगच्छाम इदं बलीय इति। तस्मात् तुल्यबले एते कारणे इति। अपि च, प्रकरणं वाक्येन बाधितम्, तस्माद् बाध्येत क्रमेणापीति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

[अथ क्रमात्=स्थानात् प्रकरणस्य प्राबल्याधिकरणम्]

व्याख्या—**प्रकरण के और क्रम के विरोध में क्या उदाहरण है ? राजसूय के प्रकरण में अभिषेचनीय के क्रम में शौनःशेप आख्यान आदि पढ़े हैं। यदि प्रकरण बलवान् होवे, तो [शौनःशेप आख्यान आदि] सब [राजसूय प्रकरणस्थ कर्मों] के अङ्ग होवें, और यदि क्रम बलवान् होवे, तो अभिषेचनीय कर्म का ही अङ्ग होवें। क्या प्राप्त होता है ? ये प्रकरण और क्रम समान बल-वाले कारण हैं। किस हेतु से ? ऐसा कुछ विशेष हम उपलब्ध नहीं करते हैं, जिससे जानें कि यह बलवान् है। इसलिये ये समान बलवाले कारण हैं। और भी, प्रकरण वाक्य से बाधा गया, इसलिये वह क्रम से भी बाधा जावे। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

विवरण—प्रकरणस्य क्रमस्य च विरोधे—यहां क्रम शब्द से सूत्रोक्त स्थान का ग्रहण जानना चाहिये। **राजसूय प्रकरणे—राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत** (द्र०—मी० भाष्य २।३।३ अधि० २ के आरम्भ में उद्धृत) वचन से राजसूय का विधान है। इस कर्म में इष्टि पशु सोमयाग आदि का विधान है। **अभिषेचनीय क्रमे**—राजसूय में अभिषेचनीय-संज्ञक सोमयाग विहित है। **शौनःशेपाख्यानादि आम्नातम्**—अभिषेचनीय याग के क्रम में शौनःशेप आख्यान का निर्देश है—**शौनःशेपमाख्यायते** (तै० ब्रा० १।७।१०।६)। तथा आदि शब्द से **पञ्चाक्षान् प्रयच्छति** (तै० ब्रा० १।७।१०।६) वचन विहित द्यूत आदि का निर्देश जानना चाहिये।

विशेष—शुनःशेप आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण अ० ३३ (पञ्चिका ७, अ० ३) में विस्तार से वर्णित है। उसको देखकर पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन काल में यज्ञ में नर-बलि दी जाती थी। परन्तु यह उनका भ्रममात्र है तथा भारतीय विचार पद्धति के यथावत् न जानने का फल है। यह आख्यान राजसूय में अभिषेचनीय सोमयाग के दिन पठित है। भारतीय चिन्तकों का मत है—**आख्यानानां स्वार्थे प्रामाण्यं नास्ति** (द्र० मीमांसा १।२।अ०१)। यह अर्थवादरूप है। इस आख्यान का तात्पर्य राजसूय के प्रसंग में राजकर्म में होनेवाली अवश्यंभावी हिंसा आदि से होनेवाले पाप की निवृत्ति में है—**पापादेनसः प्रमुञ्चति। न हास्मिन्नल्पं चनैनः परिशिष्यते**(ऐ० ब्रा० अ०३३, खं० ६)। वहीं पर आख्यान के

---

1. द्र०—शौनःशेपमाख्यायते। तै० ब्रा० १।७।१०।६।। आदिपदाद् देवनादि। यथा—पञ्चाक्षान प्रयच्छति। तै० ब्रा० १।७।१०।६।।

प्रकरणं क्रमाद् बलीयः। कुतः? अर्थविप्रकर्षात्। कोऽत्रार्थविप्रकर्षः? प्रकरणवतः साकाङ्क्षत्वात् तत्सन्निधानाम्नातेन परिपूर्णेनाप्यवकल्पेतैकवाक्यत्वम् न तु क्रमवतः क्रमे आम्नातेन। अनेकस्याम्नायमानस्य सन्निधिविशेषाम्नानमात्रं हि क्रमः। तत्र सन्निधि-विशेषाम्नानसामर्थ्यात् क्रमवतः सन्निधावाम्नातस्यानुपलभ्यमानमेव आकाङ्क्षावत्त्वम्

अन्त में आख्यान द्वारा पुत्र प्राप्ति फल भी दर्शाया है। इसीलिये आख्यान के अन्त में कहा है— **पुत्रकामा ह्याप्याख्यायेरन् लभन्ते पुत्रान्** (ऐ० ब्रा० अ० ३३, खं० ६)। इसके साथ यह भी जानना चाहिये कि शौनःशेप आख्यान में राजा हरिश्चन्द्र के द्वारा पुत्रेष्ट का विधान है। विश्वा-मित्र इस कर्म में होता था। इस से स्पष्ट है कि हरिश्चन्द्र से पूर्व जिन राजाओं ने राजसूय किया था, उसमें यह शौनःशेप आख्यान प्रयुक्त नहीं हुआ होगा। शुनःशेप ऋषि द्वारा दृष्ट ऋग्वेद में ९७ ऋचाएं हैं। उनमें जो उत्तम मध्यम अधम विविध पाप कर्म होते हैं जिनसे प्रताड़ित मानव संसार में दुःख भोगता है। मानव जीवन में जो भवबन्धन के कारण रूप हैं, उनसे निवृत्ति का उपाय मुख्य-रूप से दर्शाया है। शुनःशेप दृष्ट मन्त्रों में (ऋ० १।२४।१२-१३) में शुनःशेप शब्द भी पठित है। शुनःशेप का शब्दार्थ है— कुत्ते की जननेन्द्रिय। भला सोचने का स्थान है कि ऐसा कुत्सित नाम भला कौन अपने पुत्र का रखेगा। शुनःशेप के दो भाईयों के नाम भी शुनःपुच्छ शुनोलाङ्गूल कहे गये हैं। इनके पिता को ऋषि भी कहा है। (ऐ० ब्रा० अ० ३३ खं० ३)। वस्तुतः शुनःशेप किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। इस का अर्थ है—**शुनःशेप इव प्रतिबद्धः कामेषु** अर्थात् जैसे मैथुन के समय कुत्ते की इन्द्रिय योनि में प्रतिबद्ध हो जाती है, इसी प्रकार जो मनुष्य कामोपभोग में ही प्रतिबद्ध रहता है, उसे यहां शुनःशेप कहा है। इसे ही ऋग्वेद ७।२१।५ में **शिश्नदेव**= शिश्न से रति क्रीडा में आसक्त अर्थात् अब्रह्मचारी=असंयमी कहा है। पापों में प्रेरक काम क्रोध लोभ (द्र० गीता ३।३६) में भी काम सब से मुख्य है। शुनःशेप शब्द के इस तात्पर्य को जान लेने पर इससे दृष्ट=देखे गये मन्त्रों का अर्थ ज्ञान सुगम हो जाता है। ऋग्भाष्यकार वेङ्कट माधव ने कहा है—**अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्** (ऋग्भाष्य के आरम्भ में)। शुनःपुच्छ शुनोलाङ्गूल दोनों समानार्थक शब्द हैं। ये भी औपमिक नाम है। इनका तात्पर्य है कुत्ते की दुम के समान हठी दुराग्रही पुरुष। लोक में उक्ति है—कुत्ते की दुम को सीधा करने के लिये बांस की नली में कितने ही समय रखो, जब नली हटाई जायेगी तो वह टेढी ही हो जायेगी। अतः शुन पुच्छ शुनोलाङ्गूल नाम हठ दुराग्रह की चरम सीमा वाले व्यक्तियों के बोधक हैं।

व्याख्या—**प्रकरण क्रम से बलवान् है। किस हेतु से? अर्थ की दूरी से। यहां अर्थ की दूरी क्या है? प्रकरणवान् [राजसूय] के साकाङ्क्ष होने से उसकी समीपता में पठित परिपूर्ण वाक्यार्थवाले के साथ भी एकवाक्यता समर्थ होवे; क्रमवान् से क्रम में पठित [अभिषेचनीय] के साथ एक-वाक्यता कल्पित नहीं होगी। अनेक पठ्यमान कर्मों का सामीप्य विशेष में पाठ होना मात्र ही क्रम है। ऐसी अवस्था में सामीप्य विशेष में पाठ के सामर्थ्य से क्रमवान् (=कर्म से प्राप्त) की समीपता में पाठ का आकाङ्क्षा युक्त होना अनुपलभ्यमान (= उपलब्ध न होनेवाला) ही है।**

अस्तीत्यवगन्तव्यम् । प्रकरणे तु प्रकरणवतः प्रत्यक्षम् । न च प्रकरणवता क्रमवता च यौगपद्येन एकवाक्यता सम्भवत्याम्नातस्येति विरोधः । तत्र प्रकरणे प्रत्यक्षं साकाङ्क्षत्वम् । क्रम आनुमानिकं बाधितुमर्हति । साकाङ्क्षत्वादेकवाक्यत्वम्, एकवाक्यत्वादभिधानसामर्थ्यम्, सामर्थ्याच्छ्रुत्यर्थ इति सन्निकृष्टः प्रकरणस्य श्रुत्यर्थः, विप्रकृष्टः क्रमस्य । तस्मात् क्रमप्रकरणयोः प्रकरणं बलवत्तरमिति ॥

अथ यदुक्तम्, वाक्येनाऽपि हि तद् बाधितम्, अतोऽन्येनापि तद् बाधितव्यमिति । नैतत्, बाधितस्यानुग्रहो न्याय्यः न बाधितं बाधितव्यमिति ॥

अथ क्रमसमाख्ययोर्विरोधे किमुदाहरणम् ? किं बलवत्तरमिति ? पौरोडाशिकमिति-

---

प्रकरण में तो प्रकरणवान् (=मुख्य कर्मवचन) के साथ आकाङ्क्षावान् होना प्रत्यक्ष है । पठित वचन (=शौनःशेप आख्यानादि) की प्रकरणवान् (=राजसूय) और क्रमवान् (=अभिषेचनीय) के साथ यौगपद्य (=एक काल में) एकवाक्यता सम्भव नहीं है, यह विरोध है । इस अवस्था में प्रकरण में प्रत्यक्ष साकाङ्क्षता क्रम में आनुमानिक साकाङ्क्षता को बाधने में समर्थ है । आकाङ्क्षा युक्त होने से एकवाक्यता होती है । एकवाक्यता से अभिधानः सामर्थ्य (=लिङ्ग) जाना जाता है । सामर्थ्य (=लिङ्ग) से श्रुति रूप अर्थ (=इससे यह करे, अभिप्राय) जाना जाता है । इस प्रकार श्रुत्यर्थ प्रकरण के निकट है और क्रम से दूर है [अर्थात् क्रम से पहिले समीपस्थ कर्म के साथ अप्रत्यक्ष आकाङ्क्षा को उत्पन्न किया जायेगा । उस आकाङ्क्षा से एकवाक्यता, एकवक्यता से अभिधान-सामर्थ्य और उससे श्रुत्यर्थ जाना जायेगा] । इस कारण क्रम और प्रकरण में प्रकरण बलवान् है ॥

विवरण—प्रकरणवतः साकाङ्क्षत्वात्—जिसका प्रकरण होवे ऐसा प्रधान कर्म दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि क्रतु प्रकरणवान् कहाते हैं । इन कर्मों को आकाङ्क्षा होती है कि किस प्रकार कर्म की पूर्ति होवे । अतः उन कर्मों के समीप जो कर्मान्तर पठित होते हैं, उनसे आकाङ्क्षा की पूर्ति होती है । उनसे कर्म परिपूर्ण होता है । **अनेकस्याम्नायमानस्य··· हि क्रमः**—इसका भाव यह है कि प्रधान कर्म के अनेक अङ्गकर्मों के पाठ में कोई क्रम तो अवश्यंभावी है, अतः किसी का किसी की सन्निधिविशेष में पाठ होना मात्र क्रम कहाता है ।

व्याख्या—और जो यह कहा था कि वाक्य से वह (=प्रकरण) बाधित है इसलिये अन्य (=क्रम) से भी बाधित होना चाहिये । ऐसा नहीं है । बाधित का तो अनुग्रह युक्त है, न कि बाधित को बाधना ।

[अथ समाख्यायाः क्रमस्य प्राबल्याधिकरणम्]

व्याख्या—क्रम और समाख्या के विरोध में क्या उदाहरण है ? कौन अधिक बलवान् है ? पौरोडाशिक इस नाम से प्रसिद्ध काण्ड में सान्नाय्य हवि के क्रम में शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे

समाख्याते काण्डे सान्नायक्रमे शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे[1] इति शुन्धनार्थो मन्त्रः समाम्नातः। तत्र सन्दिह्यते—किं समाख्यानस्य बलीयस्त्वात् पुरोडाशपात्राणां शुन्धने विनियोक्तव्यः, उत क्रमस्य बलीयस्त्वात् सान्नाय्यपात्राणामिति ? किं तावत् प्राप्तम् ? तुल्यबले एते कारणे स्याताम्। कुतः ? अविशेषात्। यदि वा समाख्यैव बलीयसी। बाधितो हि क्रमः प्रकरणेनापीति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

क्रमो बलीयान्। कुतः ? अर्थविप्रकर्षात्। कः पुनरत्रार्थविप्रकर्षः ? निर्ज्ञाते प्रकरणेन केनापि सहैकवाक्यत्वे यत्सन्निधावाम्नायते, तत्राकाङ्क्षां परिकल्प्य तेनैकवाक्यतेत्यवगम्यते। लौकिकश्च शब्दः समाख्या। न च लोक एवंविधेऽर्थेषु प्रमाणम्। तस्मात् क्रमो बलीयानिति ॥

(=हे आपः ! दैव्य कर्म के लिये पात्रों का शोधन करो) यह शोधन प्रयोजनवाला मन्त्र पठित है। इसमें सन्देह होता है—क्या समाख्या (=नाम) के बलवान् होने से पुरोडाश के पात्रों के शोधन में [इस मन्त्र का] विनियोग करना चाहिये अथवा क्रम के बलवान् होने से सान्नाय्य हवि के पात्रों का शोधन करना चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ? ये [समाख्या और क्रम] समान बलवाले कारण होवें। किस हेतु से? विशेष न होने से। अथवा समाख्या ही बलवान् है। क्रम तो प्रकरण से भी बाधित है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

[समाख्या से] क्रम बलवान् है। किस हेतु से ? अर्थ की दूरी होने से। यहां अर्थ की दूरी क्या है ? प्रकरण से [अङ्गभाव के] ज्ञात हो जाने पर किसी के साथ भी एकवाक्यता होने पर जिस की समीपता में पढ़ा गया है, उसमें आकाङ्क्षा की परिकल्पना करके उसके साथ एकवाक्यता हैं, ऐसा जाना जाता है। समाख्या (=संज्ञा) शब्द लौकिक है। इस प्रकार के (=शब्द मात्र से गम्यमान होनेवाले) अर्थों में लोक प्रमाण नहीं होता है। इसलिये क्रम बलवान् है ॥

विवरण—पौरोडाशिकमिति समाख्याते काण्डे—'पौरोडाशनां =पुरोडाशसंस्कारकाणां-मन्त्राणां व्याख्यानम्' (=पौरोडाश=पुरोडाश के संस्कारक मन्त्रों का व्याख्यान=व्याख्याग्रन्थ) इस अर्थ में **पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन्** (अष्टा० ४।३।७०) से व्याख्यातव्य (=व्याख्यानयेण्य) नाम पौरोडाश से ष्ठन् (=इक्) प्रत्यय होता है—पौरोडाशिकम्। तैत्तिरीय मैत्रायणीय आदि संहिताओं का दर्शपूर्णमास का प्रकरण पौरोडाशिक नाम से याज्ञिकों में प्रसिद्ध है। यद्यपि इस प्रकरण में दर्शस्थ सान्नाय्य हवि और पौर्णमासी के पुरोडाश हवि दोनों के मन्त्र पठित है। तथापि पुरोडाश सम्बन्धी मन्त्रों की अधिकता से यह पौरोडाशिक नाम से व्यवहृत होता है। **सान्नाय्य-क्रमे**—जिस यजमान ने सोमयाग किया है उसके लिये दर्श में इन्द्रदेवताक दधि और पयः हवि होती है। इन दोनों हवियों का एक देवता होने से दोनों को मिलाकर आहुति दी जाती है। यह सान्नाय्य

---

१. तै० सं० १।१।३॥ मै० सं० १।१।३॥ शुक्लयजुषि तु **'दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्'** इति पुरोडाशक्रमे समाम्नातः। अ० १, कं० १३॥

यद्येवं भवत्येवँल्लक्षणकेषु क्रमेण विनियोगः, न त्वर्थविप्रकर्षात् क्रमो बलीयान्। कथम् ?द्वयोर्हि प्रमाणयोर्बलीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणम्। न चैवं सति समाख्या प्रमाणम्। लौकिकत्वाच्छब्दस्य, न[1] पुरुषस्य प्रमाणता भवतीति। नैष दोषः। नात्राङ्गभावः पुरुषप्रामाण्याद् गम्यते। पौरोडाशिकशब्द एतस्य काण्डस्येत्येतदत्र पुरुषप्रमाणकम्। भवति चास्मिन् अर्थे पुरुषः प्रमाणम्। यथा सान्नाय्यक्रमे आम्नानं पुरुषप्रमाणकम्। यथा प्रकरणम्, एकवाक्यत्वम्, वेदशब्दश्चायमिति। न हि एतेऽनिन्द्रियविषया अर्थाः। उपपद्यते एष्वभियुक्तानां प्रामाण्यम्। ये त्वनिन्द्रियविषयास्तेष्वभियुक्ता न प्रमाणम्। तस्मात् समाख्या कारणम्। कारणत्वे च सति बलीयस्त्वं परीक्ष्यमिति॥

उच्यते। अर्थविप्रकर्षस्तर्हि वक्तव्यः समाख्यायाः ? अयमर्थविप्रकर्षः उपदिश्यते हि क्रमे समाम्नानात् सान्नाय्यसम्बन्धः, नोपदिश्यते समाख्यायाम्। शब्दमुच्चार्यमाण-

---

हवि कहाती है। सान्नाय्य शब्द का अर्थ है—**सन्नीयेते दधिपयसी एकीक्रियेते इति सान्नाय्यं हविः**=दधि और पयः का एकीकरण सान्नाय्य पदवाच्य है। पाणिनि का सूत्र है—**पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु**(अष्टा० ३।१।१२९)। इस में सम्पूर्वक नी धातु से ण्यत् प्रत्यय,वृद्धि,आय् आदेश और उपसर्गदीर्घत्व होता है। **सान्नाय्यक्रमे शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे·· समाम्नातः**—तै० सं० १।१।३ तथा मैत्रायणी सं० १।१।३ में सान्नाय्य के क्रम में 'शुधध्वं दैव्याय कर्मणे' मन्त्र पठित है। शुक्ल यजुः १।१३ में **दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वम्** मन्त्र पुरोडाश के क्रम में पठित है। भाष्यकार ने कृष्णयजुः के मन्त्र के सम्बन्ध में विचार किया है।

व्याख्या—(आक्षेप) **यदि ऐसा है, तो इस प्रकार के मन्त्रों में क्रम से विनियोग होता है, परन्तु अर्थ की दूरी से क्रम बलवान् है, यह नहीं है। कैसे ? दो प्रमाणों में बलवत्ता के प्रति विचार होता है। और इस प्रकार समाख्या प्रमाण नहीं है। लौकिक शब्द होने से पुरुष की प्रमाणता नहीं होती है।**(समाधान)**यह दोष नहीं है। यहां**[याग के प्रति]**अङ्गभाव पुरुष के प्रामाण्य से नहीं जाना जाता है। पौरोडाशिक शब्द इस काण्ड की समाख्या है, इसमें पुरुष प्रमाणक** (=**पुरुष की प्रमाणता से जाना जाता**) **है। इस अर्थ में पुरुष प्रमाण होता है। जैसे सान्नाय के क्रम में पाठ पुरुष की प्रमाणतावाला है। जैसे** [**दर्श पूर्णमास का**] **प्रकरण,** [शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे इत्यादि पदों का] **एकवाक्यत्व और यह** [**काठकादि प्रोक्त-वाक्य समूह**] **वेद शब्द वाच्य है** [**इत्यादि विषयों में**] **पुरुष प्रमाण हो सकता है। क्योंकि ये विषय अतीन्द्रिय नहीं हैं, और इन विषयों में प्रामाणिक पुरुषों का प्रामाण्य हो सकता है। जो अतीन्द्रिय विषय हैं, उन में प्रामाणिक पुरुष भी प्रमाण नहीं हैं। इस कारण समाख्या** [**विनियोग में**] **कारण है। इसके कारण होने पर बलवत्ता परीक्षण योग्य है।**

(आक्षेप) **अच्छा तो समाख्या का अर्थ विप्रकर्ष कहना चाहिये**(=**कहिये**)।(समाधान) [**समाख्या की**]**यह अर्थ की दूरता है**—[**'शुन्धध्वं दैव्याय'मन्त्र का सान्नाय्य के**] **क्रम में पाठ होने से** [**उसका**] **सान्नाय्य के साथ सम्बन्ध कहा जाता है, समाख्या में पुरोडाश के साथ शुन्धध्वं दैव्याय' मन्त्र का**] **सम्बन्ध नहीं कहा जाता है।** [**पौरोडाशिक इस समाख्या**] **शब्द को उच्चा-**

---

१. 'न' पदं काशीमुद्रिते प्रमादान्नष्टमिति प्रतीयते।

मुपलभ्यार्थापत्त्या नूनमस्तीति कल्प्यते । तस्मात् पूर्ववदेवार्थविप्रकर्षात् क्रमेण समाख्या बाध्यते इति ॥

अथ यत्तत्र तत्रोच्यते—इदमनेन बाध्यते, इदमनेन इति । तत्र यद् बाध्यते, तत् किं बाधकविषयं प्राप्तम्, उत अप्राप्तमिति ? किं चातः ? यद्यप्राप्तम्, किं बाध्यते? अथ प्राप्तम्, कथं शक्येत बाधितुम् । प्राप्तं बाधकविषयं पूर्वविज्ञानमिति ब्रूमः । कथम् ? सामान्यस्य कारणस्य विद्यमानत्वात् । अथ कथं निवर्त्तते?' नैव हि तेन तन्निवर्तते । कथं तर्हि निवर्तते? मिथ्याज्ञानमिति प्रत्ययान्तरं भवति । किं नु खल्वमिथ्याज्ञानस्य स्वरूपम्? यस्य बाधकः प्रत्ययो विमृष्यमाणस्यापि नोपपद्यते, न तन्मिथ्या । तदेतेषां श्रुतिलिङ्ग-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वं पूर्वं यत् कारणं तत् परं परं प्रति बलीयो भवति । नैतस्योत्पन्नस्य विमृष्यमाणस्य बाधकं विज्ञानान्तरमस्ति । तस्मात् तेषां समवाये विरोधे परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति ॥१४॥ **श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम्** ॥७॥

—:०:—

रित करते, देख कर अर्थापत्ति से निश्चय ही [‘शुन्धध्वम् दैव्याय’ मन्त्र का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध] है, ऐसी कल्पना की जाती है। इसलिये पूर्व के समान अर्थ की दूरता होने से क्रम से समाख्या बाधित होती है।

(आक्षेप) और जो जहां-तहां [दो-दो के विरोध में] कहते हो—यह इससे बाधित होता है, यह इससे। वहां जो बाधित होता है, वह बाधक के विषय (=विनियोजकत्व) को प्राप्त होता है, अथवा अप्राप्त होता है। इससे क्या ? यदि [बाध्य बाधक के विषय को] प्राप्त ही नहीं है, [अर्थात् विनियोग कारणत्व के रूप में उसकी उपस्थिति ही नहीं है, तो दो-दो का समवाय=एकत्र विद्यमानता के न होने से] किस को बाधता है ? और यदि कहो कि [बाध्य बाधक के विषय को] प्राप्त है, अर्थात् विनियोग का कारण होता है, तो वह कैसे बाधा जा सकता है ? (समाधान) बाधक विषय पूर्व ज्ञान [अर्थात् ‘जो ज्ञान उत्तरकाल में नष्ट हो जावे’ ऐसे बाधक विषयक पूर्व ज्ञान] को प्राप्त है, ऐसा हम कहते हैं। किस हेतु से ? [विनियोग के] सामान्य कारण के विद्यमान होने से। तो वह [बाध्य विषयक पूर्वज्ञान] किस प्रकार निवृत्त होता है ? उस से वह पूर्वज्ञान निवर्तित नहीं होता है। तो कैसे निवृत्त होता है ? [वह पूर्व ज्ञान] मिथ्या ज्ञान है, ऐसा ज्ञानान्तर होता है। अमिथ्याज्ञान (=वास्तविक ज्ञान) का क्या स्वरूप है ? जिस का बाधक ज्ञान ढूंढते हुए भी प्राप्त नहीं होता है, वह ज्ञान मिथ्या नहीं होता हैं। इसलिये इन श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या में जो पूर्व-पूर्व कारण होता है, वह उत्तर-उत्तर के प्रति बलवान् होता है। इस [उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के] उत्पन्न हुए ज्ञान का विचार करने पर भी बाधक अन्य ज्ञान नहीं मिलता है। इसलिये इनके समवाय (=इकट्ठी प्राप्ति) में विरोध होने पर अर्थ की दूरी से पर का दुर्बलत्व जानना चाहिये।

—:०:—

[द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम् ॥८॥]

ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य समामनन्ति—तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य[1] इति। तत्र सन्देहः—किं द्वादशोपसत्ता ज्योतिष्टोमे, उत अहीने इति? किं तावत् प्राप्तम्?

अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥१५॥ (पू०)

व्याख्या—ज्योतिष्टोम को आरम्भ करके पढ़ते हैं—तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य (=साह्न=एक दिन साध्य सुत्या=सोमाभिषववाले के तीन ही उपसद् होते हैं, अहीन के बारह उपसद् होते हैं)। इस में सन्देह होता है—क्या द्वादश उपसद् ज्योतिष्टोम में विहित हैं, अथवा अहीन में। क्या प्राप्त होता है—

विवरण—अध्याय के आरम्भ में प्रतिज्ञात शेष भाव पूर्व अधिकरण तक विचारा गया अर्थात् तृतीयाध्याय का विचारार्ह विषय पूर्ण हो गया। अब क्या शेष रहता है जिससे चौथे अध्याय का आरम्भ सूत्रकार नहीं करते हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रुति आदि में कौन प्रमाण बलवान् है कौन निर्बल, इस विचार का कहां विरोध है कहां नहीं है, यह विषय शेष रहता है (तन्त्रवार्तिक)।

तिस्र एव साह्नस्योपसदः—यहां साह्न शब्द से ज्योतिष्टोम कहा गया है, **समानेऽहनि भवः**=समान=एक दिन में होने वाला सोमयाग। यहां तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास, 'तत्र भवः' अर्थ में अण् प्रत्यय तथा समान को स आदेश होता है। ज्योतिष्टोम यद्यपि पांच दिन साध्य कर्म है तथापि सोमयाग के एक ही दिन में होने से इसे साह्न कहा जाता है। उपसद् नाम की विशिष्ट इष्टियों का सोमयागों में विधान है। उनकी संख्या यहां कही है। यद्यपि ज्योतिष्टोम में उपसद् संज्ञक इष्टियां प्रातः सायं तीन दिन तक होने से ६ होती हैं, तथापि प्रातः सायं के उपसद् को एक कर्म मानकर तीन उपसद् कहे हैं। यह उपसद् इष्टि ज्योतिष्टोम में द्वितीय तृतीय और चतुर्थ दिन में प्रातः सायं प्रवर्ग्य संज्ञक कर्म के पश्चात् होती हैं (द्र० यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ६५)। **सुत्यां प्रत्युपसीदन्ति इत्युपसदः**=सोमाभिषव के प्रति समीपस्थ होती हैं=उन से पूर्व होती हैं। इसलिये इन्हें उपसद् कहते हैं। **द्वादश अहीनस्य**—अहीन संज्ञक सोमयाग विशेष हैं। ये द्विरात्र से लेकर एकादशरात्र पर्यन्त होते हैं। द्वादशाह अहीन और सत्र दोनों धर्मवाला है (द्र० कात्या० श्रौत १२।१।४, और इसकी विद्याधर कृत टीका)। सत्र का लक्षण हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ६४, टि० २) में लिख चुके हैं।

अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द संशय की निवृत्ति के लिये है अर्थात् कोई संशय नहीं है।

---

१. तै० सं० ६।२।६॥ आप० श्रौत ११।४।७॥ तु०—तिस्र एवाग्निष्टोमस्योपसदः कार्याः, द्वादशाहिनस्य सर्वार्थत्वाय। मै० सं० ३।८।२॥ अत्र ह्रस्वेकारवान् 'अहिन' शब्दः समाम्नायते।

ज्योतिष्टोमे इति। कुतः ? प्रकरणात्। एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति। ननु वाक्येन बाध्यते ? न बाध्यते। अहीनशब्देन ज्योतिष्टोमं वक्ष्यामः। कुतः? न हीयते इति अहीनः। दक्षिणया क्रतुकरणैर्वा फलेन वा न हीयते। तेन ज्योतिष्टोमोऽहीनः। वाशब्देन संशयो निवर्त्यते॥१५॥

असंयोगात् तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते ॥१६॥ (उ०)

अपकृष्येत द्वादशोपसत्ता। कुतः ? असंयोगाज्ज्योतिष्टोमेन। कथमसंयोगः ? अहीनेनैकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वात्। ननु ज्योतिष्टोमे एव गौणोऽहीनः? नेत्युच्यते। न हि मुख्यसम्भवे गौणग्रहणमर्हति। ननु नञ्समासो भविष्यति ? नेति ब्रूमः। तथा सति आद्युदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यन्, मध्योदात्तस्त्वयम्। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य

(अहीनः) अहीन ज्योतिष्टोम है। (प्रकरणात्) ज्योतिष्टोम का प्रकरण होने से (गौणः) अहीन शब्द गौण है।

व्याख्या—[द्वादश उपसत्ता] ज्योतिष्टोम में विहित है। किस हेतु से ? प्रकरण से। इस प्रकार [ज्योतिष्टोम का] प्रकरण अनुगृहीत होता है। (आक्षेप) वाक्य से प्रकरण बाधा जाता है ? (समाधान) नहीं बाधा जाता है। अहीन शब्द से ज्योतिष्टोम को कहेंगे। किस हेतु से ? जो हीन नहीं होता है वह अहीन[इस व्युत्पत्ति से]। दक्षिणा क्रतु के अङ्गों वा फल से रहित नहीं होता है। इस से ज्योतिष्टोम अहीन है। वा शब्द से संशय की निवृत्ति होती है।

असंयोगात् तु मुख्यस्य तस्माद् अपकृष्यते॥१६॥

सूत्रार्थः— (तु) 'तु' शब्द पूर्व पक्ष की निवृति के लिये है अर्थात् अहीन शब्द से ज्योतिष्टोम का कथन नहीं है। [साह्न शब्द से कहे गये] (मुख्यस्य) मुख्य=ज्योतिष्टोम के साथ द्वादश उपसत्ता का (असंयोगात्) संयोग न होने से (तस्मात्) साह्न=ज्योतिष्टोम से द्वादश उपसत्ता (अपकृष्यते) खींची जाती है अर्थात् हटाई जाती है। अहीन के साथ ही द्वादश उपसत्ता का सम्बन्ध होता है।

व्याख्या—द्वादश उपसत्ता [ज्योतिष्टोम से] अपकृष्ट (=दूर) होवे। किस हेतु से ? ज्योतिष्टोम के साथ उसका सम्बन्ध न होने से।[ज्योतिष्टोम के साथ द्वादश उपसत्ता का]असंयोग कैसे है ? अहीन के साथ एकवाक्यत्व के प्रत्यक्ष होने से। (आक्षेप) ज्योतिष्टोम में ही अहीन शब्द गौण होवे ? (समाधान) नहीं है, ऐसा कहते हैं। मुख्य [अर्थ के वाचक अहीन शब्द] के सम्भव होने पर गौण ग्रहण(=गौण अर्थवाले का ग्रहण)युक्त नहीं है। (आक्षेप) नञ् समास हो जायेगा [न हीनोऽहीनः]। (समाधान) नहीं होगा। वैसा (=नञ् समास) होने पर अहीन शब्द आद्युदात्त होता। यह मध्योदात्त है। इसलिये प्रकरण को बाध कर [द्वादश उप-

धर्मः । अपि च व्यपदेशो भवति—**तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य** इति । यद्यन्यश्च साह्नोऽन्यश्चाहीनः तत एवं व्यपदेशोऽवकल्पते । विद्यते च व्यपदेशवचनम् । तस्माद् अहीनस्येति । १६॥ **द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम्** ॥८॥

—•—

सत्ता] अहीन का धर्म है । और भी, कथन भी होता है—तीन ही साह्न (=ज्योतिष्टोम) की उपसद् इष्टियां होती हैं, बारह अहीन की । यदि साह्न अन्य होवे, और अहीन अन्य होवे, तब ऐसा कथन संभव होता है । ऐसा कथन करनेवाला वचन है । इसलिए [द्वादश उपसद्] अहीन के हैं ।

विवरण—अद्युदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्—नञ् समास करने पर **तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया-सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः** (अष्टा० ६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर का विधान होने से नञ् के स्वर से आद्युदात्तत्व प्राप्त होता है[1] । परन्तु यह मध्योदात्त उपलब्ध होता है । **अहीन** शब्द में **अह्नः खः क्रतौ** (महाभाष्य ४।२।४३) वार्तिक से अहन् शब्द से समूह अर्थ में क्रतु अभिधेय होने पर ख (=ईन) प्रत्यय होता है । मैत्रा० सं० ३।८।२ में 'अहिन' ह्रस्व इकारवान् मिलता है । अतः अहन् शब्द से 'इन्' प्रत्यय का उपसंख्यान भी करना चाहिये । प्रत्यय स्वर से 'ईन' तथा 'इन' के आद्युदात्त होने से अहीन तथा अहिन शब्द मध्योदात्त होता है । भाष्यकार शबर स्वामी की इस विवेचना से स्पष्ट है कि स्वर ज्ञान वेदार्थ में महान् उपयोगी होता है । वेदार्थ में स्वर की अवहेलना करने से वेद का वास्तविक अर्थ जाना ही नहीं जा सकता है । शास्त्र की उपेक्षा करने पर वेदार्थ अशुद्ध हो जाता है । इस विषय में हमने 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' ग्रन्थ के 'वेदार्थ में स्वर की सहायता' अध्याय में विशेष प्रकाश डाला है (द्र० पृष्ठ १०८-११५ द्वि० सं०) । स्वर शास्त्र की सूक्ष्मता और उससे वेदार्थ के सूक्ष्म अर्थ को जानने के लिये ऋग्भाष्यकार वेङ्कट माधव की 'ऋगनुक्रमणी' के अन्तर्गत 'स्वरानुक्रमणी' का अध्ययन अत्यावश्यक है । इसे हमने श्री पं० विजयपाल जी विद्यावारिधि कृत हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित किया है । **तस्मादहीनस्य—मैत्रायणी सं०** ३।८।२ में अग्निष्टोम की द्वादश उपसत्ता और अहीन की तीन उपसत्ता में निन्दार्थवाद भी पढ़ा है—**यद् द्वादशाग्निष्टोमस्योपसदः स्युरशान्ता निर्दहेयुः, यत्तिस्र अहिनस्य यथा गरीयान् भार उष्णिहां निभिणात्येवं तत्** अर्थात् जो अग्निष्टोम की द्वादश उपसत्ता होवे तो वे अशान्त हुई जला देवें और जो अहीन की तीन उपसद होवें तो जैसे भारी भार पगड़ी पर रखा जाये वैसा होवे ।

—:o:—

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरिज में छपी 'जैमिनीय न्यायामाला' के पृष्ठ १६२ में टि० १ में **नञ्सुभ्याम्** (अष्टा० ६।२।१७२) सूत्र से आद्युदात्तत्व कहा है, वह अशुद्ध है । **नञ्सुभ्याम्** सूत्र बहुव्रीहिसमास' में उत्तरपद के अनुदात्तत्व का विधान करता है । प्रतीत होता है टिप्पणी लेखक सम्पादक को स्वरशास्त्र का साधारण ज्ञान भी नहीं है ।

[कुलायादौ प्रतिपदोत्कर्षाधिकरणम् ॥९॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते। युवं हि स्थः स्वःपती[1] इति द्वयोर्यजमानयोः 'प्रतिपदं कुर्यात्' एते असृग्रमिन्दव[2] इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः[3] इति। तत्र सन्देहः—ज्योतिष्टोमे एव निविशेते प्रतिपदौ, उत द्वियज्ञं कञ्चित् कुलायादिं बहुयज्ञञ्च द्विरात्रादिमुत्कृष्टव्ये इति। किं प्राप्तम्?

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में पढ़ा है—युवं हि स्थः स्वःपती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात् (=यूवं हि स्थः स्वःपती **इस ऋचा को दो यजमानों की प्रतिपद् करे**); एते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः (=एते असृग्रमिन्दवः **इस ऋचा को बहुत यजमानों की प्रतिपत् करे**)। **इसमें** सन्देह होता है—**ये दोनों प्रतिपत् ज्योतिष्टोम में ही निविष्ट होती हैं अथवा दो यजमानों द्वारा साध्य किसी 'कुलाय' आदि कर्म में और बहुत यजमानों से साध्य 'द्विरात्र' आदि कर्म में उत्कर्ष करने योग्य हैं। अर्थात् उन प्रकरणों में ले जाने योग्य हैं। क्या प्राप्त होता है—**

विवरण—ज्योतिष्टोम के प्रातःसवन में बहिष्पवमान स्तोत्र होता है। बहिष्पवमान स्तोत्र का गान सदोमण्डप से बाहर 'चात्वाल' संज्ञक स्थान में होता है। उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिहर्ता ये तीन बहिष्पवमान का गान करते हैं। बहिष्ट्व और पवमानत्व=पापशोधकत्व के कारण इसे बहिष्पवमान कहते हैं।[6] स्तोत्र=गान तीन ऋचाओं पर होता है—**तिसृषु गायति** (अनु०)। बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रथम स्तोत्रीया (=गेय) ऋक् प्रतिपद् कहाती है। ज्योतिष्टोम में सामान्य रूप से बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् **उपास्मै गायता नरः** ऋक् विहित है। **युवं हि स्थः स्वःपती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्**—दो यजमान मिलकर जिस ऋतु को करें उसमें बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् (प्रथम ऋचा) **युवं हि स्थः** को करे। **बहुभ्यो यजमानेभ्यः**—अहीन संज्ञक सोमयाग में एक दो वा बहुत यजमानों के साथ याग का विधान है—**एकौ द्वौ बहवो वाहीनैर्यजेरन्**[7] (कुतु० वृत्ति ३।३।१५ में उद्धृत वचन, तथा कात्या० श्रौत १२।१।४ की विद्याधर

---

१. साम उ० प्र० ३, अर्ध० २, तृच १३, मं० १।

२. बहिष्पवमानस्य प्रथमा स्तोत्रीया ऋक् प्रतिपद् इत्युच्यते।

३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—ताण्डच ब्रा० १६।१०।१४॥

४. साम उ०, प्र० २, अर्ध० २, तृच १, मं० १॥

५. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—ताण्डच ब्रा० १६।६।१३॥

६. ज्योतिष्टोमस्य प्रातःसवने उपास्मै गायता नरः, दविद्युतत्या गिरा, पवमानस्य ते कवे (साम उ०, प्र० १, अर्ध० १, तृच १, २, ३) एषु त्रिषु सूक्तेषु गायत्रं नाम यत्साम गीयते तद्बहिष्पवमानमित्युच्यते। तत्रावास्थितानामृचां पवमानार्थत्वाद् बहिः सम्बन्धाच्च (द्र०—सायणीय सामभाष्योपक्रमणिका, पृष्ठ ८२, वेदभाष्यभूमिकासंग्रह, काशी)।

७. तु०—एतेन द्वौ त्रीन् वा याजयेत्। आप० श्रौत २२।१३।५॥

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाऽचोदनात्तस्य ॥१७। (उ०)

द्वित्वबहुत्वयुक्ते ज्योतिष्टोमेनासंयोगादुत्कृष्येयातां प्रतिपदौ। न हि ज्योतिष्टोमस्य द्वौ यजमानौ श्रूयेते, यथा कुलायस्य[1]। एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्[2] इति ॥१७॥

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

टीका की टिप्पणी)। न्यायमालाविस्तर में सायण ने बहुयजमान विषय वचन को सत्र-सम्बन्धी कहा है। क्योंकि सत्र में **ये यजमानास्त एव ऋत्विजः** वचन के अनुसार १७ यजमान न्यूनतम होते हैं (द्र०मी० व्याख्या भाग १,पृष्ठ ८४,टि०२)॥

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाऽचोदनात् तस्य ॥१७॥

सूत्रार्थः—इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'असंयोगात्' 'तस्मात्' और 'अपकृष्यते' पदों की अनुवृत्ति है। 'वा' शब्द 'च'=समुच्चय अर्थ में है। (द्वित्वबहुत्वयुक्तम्) द्वित्व और बहुत्व से युक्त प्रतिपत् (वा) भी (असंयोगात्] ज्योतिष्टोम से असंयुक्त होने से [तस्मात् अपकृष्यते] ज्योतिष्टोम से अपकृष्ट होवें (तस्य अचोदनात्) दो वा बहुत यजमान सम्बन्धी ज्योतिष्टोम का विधान न करने से।

विशेष—कुतुहलवृत्ति तथा पूना संस्करण में 'वा' के स्थान पर 'च' पाठ मिलता है।

व्याख्या—**द्वित्व और बहुत्व से युक्त प्रतिपद् ज्योतिष्टोम से उत्कृष्ट होवें अन्यत्र लेजाई जावें। क्योंकि ज्योतिष्टोम के दो वा बहुत यजमान नहीं सुने जाते हैं। जैसे 'कुलाय' संज्ञक के।** एते राजपुरौहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम् —**इस इन्द्राग्नी के स्तोम से सायुज्य(=एकीभाव) की कामनावाले राजा और पुरोहित यजन करें।**

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

सूत्रार्थः—[नित्य ज्योतिष्टोम के अवश्यकर्तव्यत्व के कारण सामर्थ्य आदि से हीन यजमान के] (अर्थकृतस्य) प्रयोजनवश सहायक होने पर (पक्षेण) दो वा बहुत यजमानों के होने पर विकल्प से द्वि वा बहु यजमान सम्बन्धी प्रतिपत् ज्योतिष्टोम में निविष्ट होवेंगी (इतिचेत्) ऐसा माना जाय तो।

विशेष—यह सूत्रार्थ कुतुहलवृत्ति के अनुसार है। सुबोधिकार ने '(पक्षेण) असामर्थ्य हेतु से (अर्थकृतस्य) प्रयोजनवश दो वा बहुत यजमानों के संभव होने पर' ऐसा व्याख्यान किया है।

---

१. इन्द्राग्नियोः कुलायौ आप० श्रौतसूत्रे (२२।१३।७) श्रूयेते।

२. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—इन्द्राग्नियोः स्तोमेन राजपुरोहितावुभावेकर्द्धि याजयेत। आप० श्रौत २२।१३।१०॥ अथैष इन्द्राग्न्योः स्तोम एतेन……राजा च पुरोहितश्च यजेयाताम्॥ ताण्ड्य ब्रा० १९।१७।१, ४॥

इति चेत् पश्यसि, प्रतिपदावुत्क्रष्टव्ये इति, नैतदेवम्। प्रकरणं हि बाध्येत। बाध्यताम्। असंयोगाद् द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बहुभिश्च यजमानैर्ज्योतिष्टोमस्येति चेत्। असत्यपि वचनेऽर्थाद् द्वौ यजमानौ भविष्यतः। य एको न शक्ष्यति, ससहायः स उपक्रंस्यते। अवश्ययष्टव्ये सति यथा शक्यते, तथा यष्टव्यमिति। बाधित्वापि काञ्चित् प्राप्ति यजमानः सहायमुपादास्यते। एवं प्रकरणे प्रतिपदौ भविष्यतः। तस्मान्नोत्क्रष्टव्ये इति॥१८॥

न प्रकृतेरेकसंयोगात्॥१९॥ (उ०)

व्याख्या—[यजमान द्वित्व वा बहुत्व से सम्बद्ध] प्रतिपदों का उत्कर्ष करना चाहिये, यदि ऐसा आप मानते हैं, तो यह ऐसा नहीं है। [उत्कर्ष मानने पर] प्रकरण बाधित होगा। बाधा जाये प्रकरण। दो यजमानों और बहुत यजमानों के साथ ज्योतिष्टोम का संयोग न होने से ऐसा कहो, तो ठीक नहीं। [दो वा बहुत यजमान विषयक] वचन के न होने पर भी प्रयोजनवश दो यजमान हो जायेंगे। जो अकेला [ज्योतिष्टोम के करने में] समर्थ नहीं होगा, वह सहायक के साथ आरम्भ करेगा। ज्योतिष्टोम अवश्य यजन करने योग्य होने से जैसे किया जा सकता है, उस प्रकार यजन करना चाहिये। किसी (=एकत्व की) प्राप्ति को बाधकर भी यजमान सहायक को ग्रहण करेगा। इस प्रकार ज्योतिष्टोम प्रकरण में ही [द्वित्व बहुत्व संबद्ध] प्रतिपदों का निवेश हो जायेगा। इस हेतु से इनका उत्कर्ष नहीं करना चाहिये।

विवरण—श्रौत कर्म नित्य और काम्य रूप से दो प्रकार के हैं। यथा—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत** (=प्रति वसन्त निमित्त प्राप्त होने पर ज्योतिष्टोम से यजन करे) यह नित्य ज्योतिष्टोम का विधायक वाक्य है। **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**(=स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम से यजन करे) यह काम्य कर्म का विधायक वचन है। (इसी प्रकार अन्य अग्निहोत्रादि कर्मों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।) दोनों कर्मों में मुख्य भेद यह है कि काम्य कर्म तो तभी फलदायक होता है, जब पूरी तरह साङ्ग कर्म किया जावे। परन्तु नैत्यिक कर्म के अवश्य कर्तव्य होने से यजमान किसी सामर्थ्याभाव आदि कारण से पूरे साङ्ग कर्म को न कर सके तो कुछ अङ्गों का त्याग करके भी कर्म कर सकता है। प्रकृत पूर्व पक्ष में सामर्थ्यहीन यजमान के नैत्यिक कर्म के भी साङ्ग करने में सहायक की कल्पना करके यजमान के द्वित्व वा बहुत्व की कल्पना की है।

न प्रकृतेरेकसंयोगात्॥१९॥

सूत्रार्थः—(न) 'न' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। द्वित्व बहुत्व युक्त यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपदों का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष नहीं करना चाहिये, ऐसा नहीं है। (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोम प्रकृति का (एकसंयोगात्) एक यजमान के साथ संयोग होने से। **'वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा यजेत'** इस विधि वाक्य में 'यजेत' एकवचन ही श्रुत है।

विशेष—सूत्र में 'प्रकृतेः' पद के पाठ का प्रयोजम यह है कि ज्योतिष्टोम=अग्निष्टोम

प्रकृतिर्हि ज्योतिष्टोमः। प्रत्यक्षास्तत्र धर्मा आम्नाताः, न कुतश्चिच्चोदकेन प्राप्यन्ते। किमतो यद्येवम्? प्रत्यक्षश्रुता न शक्या बाधितुम्। विकृतौ तु चोकप्राप्ताः सन्त आनुमानिका बाध्येरन्निति। विवक्षितं हि ज्योतिष्टोमे कर्त्तु रेकत्वं प्रत्यक्षश्रुतं न सामर्थ्येन बाध्येत। यत्रापि हि अवश्यकर्त्तव्यता श्रूयते, तत्राप्येक एव यजमानः श्रूयते—**वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'** इति। तस्माज्ज्योतिष्टोमादुत्कृष्टव्ये एते प्रतिपदाविति॥

अथ कस्मात् पत्न्यभिप्रायमेतन्न भवति। एकस्यां पत्न्यां यजमाने च, युवं हि स्थः इति, द्वयोर्बहुषु वा पत्नीषु एते असृग्रमिन्दवः इति? यथा **क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्**[2]

अन्य सब सोमयागों की प्रकृतिभूत है[3]। प्रकृति याग में सब धर्मों का यथावत् उपदेश होता है। अतः उसमें किसी को बाध नहीं सकते अर्थात् यथाश्रुत ही कर्म करना होता है। विकृति यागों में तो **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** नियम से प्राप्त हुए अङ्गों में से किसी का बाध भी होता है। कहां किसका बाध होता है और क्यों होता है, इसकी विवेचना १२ वें अध्याय में करेंगे।

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम प्रकृति है, क्योंकि वहां [सब] धर्म प्रत्यक्ष पढ़े हैं। कहीं से चोदक (=अतिदेश वचन) से प्राप्त नहीं कराये जाते हैं। यदि ऐसा (=चोदक से धर्म प्राप्त नहीं होता) है, तो इस से क्या होता है? प्रत्यक्ष श्रुत धर्म बाधे नहीं जा सकते। विकृति में तो चोदक वचन से प्राप्त हुए आनुमानिक बाधित होवें। [इस कारण] ज्योतिष्टोम में कर्ता का विवक्षित तथा प्रत्यक्ष सुना हुआ एकत्व सामर्थ्य से बाधित नहीं होता है। जहां पर भी अवश्य कर्त्तव्यता (=नित्यता) सुनी जाती है, वहां पर भी एक ही यजमान सुना जाता है**—वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा यजेत **(=प्रति वसन्त ज्योतिष्टोम से यजन करे)। इस लिये [द्वि और बहु से सम्बद्ध] प्रतिपदों को ज्योतिष्टोम से उत्कृष्ट करना चाहिये।**

विवरण—प्रकृतिर्हि ज्योतिष्टोमः—इसका तात्पर्य सूत्रार्थ के नीचे 'विशेष' शीर्षक में में देखें। **अवश्यकर्त्तव्यता**—अर्थात् नित्यता।

व्याख्या—(आक्षेप) **अच्छा तो पत्नी के अभिप्राय से यह (=द्वित्व वा बहुत्व) क्यों नहीं होता है? एक पत्नी और यजमान** होने पर युवं हि स्थः **प्रतिपद् होवे, दो या बहुत पत्नियां होने पर** एते असृग्रमिन्दवः **प्रतिपद् होवे। जैसे** क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम् (**क्षुमा=**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—वसन्ते वसन्ते ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौत १०।२।५॥

२. द्र०—क्षौमे वसाना अग्निमादधीयाताम्। मै० १।६।४॥ (आप० श्रौत ४।४।१०)।

३. इस का तात्पर्य यह है कि अग्निष्टोम में जितना सोम सम्बन्धी कर्म है वह वहां सम्पूर्ण पढ़ा है। अतः वह सोमयागों की प्रकृति है। परन्तु सोमयाग में दीक्षणीयादि अनेक इष्टियां भी विहित हैं। उनमें दर्शपूर्णमास से धर्मों का अतिदेश होता है। इस प्रकार अग्निष्टोम प्रकृति विकृति उभयात्मक है।

इति क्षौमवसानपरं वचनमेवमिहापि प्रतिपद्विधानपरम् । उच्यते—असम्भवात् तत्र मुख्यस्य, लक्षणाशब्दः पुंसो वाचकः स्त्रियाम् । इह तु द्वियज्ञे बहुयज्ञे च सम्भवति, न लक्षणाशब्दो भवितुमर्हति बहुभ्यो यजमानेभ्य इति । यदप्येतद् द्विवचनं द्वयोर्यजमानयोरिति, अत्रापि य एकशेषः **पुमान् स्त्रिया**[1] इति असावपि लक्षणाशब्द एव । अपि च, **उपास्मै गायता नर**[2] इति प्रतिपदोर्निरवकाशत्वमेव स्यात् । तस्मादुत्क्रष्टव्ये एते प्रतिपदाविति सिद्धम् ॥१९॥ **कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षाधिकरणम् ॥९॥**

—:०:—

अतसी के रेशे से निर्मित अथवा रेशमी वस्त्र धारण किये हुए दोनों अग्नि का आधान करें) यह क्षौम वस्त्र धारण परक वचन है, इसी प्रकार यहां भी प्रतिपद्विधान परक वचन है ।(समाधान) वहां (=क्षौमे वसानौ में) मुख्य [दो यजमान] के सम्भव न होने से स्त्री में पुरुष का वाचक लक्षणा (=गौण) शब्द है । यहां (=द्वि बहु यजमान सम्बद्ध प्रतिपद् वचन में) तो [मुख्य का वाचक शब्द] दो वा बहुतों के यज्ञ में सम्भव है । इस कारण बहुत यजमानों के लिये लक्षणा शब्द नहीं हो सकता । और जो यह (द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदम्) द्विवचन दो यजमानों के विषय में है, यहां भी [पत्नी सहित यजमान के द्वित्व में]पुमान् स्त्रिया (अष्टा० १।२।६७) से एकशेष है। यह भी लक्षणा शब्द हैं । और भी [नित्यरूप से विहित] उपास्मै गायता नरः इस प्रतिपद् का निरवकाशत्व ही हो जावे । इस कारण इन (=द्वि बहु सम्बद्ध) प्रतिपदों का उत्कर्ष करना चाहिये, यह सिद्ध होता है ।

विवरण —असम्भवात् तत्र मुख्यास्य — सम प्रधान दो यजमानों का अग्नि के आधान में विधान न होने से क्षौमे वसानौ में स्त्री को कहनेवाला 'वसानौ' पुंलिङ्ग शब्द लाक्षणिक है । यहां पुमान् स्त्रिया (अष्टा० १।२।६७) से वसानश्च वसाना च=वसानौ एकशेष है, और यह लक्षणा=गौण शब्द है, यह भाष्यकार अनुपद कहेंगे । बहुभ्यो यजमानेभ्यः—इस का भाव यह है कि दो वा बहुत पत्नी पक्ष में द्वे च एकश्च=बहवः अथवा तिस्रश्च एकश्च=बहवः इस प्रकार विरूपों का एकशेष मानना होगा । इस से बहुभ्यो यजमानेभ्यः पक्ष में लक्षणा शब्द संभव नहीं है । यह भट्ट कुमारिल के मतानुसार है । प्रकृत भाष्य मत में तो बहुत यजमान पक्ष में क्षौमे वसानौ यह लक्षणा शब्द भी सम्भव नहीं है । उपस्मै…निरवकाशत्वमेव—इसका भाव यह है कि पत्नी के अभिप्राय से द्वित्व की कल्पना करने पर नित्य विहित उपास्मै गायता नरः प्रतिपद् को कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञ कर्म पत्नी के सहित ही किया जाता है । अतः क्षौमे वसानौ में तो अगत्या पत्नी के अभिप्राय से एकशेषरूप लक्षणा शब्द स्वीकार करना पड़ता है ।

—:०:—

१. अष्टा० १।२।६७॥ २. साम उ० प्र० १, अर्ध० १, तृच १, मं० १॥

[जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाधिकरणम् ॥१०॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—**जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति**[1] इति। तत्र संशयः—किमेतद्विधानं दर्शपूर्णमासयोः ? उत पशौ इति ? कथं दर्शपूर्णमासयोः, कथं च पशौ इति ? यदि जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते, तत उत्कर्षः। अथ पत्नीसंयाजेषु जाघनी विधीयते, ततो दर्शपूर्णमासयोरेव। किं प्राप्तम् ?

व्याख्या - **दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति (**पूंछ से पत्नी संयाज नामक कर्म करता है**)। **इसमें संशय है—क्या यह विधान दर्शपूर्णमास में है अथवा पशुयाग में। दर्शपूर्णमास में विधान कैसे होगा और पशु में कैसे होगा ? यदि जाघनी को उद्देश्य करके पत्नीसंयाजों का विधान किया जाता है, तो इसका पशुयाग में उत्कर्ष होगा और यदि पत्नीसंयाजों में जाघनी का विधान किया जाता है, तब दर्शपूर्णमास में ही विधान होगा। क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति—यह वचन आपस्तम्ब श्रौत ३।८।१० में दर्शपूर्णमास प्रकरण में उपलब्ध होता है। यजुः सम्बन्धी अन्य जो कात्यायन बौधायन हिरण्यकेशीय (=सत्याषाढ़) भारद्वाज और वैखानस श्रौत उपलब्ध हैं उनमें दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत पत्नीसंयोजों में जाघनी का कहीं निर्देश हमें नहीं मिला। इसी प्रकार उपलब्ध यजु शाखाओं वा याजुष ब्राह्मणों में भी दर्शपूर्णमास में जाघनी का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। हां, ज्योतिष्टोम में पशुयाग के प्रकरण में **जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति** वचन (पाठ भेद से भी) अवश्य दृष्टिगोचर होता है। आप० श्रौत के अतिरिक्त सर्वत्र पत्नीसंयाज का द्रव्य-आज्य लिखा है। शतपथ १।९।२।७ में पत्नीसंयाज में आज्य द्रव्य की उपपत्ति भी दर्शाई है—**ता वा आज्यहविषो भवन्ति। रेतो वा आज्यम्। रेत एवैतत् सिञ्चति। तस्मादाज्यहविषो भवन्ति** अर्थात् ये पत्नीसंयाज आज्यहविवाले होते हैं। आज्य ही वीर्य है, वीर्य का ही सेचन करता है। इसलिये पत्नीसंयाज आज्यहविवाले होते हैं। भाट्टदीपिका में इसी अधिकरण में **आज्येन पत्नीः संयाजयन्ति** वचन उद्धृत किया है। आज्य के साथ जाघनी का विकल्प होगा अथवा दोनों का कैसे निवेश होगा, यह भी विचारणीय है। मी० १२।४।१०-१६ में भाष्यकार ने इस विषय में विचार किया है। उसका सार यह है—प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास में आज्य के साथ जाघनी का विकल्प कहा है—**विकल्पः प्रकृतौ जाघन्या आज्येन सह** (द्र० १२।४।१६)। आप० श्रौत ३।८।१० का सूत्र है—**आज्येन सोमत्वष्टाराविष्ट्वा जाघन्या पत्नीस्संयाजयन्ति आज्यस्य वा यथागृहीतेन**। इस सूत्र में '**आज्यस्य वा**' धूर्तस्वामी और इस के वृत्तिकार रामाग्निचित् के अनुसार चतुर्थ पत्नीसंयाज अग्नि गृहपति के लिये है। रुद्रदत्त के मतानुसार **आज्यस्य वा** का ग्रहण जाघनी के साथ विकल्पार्थ है। इस सम्पूर्ण विचार से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दर्शपूर्णमास में जाघनी का प्रयोग केवल आप० श्रौत में ही उल्लिखित होने से

---

१. आप० श्रौत ३।८।१०॥

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥ (पू०)

उत्कर्षः । कुत एतदुत्कृष्यते ? जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते इति । कथम् ? शब्दात् पत्नीसंयाजानां विधानं, वाक्येन जाघन्याः । शब्दश्च बलवान् न वाक्यम् ॥ ननु पत्नीसंयाजा विहिता एव[1] । सत्यं विहिताः, जाघन्यामिदानीं पुनर्विधीयन्ते । सा तत्स-

---

और वहां भी आज्य के साथ विकल्प का विधान होने से एकदेशी मत है । दर्शपूर्णमास में आज्य से ही पत्नी संयाज करने चाहियें । मीमांसा सूत्रों का तात्पर्यान्तर विवेचनीय है ।

जाघन्या पत्नीः—जघन=कटि प्रदेश का एक भाग जाघनी । यहां **तस्येदम्** (अष्टा० ४।३।१२०) से अण् तथा स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्** (अष्टा० ४।१।१५) से ङीप् । व्याख्याकारों ने **जाघनी** का अर्थ पशु की पूंछ किया है । **पत्नीः संयाजयन्ति**—दर्शपूर्णमासस्थ पत्नीसंयाज कर्म में **सोमं यजति, त्वष्टारं यजति, देवानां पत्नीर्यजति, अग्निं गृहपतिं यजति** वाक्य विहित सोम त्वष्टा देवपत्नियां और अग्निगृहपति देवता हैं । इनका **'पत्नीः संयाजयन्ति'** वचन में पत्नी शब्द से निर्देश **प्राणभृन्न्याय** (मी० १।४ २८) अथवा लौकिक **छत्रिन्याय** से जानना चाहिये । कुतुहलवृत्तिकार ने **सृष्टिन्याय** से सोमादि का ग्रहण माना है, वह चिन्त्य है । सृष्टिन्याय वह है जिसमें सृज धातु का अधिकता से प्रयोग होता है । इसे ही मीमांसक **भूमन्याय** भी कहते हैं (द्र० मी० १।४।२७) । प्राणभृन्न्याय और सृष्टिन्याय के भेद का स्पष्टीकरण हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ३४६, के विवरण में)कर चुके हैं । कुतुहलवृत्तिकार जैसे मीमांसक और महायाज्ञिक से यह भूल कैसे हुई,यह विचारणीय है । **यदि जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते**—जाघनी को उद्देश्य करके पत्नीसंयाजों के विधान करने पर जाघनी के मुख्य होने से जहां पशुयाग में जाघनी (=पुच्छ) प्राप्त है, वहां इसका उत्कर्ष होगा । **अथ पत्नीसंयाजेषु जाघनी**—यदि पत्नीसंयाजों में जाघनी का विधान करते हैं, तो पत्नीसंयाजों के दर्शपूर्णमास में विहित होने से जाघनी का विधान भी यहीं होगा ।

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थः—[दर्शपूर्णमास में श्रूयमाण] (जाघनी) पूंछ (च) भी उत्कृष्ट होवे, पशुयाग से सम्बद्ध होवे । (एकदेशत्वात्) पशु का एक अवयव होने से ।

व्याख्या—[**दर्शपूर्णमास से जाघनी का**] **उत्कर्ष होता है । किस हेतु से उत्कर्ष होता है ? जाघनी में (=जाघनी को उद्देश्य करके) पत्नीसंयाज विहित हैं । कैसे ? शब्द से पत्नीसंयाजों का विधान है, और वाक्य से जाघनी का । शब्द बलवान् होता है, वाक्य बलवान नहीं होता है । (आक्षेप) पत्नीसंयाज विहित ही हैं । (समाधान) सत्य है [पत्नीसंयाज विहित हैं] । जाघनी में पत्नीसंयाजों का पुनः विधान किया है । वह (=जाघनी) उस (पत्नीसंयाज) से संबद्ध करनी चाहिये ऐसा**

---

१. **आज्येन पत्नीः संयाजयन्ति** (अस्मिन्नेवाधिकरणे भाट्टदीपिकायामुद्धृतं वचनम्) ।

म्बद्धा कर्त्तव्येत्युच्यते। एवं सति दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजा विनापि जाघन्या न विगुणाः। जाघनी तु तत्र प्रतिपाद्यते। तस्माद् यत्र जाघनी प्रयोजनवती, तत्र तस्याः प्रतिपत्तिः। पशौ च सा, न दर्शपूर्णमासयोः। एकदेशश्च जाघनी प्रतिपाद्यमाना न पशुं प्रयोक्ष्यते, तस्मादस्य विधानस्योत्कर्ष इति ॥२०॥

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥२१॥ (उ०)

जाघनी वा पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन विधीयते। कुतः? अपूर्वत्वात्। अप्राप्ता जाघनी पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन। तत्र स्वशब्देन पत्नीसंयाजा विहिताः, जाघनीसम्बन्धस्तेषामविहितः। यत्र यत्र च सम्बन्धो विधीयते, तत्रान्यतरस्यान्यत्र विधानम्, सम्ब-

---

कहा जाता है। इस प्रकार (=उत्कर्ष होने पर) दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाज विना जाघनी के भी विगुण (=गुणरहित) नहीं होंगे। जाघनी वहां (सवनीय पशुयाग में) प्रतिपादित होती है। =अग्नि में छोड़ी जाती है। इसलिये जहां जाघनी प्रयोजनवाली है,वहां उसकी प्रतिपत्ति होती है। पशुयाग में वह जाघनी प्रयोजनवाली है, दर्शपूर्णमास में नहीं है। और एकदेश रूप प्रतिपादित जाघनी पशु को प्रयुक्त नहीं करेगी। इसलिये इस विधान का उत्कर्ष जानना चाहिये।

विवरण—शब्दात् पत्नीसंयाजनाम्—'पत्नीः संयाजयन्ति' से। **वाक्येन जाघन्याः**—'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' इस वाक्य से। **पत्नीसंयाजा विहिता एव—आज्येन पत्नीः संयाजयन्ति** (भाट्टदीपिका में उद्धृत) वाक्य से पत्नीसंयाजों का विधान कर चुके हैं। **एवं च सति — न विगुणाः**—इसका भाव है—दर्शपूर्णमास में आज्य से पत्नीसंयाजों का विधान होने से विना जाघनी के भी वे गुण (=द्रव्य) रहित नहीं होंगे। **जाघनी तु तत्र**—पशुयाग में जाघनी से पत्नीसंयाज होने पर उसे अग्नि में छोड़ दिया जायेगा। कार्य में उपयुक्त हुए द्रव्य का स्थानान्तर में निक्षेप प्रतिपत्ति कर्म होता है। **एकदेशश्च···पशु प्रयोक्ष्यते**—इसका तात्पर्य यह है कि जाघनी=पूंछ पशु का एकदेश है। यदि दर्शपूर्णमास में उसका विधान माना जायेगा तो पशु की प्राप्ति होगी अर्थात् पशु लाकर उस की पूंछ काटनी पड़ेगी। एकदेश रूप से कही गई जाघनी पशु को प्रयोजित नहीं कर सकती।

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥२१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष 'उत्कर्ष' की निवृत्ति के लिये है। जाघनी का उत्कर्ष नहीं होता है, [दर्शपूर्णमास में जाघनी की] (चोदना) विधि है (अपूर्वत्वात्) अपूर्व विधान होने से।

व्याख्या—**जाघनी का पत्नीसंयाजों के प्रति गुणभाव से विधान होता है। किस हेतु से? अपूर्व होने से। पत्नीसंयाजों के प्रति गुणभाव से जाघनी प्राप्त नहीं है। वहां स्वशब्द (=पत्नीः संयाजयन्ति) से पत्नीसंयाज विहित हैं; उनका जाघनी के साथ संम्बन्ध विहित नहीं है। जहां जहां संम्बन्ध का विधान किया जाता है वहां दोनों में से एक का अन्यत्र विधान होता है। संम्बन्ध आवश्यक है। अथवा संम्बन्ध मात्र का विधान है, वहां संबन्धियों (=जिनका सम्बन्ध किया**

धो नान्तरीयकः। यद्वा सम्बन्धस्य विधानम्, नान्तरीयकौ सम्बन्धिनौ। यत्रोभौ लक्षण-त्वेन, तत्र स्वशब्देन सम्बन्धो विधीयते। यत्र त्वन्यतरो लक्षणत्वेन, तत्रैकं लक्षयित्वाऽन्य-तरो विधीयते। लक्षणत्वेन चात्र पत्नीसंयाजाः। कथमवगम्यते? पत्नीसम्बन्धान्न सर्वो यागः, कश्चिदेव तु लक्ष्यते यस्य पत्न्यः साधनत्वेन॥

अथ कस्मान्न जाघनीं लक्षयित्वा पत्नीसंयाजा विधीयन्ते। न अस्य अपूर्वस्य यागस्य पत्न्यः शक्यन्ते विधातुम् जाघन्यां तु लक्ष्यमाणायां यागे सपत्नीके विधीयमाने वाक्यं भिद्येत। अस्ति त्वत्र विहितः सपत्नीको यागः, यः पत्नीभिर्लक्ष्यते। तस्माद् यागं लक्षयित्वा जाघनी विधीयते। यत्तु वाक्येन जाघनीविधानं श्रुत्या यागस्येति, तदिह यागविधानं न सम्भवतीत्युक्तम्। वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तस्माज्जाघनीविधानम्। एव-ञ्चेद् दर्शपूर्णमासयोर्विना जाघन्या विगुणः पत्नीसंयाजयागः स्यात्। तस्मादनुत्कर्ष इति॥२१॥

एकदेश इति चेत्॥२२॥ (पू०)

जा रहा है) का निर्देश आवश्यक है। जहां पर दोनों (=सम्बध्यमान) लक्षण रूप से होते हैं वहां स्वशब्द से संबन्ध विहित होता है। किन्तु जहां [दोनों सम्बध्यमानों में] एक लक्षणरूप से गृहीत होता है, वहां एक को लक्षित करके अन्यतर (=दूसरे)का विधान किया जाता है। यहां पत्नीसंयाज लक्षणरूप हैं। कैसे जाना जाता है [कि पत्नीसंयाज लक्षण रूप हैं]? पत्नी के सम्बन्ध से यागमात्र गृहीत नहीं होता है, किन्तु कोई विशेष ही लक्षित होता है, जिसकी पत्नियां साधनरूप से हैं।

अच्छा तो जाघनी को लक्षित करके पत्नीसंयाजों का विधान क्यों नहीं किया जाता? इस अपूर्व याग की पत्नियां [साधन रूप=देवता के रूप से] विधान नहीं की जा सकती हैं [क्योंकि पत्नीसंयाज के सोम त्वष्टा देवपत्नियां और अग्नि गृहपति देवता हैं]। जाघनी को लक्षित करके सपत्नीक याग के विधान करने पर वाक्य भेद होवे [अर्थात् जाघनीमुद्दिश्य यागो विधीयते पत्न्य-श्च विधीयन्ते= जाघनी को उद्देश्य करके याग का विधान किया जाता है और पत्नी देवता का]। यहां दर्शपूर्णमास में पत्नी देवता सहित याग है जो पत्नी शब्द से लक्षित होता है। इसलिये याग को लक्षित करके जाघनी का विधान किया जाता है और जो यह कहा कि जाघनी का विधान वाक्य से होगा और याग का विधान श्रुति से होता है। इस विषय में कह चुके हैं कि यहां याग का विधान सम्भव नहीं है, वाक्यभेद होने से। इसलिये जाघनी का विधान है। इस प्रकार होवे तो विना जाघनी के दर्शपूर्णमास में पत्नीसंयाज विगुण होवे। इसलिये उत्कर्ष नहीं होता है।

एकदेश इति चेत्। २२।

सूत्रार्थः—जाघनी पशु का (एकदेशः) एक अवयव है, अतः जहां पशु होगा वहां उत्कर्ष होगा, (इति चेत्) ऐसा मानें तो।

अथ यदुक्तम्, एकदेशो जाघनी न पशुं प्रयोक्ष्यते। तस्मादुत्कर्ष इति तत् परिहर्त्तव्यम् ॥२२॥

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२३॥ (उ०)

न प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोर्जाघनी शास्त्रेणोच्यते। एवं पशोर्निष्पन्नया जाघन्या पत्नीसंयाजा यष्टव्या इति अविशिष्टा जाघनी विधीयते। सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः [1]क्रीत्याप्यानीयमाना, तस्मादनुत्कर्ष इति ॥२३॥ **जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाऽधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

व्याख्या—और जो यह कहा है कि 'जाघनी एक देश है वह [दर्शपूर्णमास में] पशु को प्रयुक्त नहीं करेगी। इसलिये उत्कर्ष करना चाहिये' इसका परिहार करें।

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२३॥

सूत्रार्थः—(प्रकृतेः) दर्शपौर्णमास सम्बन्धी जाघनी का (अशास्त्रनिष्पत्तेः) शास्त्र से ['अमुक पशु की ऐसी जाघनी होवे' इस प्रकार] निष्पत्ति का कथन न होने से उत्कर्ष नहीं होगा। लौकिक जाघनी का यहां ग्रहण होगा।

विशेष—इसका तात्पर्य यह है कि लोक में कसाई आदि के द्वारा मारे गये पशु की पूंछ खरीद कर उससे पत्नीसंयाज किये जायेंगे। यहां पर ध्यान में रखना चाहिये कि यह लौकिक जाघनी भी यज्ञीय अज आदि पशु की होनी चाहिये, ऐसा आप० श्रौत व्याख्याता रुद्रदत्त का मत है **यज्ञियस्य पशोः**। धूर्तस्वामी ने भक्ष्य पशु की जाघनी का उल्लेख किया है—**भक्ष्यस्य पशोः** (द्र०—टि०)। द्र० आप० श्रौत ३।८।१२ की दोनों व्याख्याकारों की व्याख्यायें। शबर स्वामी इस विषय में मौन हैं।

व्याख्या—प्रकृति दर्शपूर्णमास में शास्त्र के द्वारा जाघनी का कथन नहीं है—इस प्रकार के पशु से निष्पन्न जाघनी से [पत्नीसंयाजों का] यजन करना चाहिये। सामान्य जाघनी का विधान किया है। वह दर्शपूर्णमास में खरीद कर लाई हुई भी सम्भव है। इसलिये जाघनी का [दर्शपूर्णमास से] उत्कर्ष नहीं होगा।

विवरण—दर्शपूर्णमास में जाघनी के विधान के विषय में हम इस अधिकरण के प्रथम सूत्र में विस्तार से लिख चुके हैं। हमारा विचार है कि केवल आपस्तम्ब श्रौत में और वह भी विकल्प में जाघनी का विधान उचित नहीं है। इसी एकदेशीय मत को ध्यान में रखकर सम्भवतः

१. 'क्रीत्य' इति समासाभावेऽपि भाष्यकारेण क्त्वास्थाने ल्यबादेशः प्रयुक्तः। क्वचित् समासाभावेऽपि ल्यब्भवति—**अर्च्य तान् देवान् गतः**(द्र०—काशिका ७।१।३८)। यद्वाऽत्र 'क्रीत्वा' 'क्रीता' वा पाठो द्रष्टव्यः।

[संतर्दनस्योक्थ्यादिसंस्थानिवेशाधिकरणम् ॥११॥]

ज्योतिष्टोमे अधिषवणफलके प्रकृत्य श्रूयते—दीर्घसोमे सन्तृद्याद् धृत्यै[1] इति। तत्र सन्देहः—किं सन्तर्दनं ज्योतिष्टोमे एव, अहोस्विद्दीर्घकालेषु सोमेष्विति? उच्यते—

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥२४॥ (पू०)

मीमांसा का प्रस्तुत अधिकरण प्रवृत्त हुआ हो। हम प्रथम भाग के आरम्भ में लिखे गये **श्रौतयज्ञ-मीमांसा** निबन्ध में स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रौत यज्ञों में पशुहिंसा का कोई स्थान नहीं है। उत्तर काल में इसके प्रवृत्त हो जाने पर भी वह अनार्य एवं अधार्मिक कृत्य होने से तथा **विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मी० १।३।३) मीमांसा शास्त्र के अनुसार वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है)। वेदों की संहिताओं को छोड़कर समस्त शाखा ब्राह्मण श्रौतसूत्र आदि ऋषिमुनियों द्वारा प्रोक्त होने पर भी परतः प्रमाण हैं। अतः मीमांसा के प्रस्तुत अधिकरण का विचार भी कर्तव्य रूप में प्रमाण नहीं है। जो जाघनी का प्रयोग उस काल में करते थे उनकी दृष्टि से यह अधिकरण रचा प्रतीत होता है।

—:०:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में अधिषवण फलक के विषय में सुना जाता है**—दीर्घसोमे संन्तृद्याद् धृत्यै (=**दीर्घसोम में धृति=विच्छेद के अभाव के लिये अधिषवण फलकों का संत-र्दन करे उन्हें जोड़े**)। **इसमें सन्देह है—यह [अधिषवण फलकों का] सन्तर्दन ज्योतिष्टोम में ही है अथवा दीर्घकाल वाले सोमयागों में। इस विषय में कहते हैं**—

विवरण—अधिषवणफलके प्रकृत्य=अधिषूयते सोमो यत्र=जिन पर सोम कूटा जाता है, वह काष्ठनिर्मित अधिषवण फलक कहाते हैं। ये संख्या में दो होते हैं। अधिषवण फलक उदुम्बर (गूलर) कार्ष्मर्यमय (?) अथवा पलाश के तख्ते होते हैं (द्र० आप०श्रौत ११।१३।१)। **सन्तृद्यात्**= सन्तर्दन कील आदि से दोनों फलकों को जोड़ना। जैसे किवाड़ के फलकों को अन्तः कील से जोड़ा जाता है (द्र०—आप० श्रौत ११।१३।२ रुद्रदत्त टीका)।

विशेष—हविर्धान मण्डप, जिसमें हविर्धान नाम के दो शकट (=गाड़ियां) रखी हैं उसमें हविर्धान शकट के नीचे **उपरव** संज्ञक चार गड्ढे खोदे जाते हैं। उनके ऊपर कुशा बिछाई जाती है। कुशाओं के ऊपर अधिषवण संज्ञक चर्म बिछाया जाता है। उस पर अधिषवण फलक रखे जाते हैं। अधिषवण फलकों पर सोम कूटने के लिये ग्रावा पाषाण रखकर उस पर सोम के टुकड़े रखे जाते हैं। उन्हें पाषाणों (लोढ़ियों) से कूटा जाता है। यह कर्म का शाब्दिक संक्षिप्त विवरण है। विशेष ज्ञान श्रौतसूत्रों के अध्ययन तथा कर्म के दर्शन से ही हो सकता है।

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवद् अनर्थलोपात् स्यात् ॥२४॥

सूत्रार्थः [अधिषवण फलकों के विषय में कहा गया] (संतर्दनम्) संतर्दन=अन्तः कील

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—अथो खलु दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै। तै० सं० ६।२।११।

नैतल्लुप्तार्थं प्रकृतौ, तस्मान्नोत्कृष्येतेति । आह—नन्वसन्तर्दनमपि श्रूयते—असन्तृणे भवतः[1] इति । उच्यते । क्रयणवद् विकल्पिष्यते । यथा—हिरण्येन क्रीणाति,[2] गवा क्रीणाति[3] इत्येवमादीना विकल्पः । एवमत्रापि विकल्पो भविष्यति । सन्तर्दनम् असन्तर्दनं वा भविष्यतीति ॥२४॥

से दोनों अधिषवण फलकों को जोड़ना (प्रकृतौ) प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में (स्यात्) होवे। (क्रयणवत्) गो हिरण्य आदि से सोम क्रयण के समान (अनर्थलोपात्) सन्तर्दन के धारण रूप प्रयोजन का लोप न होने से। अर्थात् इस दीर्घसोम में विहित संतर्दन का उत्कर्ष नहीं होगा। (यह सूत्रार्थ भट्ट कुमारिल द्वारा पक्षान्तरोपात्त विचार के अनुरूप है)।

भाष्यानुसारी सूत्रार्थ—दीर्घ सोम में अधिषवण फलकों में विहित (सन्तर्दनम) सन्तर्दन (प्रकृतौ) प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में (स्यात्) होवे (अनर्थलोपात्) इष्टि आदि कर्मों की अपेक्षा सोमयाग के दीर्घ कालिक होने से दीर्घ सोम के अवयवभूत दीर्घ शब्द के अर्थ का लोप न होने से अर्थात् विद्यमान होने से। ज्योतिष्टोम में कही गई असन्तर्दन विधि के साथ संतदर्न का विकल्प होगा (क्रयणवत्) जैसे सोमक्रय में गौ हिरण्य आदि क्रय साधनों का विकल्प होता है। अतः सन्तर्दन का उत्कर्ष नहीं होगा।

विशेष—भाष्यानुसारी सूत्रार्थ में **क्रयणवत्** दृष्टान्त मी० अ० १२, पा० ४, अधि० ३ के पूर्वपक्ष को स्वीकार करके जानना चाहिये। सिद्धान्त पक्ष में गौ हिरण्य आदि का सोमक्रय में समुच्चय होता है। उभयवादी सिद्ध पदार्थ ही दृष्टान्त होता है, ऐसा सभी शास्त्रकारों का मत है। अतः भाष्य-व्याख्यान में पूर्वपक्ष को दृष्टान्त रूप से उपस्थापित करना युक्त नहीं है। सम्भवतः इसी दृष्टि से भट्ट कुमारिल ने अन्यथा सूत्र का अर्थ दर्शाया है।

व्याख्या—यह (=संतर्दन) प्रकृति [ज्योतिष्टोम] में लुप्त अर्थवाला नहीं है। [अर्थात् इष्टियों की अपेक्षा ज्योतिष्टोम के दीर्घकाल साध्य होने से यह कर्म दीर्घ कहा जा सकता है] इस कारण [सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम से] उत्कर्ष नहीं होगा। (आक्षेप) **[ज्योतिष्टोम में] असन्तर्दन (=कील आदि से फलकों को न जोड़ना) भी सुना जाता है**—असन्तृणे भवतः **(=अधिषवण फलक** जड़े हुए **नहीं होते हैं)।** (समाधान) **क्रय के समान विकल्प हो जायेगा। जैसे [सोम के क्रय में]** हिरण्येन क्रीणाति **(=सुवर्ण से खरीदता है),** गवा क्रीणाति **(=गौ से खरीदता है) आदि का विकल्प होता है, उसी प्रकार यहां भी विकल्प हो जायेगा=सन्तर्दन और असन्तर्दन विकल्प से होंगे।**

विवरण—क्रय के विकल्प के विषय में सूत्रार्थ के नीचे विशेष में देखें।

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—न सतृणत्ति। तै० सं० ६।२।११॥

२. तै० सं० ६।१।१०॥ ३. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—धेन्वा क्रीणाति। तै०सं० ६।१।१०॥

उत्कर्षो वा ग्रहणाद् विशेषस्य ॥२५॥ (सि०)

उत्कृष्यते वा सन्तर्दनम् । गृह्यते हि विशेषः—**दीर्घसोमे सन्तृद्याद्** इति । ज्योतिष्टोम-मपेक्ष्य सत्राणि कालतो दीर्घाणि भवन्ति ॥२५॥

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥ (पू०)

नोत्कृष्येत वा सन्तर्दनं ज्योतिष्टोमात् । एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति । दीर्घसोम-शब्दश्च कर्तृतो भविष्यति । दीर्घस्य यजमानस्य सोमो दीर्घसोम इति ॥२६॥

उत्कर्षो वा ग्रहणाद् विशेषस्य ॥२५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उल्लिखित पक्ष की निवृत्ति के लिये है। (उत्कर्षः) दीर्घ सोम में कहा अधिषवण फलक विषयक सन्तर्दन का उत्कर्ष होवे (विशेषस्य ग्रहणात्) दीर्घ सोमरूप विशेष का ग्रहण=निर्देश होने से।

व्याख्या—सन्तर्दन का उत्कर्ष होता है। विशेष गृहीत होता है—दीर्घसोमे सन्तृद्यात्। **ज्योतिष्टोम की अपेक्षा से सत्र काल से दीर्घ होते हैं।**

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व निर्दिष्ट उत्कर्ष की निवृत्ति के लिये है। संतर्दन का उत्कर्ष नहीं होगा। (कर्तृतः) कर्त्ता से दीर्घता जानी जायेगी। दीर्घ यजमान का सोम दीर्घ-सोम होगा। अर्थात् दीर्घ=लम्बे यजमान के सोमयाग में अधिषवण फलकों का सन्तर्दन करे। (विशेष-स्य) दीर्घ विशेषण के (तन्निमित्तत्वात्) कर्तृनिमित्त होने से।

विशेष—कुतुहलवृत्तिकार ने सूत्र में **सन्निमित्तत्वात्** पाठ मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—'समास विशेष निर्धारण के निमित्त के विद्यमान होने से। यहां [षष्ठी वा कर्मधारय] समास का विशेषक स्वरविशेष धर्म नहीं है। [दीर्घसोम शब्द में वर्तमान] अन्तोदात्तत्व षष्ठीसमास और कर्मधारय समास दोनों में समान है। भट्ट कुमारिल ने भी दोनों समासों में स्वरगत विशेष का अभाव कहा है। वस्तुतः प्रकृत पूर्वपक्षी का कर्त्ता के दैर्घ्य से सोम को विशेषित करना प्रौढोक्ति मात्र है। क्योंकि यजमान की अपेक्षा रखनेवाले दीर्घ शब्द के साकाङ्क्ष होने से सोमशब्द के साथ उसका षष्ठी समास ही उपपन्न नहीं होता है।

व्याख्या—ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन उत्कृष्ट (=अन्यत्र ले जाना) नहीं होता है। इस प्रकार [ज्योतिष्टोम का] प्रकरण अनुगृहीत होता है। दीर्घसोम शब्द कर्त्ता की दृष्टि से निष्पन्न हो जायेगा। दीर्घ यजमान का सोम=दीर्घसोम।

क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥ (सि०)

न चैतदस्ति ज्योतिष्टोमे सन्निवेश इति। दीर्घकाले सोमे क्रियेत। क्रतुत एव दीर्घत्वं न कर्तृतः। कुतः? अर्थवादानुपपत्तेः। धृत्यै इत्यर्थवादो भवति, धारणायेत्यर्थः। दीर्घकाले सोमे पुनः पुनर्ग्रावभिरभिहन्यमाने सोमाभिषवणफलकयोर्दारणशङ्कायां धृत्यै इत्यर्थवाद उपपद्यते। तस्मादुत्कर्ष इति ॥२७॥

संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥ (पू०)

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। कानि पदानि? अथ किमर्थं संस्थासु न निवेशः। तथा सति प्रकरणमनुगृहीतं भविष्यति, दीर्घसोमशब्दश्च। दीर्घकालो हि अग्निष्टोममपेक्ष्योक्थ्यादिषु संस्थासु सोम इति। उच्यते—

न संस्थासु दीर्घकालत्वेऽपि सोमे धृत्यै इत्यर्थवाद उपपद्यते। तावानेव हि

क्रतुतो वाऽर्थदानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(क्रतुतः) याग से (वा) ही दीर्घसोम में दीर्घत्व (स्यात्) होवे, कर्त्ता से नहीं (अर्थवादानुपपत्तेः) धृत्यै=धारण के लिये, इस अर्थवाद की कर्त्ता से दीर्घत्व में उपपत्ति न होने से।

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में ही सन्तर्दन निविष्ट** होता है, यह नहीं है। **दीर्घकाल वाले सोमयाग में संतर्दन किया जाये। [दीर्घसोम का] दीर्घत्व** क्रतु से ही है, **कर्त्ता से नहीं है। किस हेतु से? अर्थवाद के** उपपन्न न होने से। धृत्यै ऐसा **अर्थवाद होता है। इसका अर्थ है—धारण के लिये। दीर्घकाल वाले सोम में बार-बार [सोम को कूटनेवाले] पत्थरों से ताड़ित होने पर सोमाभिषव फलकों के टूटने की आशङ्का होने पर** धृत्यै **यह अर्थवाद उपपन्न होता है। इसलिये [सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम से] उत्कर्ष होवे।**

संस्थाश्च कर्तृवद् धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(संस्थाः) ज्योतिष्टोम की उक्थ्य आदि उत्तर संस्थाएं (च) भी (कर्तृवत्) कर्त्ता के समान ही दीर्घत्व से विशेषित नहीं हो सकती हैं। (धारणार्थाविशेषात्) धारण रूप प्रयोजन के अग्निष्टोम और उक्थ्यादि संस्थाओं में भेद न होने से। अर्थात् दश मुष्टि परिमित जितना सोम अग्निष्टोम में गृहीत होता है उतना ही उक्थ्यादि उत्तर संस्थाओं में भी गृहीत होता है।

व्याख्या—**यह सूत्र कुछ पदों को मन में रखकर रचा गया है। वे पद क्या हैं? [सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम की] उत्तर उक्थ्यादि] संस्थाओं में निवेश क्यों न होवे। ऐसा होने पर ज्योतिष्टोम प्रकरण और दीर्घसोम शब्द अनुगृहीत होगा। अग्निष्टोम की अपेक्षा उक्थ्यादि संस्थाओं में दीर्घकालिक सोम होता है। इस विषय में कहते हैं—**

संस्थाओं के दीर्घ कालिक सोम के होने पर भी धृत्यै **यह अर्थवाद उपपन्न नहीं होता है।**

तत्र सोमः, दश मुष्टीर्मिमीते' इति वचनात्। तत्र धारणे न विशेषः कश्चित्। तस्माद् उत्कर्ष एव ॥२८॥

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥ (सि०)

न चैतदस्ति उत्कर्ष इति। प्रकरणानुग्रहादनुत्कर्षः। दीर्घसोमशब्दश्च दीर्घकालत्वाद् उपपद्यते। तत्राप्यधिकोऽग्निष्टोमात् सोमः। प्रदानानि हि विवर्द्धन्ते। तान्यविवृद्धे प्रदेये न शक्यानि विवर्द्धयितुम्। पूर्णे च ग्रहे ग्रहशब्दो भवति। तेन न शक्यानि न्यूनानि पात्राणि ग्रहीतुम्।। तस्माद् दारणाशङ्कायां धारणमाशंसितव्यं भवति। तत्र धृत्यै इत्युपपद्यते इति ॥२९॥

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥ (पू०)

उन संस्थाओं में भी उतना ही सोम है। दश मुष्टीर्मिमीते (=दश मुठी सोम मापता है) इस वचन से। अतः उनमें धारण में कोई विशेषता नहीं है [जिससे धृत्यै अर्थवाद उपपन्न होवे]। इसलिये [सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम से] उत्कर्ष ही होता है।

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। सन्तर्दन का (उक्थ्यादिषु) उक्थ्य आदि संस्थाओं में निवेश होगा (अर्थस्य) अर्थ (=प्रयोजन) के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से। अर्थात् उक्थ्यादि संस्थाओं में सोम के अधिक होने से।

व्याख्या—[ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का] उत्कर्ष होता है, यह नहीं है। [ज्योतिष्टोम] प्रकरण के अनुग्रह से उत्कर्ष नहीं होगा। दीर्घसोम शब्द भी सोमयाग के दीर्घकालिक होने से उपपन्न होता है। वहां (=उक्थ्यादि संस्थाओं में) भी अग्निष्टोम से अधिक सोम होता है। क्योंकि प्रदान (=सोमाहुतियां) [उक्थ्यादि संस्थाओं में] बढ़ती हैं। वे बढ़े हुए प्रदान दिये जानेवाले सोम के न बढ़ने पर बढ़ाये नहीं जा सकते। ग्रह शब्द [सोम रस से] पूर्ण (=भरे हुए) ग्रह में प्रयुक्त होता है। इस कारण न्यूनपात्र (=पुरे न भरे हुए ग्रहों) का ग्रहण सम्भव नहीं है। इसलिये (=सोम के अधिक होने से) [अधिषवण फलकों के] टूटने की शङ्का होने पर धारण की आशंसा (=इच्छा) करनी चाहिये। अतः वहां धृत्यै यह अर्थवाद उपपन्न होता है।

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥

सूत्रार्थः—(अविशेषात्) उक्थादि संस्थाओं में प्रदेय सोम के समान होने से ज्योतिष्टोम

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—पञ्चकृत्वो यजुषा मिमीते, पञ्चकृत्वस्तूष्णीम्। आप० श्रौत १२।६।५॥ अत्र आप० श्रौत १०।२४।८, १२ अप्यनुसंधेयम्।

इति चेत् पश्यसि, संस्थास्वपि अर्थवादोऽवकल्पते, प्रदेयविवृद्ध्या इति । नैतदेवम् । व्यर्थैव हि स्तुतिर्भवेत् । कुतः ? सोमाविशेषात् । यावानेवाग्निष्टोमे सोमः तावानेवोक्थ्यादिष्वपि संस्थासु । उक्थ्यादिष्वपि दशमुष्टिरेव सोमो ग्रहीतव्यः । नन्वर्थात् प्रदेयं विवर्त्स्यतीति ? दशमुष्टिः स कथं शक्येत विवर्द्धयितुम् । त्रिपर्वेति च पर्वसङ्ख्यानियमान्न शक्यो बहुपर्वा ग्रहीतुम् । तस्माद्धारणाविशेषादर्थवादानुपपत्तिः संस्थासु स्यात् । तस्मादुत्कर्षः ॥३०॥

स्यादनित्यत्वात् ॥३१॥ (सि०)

नैतदस्ति उत्कर्ष इति । संस्थासु स्यात् प्रकरणानुग्रहाद् अर्थाच्च । प्रदेयविवृद्ध्या दारणशङ्कायामर्थवाद उपपद्यते । केन प्रकारेण प्रदेयं विवर्द्धिष्यते इति ? विप्रकृष्टपर्वा सोमो ग्रहीष्यते । अपि च तृतीये सवनेंऽशुरेकोऽभिषूयते । तस्य प्रमाणं च नाम्नातम् ।

में सन्तर्दन विषयक 'धृत्यै' (स्तुतिः) स्तुति=प्रशंसा (व्यर्था) व्यर्थ होवे (इति चेत्) ऐसा कहा जाये तो । अर्थात् संस्थाओं में भी प्रदेय सोम के बराबर होने से 'धृत्यै' अर्थवाद के व्यर्थ होने से ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का उत्कर्ष होना चाहिये ।

व्याख्या—यदि यह समझते हो कि उक्थ्यादि संस्थाओं में भी अर्थवाद उपपन्न हो जाता है प्रदेयभूत सोम की वृद्धि होने से, तो ऐसा नहीं है । धृत्यै स्तुति व्यर्थ ही होती है । किस हेतु से ? सोम के [अग्निष्टोम और उक्थ्यादि संस्थाओं में] समान होने से । जितना ही सोम अग्निष्टोम में गृहीत होता है उतना ही उक्थ्यादि संस्थाओं में भी लिया जाता है । उक्थ्यादि संस्थाओं में भी दश मुट्ठी सोम ही ग्रहण करना चाहिये । (आक्षेप) प्रयोजन वश=(प्रदानों की वृद्धि के कारण) प्रदेय सोम बढ़ जायेगा । (समाधान) दश मुट्ठी सोम को कैसे बढ़ाया जा सकता है । [सोम का] त्रिपर्वा (=तीन पौरवाला) नियम होने से बहुतपर्वों वाला सोम भी गृहीत नहीं हो सकता । इस कारण धारण के समान होने से धृत्यै अर्थवाद की उक्थ्यादि संस्थाओं में उपपत्ति नहीं होगी । इस कारण [ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का] उत्कर्ष करना चाहिये :

स्याद् अनित्यत्वात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—[सन्तर्दन का उक्थ्यादि संस्थाओं में (स्यात्) निवेश होवे (अनित्यत्वात्) पर्वों के परिमाण के अनियत होने से ।

व्याख्या—[ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का] उत्कर्ष होवे, यह नहीं है । उक्थ्यादि संस्थाओं में ही निवेश होवे प्रकरण के अनुग्रह से और प्रयोजन से प्रदेय सोम की अधिकता होने से [अधिषवण फलकों के] टूटने की शङ्का में 'धृत्यै' अर्थवाद उपपन्न होता है । प्रदेयभूत सोम को किस प्रकार बढ़ाया जायेगा ? दूर पर्व=गांठवाला सोम लिया जायेगा । और भी, तृतीय सवन में एक

तमनेकपर्वाणं स्थूलपर्वाणं च ग्रहीष्यति। तेन प्रदेयविवृद्धिर्भविष्यति। अतोऽर्थवादोऽवकल्पिष्यते। तस्मात् संस्थासु निवेश इति सिद्धम्॥३१॥ **सन्तर्दनस्य संस्थानिवेशाधिकरणम्॥११॥**

—:o:—

[प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्॥१२॥

ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यं प्रकृत्य समाम्नायते—**न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात् द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्याद्**[1] इति। तत्र सन्देहः—किं ज्योतिष्टोमे सर्वेष्वेव प्रयोगेषु न प्रवर्जितव्यम्, उत प्रथमे प्रयोगे प्रतिषेध इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

अंशु (=अंशुग्रह के लिये सोम) का अभिषव होता है। उस सोम का परिमाण नहीं कहा है। [उ]स सोम को अनेक पोरोंवाला तथा बड़े पर्व वाला ग्रहण करेंगे। उससे प्रदेयभूत सोम की वृद्धि होगी। इससे [धृत्यै] अर्थवाद उपपन्न हो जाएगा। इस कारण सन्तर्दन का उक्थ्यादि संस्थाओं में निवेश होता है, यह सिद्ध है।

विवरण—**विप्रकृष्ट पर्वा**—पर्व=पौरे जिसमें दूर-दूर हैं अर्थात् जिसमें गांठें दूर-दूर हैं अर्थात् बड़े पौर वाला। **तृतीय सवनेंऽशुरेको गृह्यते**—इस पर भट्ट कुमारिल ने लिखा है—इस में विवाद है। तृतीय सवनस्थ अंशु ग्रह के लिये भी उसी (=पूर्व उपात्त) सोम से ही ग्रहण होने से यहां विप्रकृष्टपर्व मात्र कारण कहना चाहिये।

विशेष—यद्यपि भाष्यकार ने अधिषवण फलकों के सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम की उक्थ्यादि संस्थाओं में विधान किया है, परन्तु भट्ट कुमारिल ने उक्थ्यादि संस्था से अन्यत्र द्विरात्र प्रभृति अहीनों तथा सत्रों में भी सन्तर्दन का विधान स्वीकार किया है—**तत्र च दीर्घसोमत्वाविशेषात् सत्राहीनेष्वपि तुल्यमिति सर्वधर्मता**। इस अभिप्राय के लिये सूत्र व्याख्यान में भी कुछ अन्तर किया है। (इसके लिये कुतुहलवृत्ति का यह अधिकरण द्रष्टव्य है)। इसी प्रकार **स्यावनित्यत्वत्वात्** सूत्र का अर्थ—'सोम के नियत परिमाण के अनित्य होने से' किया है। और इसमें **अवशिष्टानंशून् अभ्यूहेत** (=बचे हुए सोम को भी वस्त्र में ग्रहण करे) वचन उद्धृत किया है। इसी अभिप्राय के लिये आप० श्रौत १०।२४।१४ सूत्र—**प्रजाभ्यस्त्वा** इत्यवशिष्टानंशून् उपसमूह्य क्षौमेण वाससा संगृह्य द्रष्टव्य है।

—:o:—

व्याख्या—**ज्योतिष्टोम में प्रवर्ग्य कर्म का आरम्भ करके पढ़ा है**—न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्, द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्यात् (=**प्रथम यज्ञ में प्रवर्ग्य न करे, द्वितीय वा तृतीय यज्ञ में करे**)। **इसमें सन्देह है—क्या ज्योतिष्टोम के सभी प्रयोगों में प्रवर्ग्य नहीं करना चाहिये अथवा प्रथम प्रयोग में प्रतिषेध है ? क्या प्राप्त होता है ?**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। कौषीतकिब्राह्मणे पठ्यत इति भट्टकुमारिलः। शाङ्ख्यायनब्राह्मणे (८।३) निन्दामुखेन प्रथमयज्ञे प्रवर्ग्यस्य प्रतिषेध उक्तः।

सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३२॥ (पू०)

ज्योतिष्टोमे प्रतिषेधः । कुतः? यज्ञसंयोगात् । प्रथमशब्देन यज्ञोऽभिधीयते ज्योतिष्टोमः । तस्य हि प्रथमसंयोगः एवं समाम्नायते – **एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वा अथान्येन यजेत**[1] इति । यज्ञानां प्रथम इति कृत्वा प्रथमशब्देन ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते । एवञ्च प्रकरणमनुगृह्यते । यदि क्रतोरेष वादः । तस्मात् संख्यायुक्तः प्रतिषेधो ज्योतिष्टोमस्य प्रवर्ग्यं प्रतिषेधेदिति ॥३२॥

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥ (उ०)

विवरण—ज्योतिष्टोम में द्वितीय तृतीय और चतुर्थ दिन सायं प्रातः उपसत् इष्टि से पूर्व प्रवर्ग्य कर्म किया जाता है । यह भी इष्टि ही है । इसमें तप्तघृत में गौ और अजा के दूध को डालना **प्रवृञ्जन** कहाता है—तदिदं तप्ते घृते पयः प्रक्षेपणं प्रवृञ्जनमित्युच्यते (यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृष्ठ ६४) । इसी प्रवृञ्जन के सम्बन्ध से इस कर्म का नाम प्रवर्ग्य है । प्रवर्ग्य की सामान्य प्रक्रिया 'यज्ञतत्त्वप्रकाश' के पृष्ठ ६२-६५ तक देखें ।

संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३२॥

सूत्रार्थः— (संख्यायुक्तम्) संख्या से युक्त=प्रथम शब्द संयुक्त प्रवर्ग्य का प्रतिषेध (प्रकरणात्) प्रकरण से (क्रतोः) ज्योतिष्टोम क्रतु का अङ्ग (स्यात्) होवे । अर्थात् ज्योतिष्टोम मात्र में प्रवर्ग्य कर्म का प्रतिषेध होवे ।

व्याख्या—[प्रवर्ग्य का] **ज्योतिष्टोम में प्रतिषेध है । किस कारण से ? यज्ञ के संयोग से । प्रथम शब्द से ज्योतिष्टोम यज्ञ कहा जाता है । ज्योतिष्टोम का प्रथम शब्द के साथ संयोग इस प्रकार पढ़ा है—एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः । य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत [[2]गर्तपत्यमेव तज्जायेत प्र वा मीयेत] (=यही यज्ञों में प्रथम यज्ञ है जो ज्योतिष्टोम है । जो इस से विना यजन किये अन्य से यजन करता है [वह गड्ढे में गिरता है अथवा मर जाता है]) । यज्ञों में प्रथम होने से प्रथम शब्द से ज्योतिष्टोम कहा जाता है । इस प्रकार प्रकरण अनुगृहीत होता है यदि यह [प्रथम यज्ञ] वाद (=कथन) क्रतु (=ज्योतिष्टोम) का होता है । इसलिये संख्या से युक्त प्रतिषेध ज्योतिष्टोम के प्रवर्ग्य का प्रतिषेध करे ।**

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

सूत्रार्थः - (वा) 'वा' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है अर्थात् प्रथम यज्ञ नाम का

---

१. मीमांसाभाष्ये पूर्वत्र (२।४।८, भाग २, पृष्ठ ६०४) 'ताण्डके श्रूयते' इत्युक्त्वा वचनमिदमुक्तम् । ताण्डच्यब्राह्मणे (१६।१।२) 'यज्ज्योतिष्टोम' एतावान् पाठो न श्रूयते ।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ वाक्य को पूरा करने के लिये मीमांसा २।४।८के भाष्य में उद्धृत वचन से संगृहीत किया है । द्र० भाग २, पृष्ठ ६०४ ।

न चैतदस्ति—यज्ञस्य एष वाद इति। चतुर्ष्वपि वेदेषु न प्रथमयज्ञ इत्येवंसंज्ञकः कश्चिद् यज्ञोऽस्ति। भवति तु प्रथमो यज्ञस्य प्रयोगः कर्तृसंयोगात्। पूर्वस्य द्वितीयादीनपेक्ष्य प्रथमशब्दो भवति। स प्रयोगस्योपपद्यते, न क्रतोः। प्रयोगः श्रवणाद् गम्यते। क्रतुः प्रयोगसम्बद्धत्वात्, श्रुतिश्च बली यसी न लक्षणा। तस्मात् प्रथमे प्रयोगे न प्रवर्जितव्यमिति॥

अथ यदुक्तम्, ज्योतिष्टोमेन सामानाधिकरण्यात् तद्वचन इति। लक्षणया सामानाधिकरण्यमिति तत् परिहृतम्। यत्तु प्रथमयज्ञ इति यज्ञशब्देन सामानाधिकरण्यम्, तदपि यज्ञशब्दस्य यागवचनत्वादस्मत्पक्षस्य अबाधकम्॥३३॥ **प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्॥१२॥**

—:०:—

कोई कर्म नहीं है। (नैमित्तिकम्) प्रथम शब्द का प्रयोग नैमित्तिक है कर्म की द्वितीयादि आवृत्ति की अपेक्षा से प्रयुक्त है। (कर्तृसंयोगात्) कर्त्ता के यज्ञसंयोग को प्राप्त होकर जो ज्योतिष्टोम का प्रथम प्रयोग है, उसको प्रथम शब्द कहता है। (लिङ्गस्य) प्रतिषेध लक्षण लिङ्ग के (तन्निमित्तत्वात्) कर्तृ संयोग निमित्त होने से। अर्थात् एक कर्त्ता की जो अनेक बार कर्म में प्रवृत्ति होती है उसमें द्वितीयादि की अपेक्षा से प्राथम्य का व्यवहार लोक में होता है।

विशेष—कर्तृसंयोगात्—में पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् (महा० २।३।२८) इस वार्तिक से पञ्चमी है—**कर्तृसंयोगं प्राप्य नैमित्तिकं प्राथम्यमित्यर्थः।**

व्याख्या—**यह नहीं है—यह यज्ञ का वाद (कथन) है। चारों वेदों में 'प्रथम यज्ञ' इस नामवाला कोई यज्ञ नहीं है। यज्ञ का प्रथम प्रयोग तो होता है। कर्त्ता के संयोग से। द्वितीय आदि प्रयोग की अपेक्षा करके पूर्व को कहनेवाला प्रथम शब्द होता है। यह [प्रथमत्व] प्रयोग का उपपन्न होता है अर्थात् एक ही कर्म को अनेक बार करने पर पहले प्रयोग के लिये प्रथम शब्द का व्यवहार होता है। क्रतु का वाचक होने से प्रथम शब्द उपपन्न नहीं होता है। प्रयोग [द्वितीय तृतीय शब्द के] श्रवण से जाना जाता है। क्रतु के प्रयोग से संबद्ध उपपन्न होने से श्रुति बलवान् है, लक्षणा बलवान् नहीं है। इसलिये [ज्योतिष्टोम के] प्रथम प्रयोग में प्रवर्ग्य नहीं करना चाहिये।**

और जो यह कहा है कि ज्योतिष्टोम के साथ सामानाधिकरण्य होने से [प्रथमयज्ञ शब्द] उस (=ज्योतिष्टोम] का वाचक है। उसका परिहार करना—[प्रथमयज्ञ शब्द का] लक्षणा से सामानाधिकरण्य होता है। और जो 'प्रथमयज्ञ' में यज्ञ के साथ [प्रथम शब्द का] सामानाधिकरण्य है, वह भी यज्ञ शब्द के यागवाचक होने से हमारे पक्ष का बाधक नहीं है।

विवरण—चतुर्ष्वपि वेदेषु—श्रौत यज्ञ ऋक् यजुः साम संज्ञक वेदों से ही किया जाता है। ब्रह्मा तीनों वेदों से ब्रह्मत्व करता है। इस स्थिति में शबर स्वामी ने **चतुर्ष्वपि वेदेषु** क्यों लिखा?

[पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम् ॥१३॥]

दर्शपूर्णमासयोः सामामनन्ति—**तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः**[1] इति। तत्र सन्देहः—किं पौष्णं पेषणं प्रकृतौ, उत विकृताविति। किं प्राप्तम्? प्रकृताविति। कुतः? प्रकरणात्। ननु प्रकृतौ पूषणं न कस्यचिद् हविषो देवतां समामनन्तीति? उच्यते। प्राकृतीं काञ्चिद्देवतां पूषशब्दो वक्ष्यति॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः—

इसका सामाधान यह है कि ऋक् यजुः साम से तो मिलकर यज्ञ होता है, अथर्ववेद से अकेले से यज्ञ होता हे। आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र **सर्वैर्ब्रह्मा** (२१) की व्याख्या में हरदत्त लिखता है—**वेदत्रयेण ब्रह्मत्वं सकलं भवति नैकेन। एकेनाप्याथर्वणवेदेन इति शेषः। इदमर्थं हि 'स त्रिभि.'** (आप० परि० ३) **इति वचनं, न चतुर्थवेदप्रतिषेधार्थमित्युक्तम्** (द्र० दर्शपौर्णमासप्रकाश, आनन्दाश्रम पूना, पृष्ठ ६९)। अर्थात् तीनों वेदों से मिलकर ब्रह्मत्व होता है, एक एक से नहीं। अथर्ववेद अकेले से भी ब्रह्मत्व होता है, यह शेष जानना चाहिये। इसीलिये **स त्रिभिः** सूत्र चतुर्थवेद के प्रतिषेध के लिये नहीं है, यह कह दिया है। गोपथ ब्राह्मण में जहां भी ब्रह्मत्व का निर्देश है वहां अथर्वाङ्गिरस (=अथर्ववेद) से तथा अथर्वाङ्गिरसविदों से ही कहा है (द्र० गो० ब्रा० १।३।२, १।२।२४; १।३।१)।

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ते हैं—तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः' (= **इसलिये पूषा पिसे हुए भागवाला है क्योंकि वह दांत रहित है**)। **इसमें सन्देह है—क्या पूषा देवता सम्बन्धी पेषण कर्म प्रकृति में है अथवा विकृति में। क्या प्राप्त होता है? प्रकृति याग में पेषण है। किस हेतु से? प्रकरण से। (आक्षेप) प्रकृति में किसी हवि का देवता पूषा को नहीं पढ़ते है। (समाधान) प्रकृति में विद्यमान किसी देवता को पूषा शब्द कहेगा। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

---

१. द्र०—तै० सं० २।६।८।५॥ अत्र अन्त्यं 'सः' पदं नास्ति। उत्तरत्र (मी० ३।३।४२-भाष्ये) पुनरुद्ध्रियमाणे 'सः' इति न पठ्यते।

१. **'अदन्तकोहि सः'**—भारतीय मनीषियों ने राजनीतिक एवं सामाजिक अनेक तत्त्वों का स्पष्टीकरण बड़े विचित्र प्रकार से किया है। पूषा शब्द का अर्थ है पुष्टि करनेवाला देव। इस देव को अदन्तक=दांत रहित कहकर इस तत्त्व का उपदेश किया है कि जो भी व्यक्ति प्रजा की रक्षा के निमित्त हैं, चाहे वे मन्त्री आदि होवें, संसद् के सदस्य होवें तथा मन्त्रालय के अधिकारी से लेकर साधारण जितने भी राजकर्मचारी हैं उन सब को अदन्तक अर्थात् स्वार्थरहित होना चाहिये। यदि वे ही प्रजा को विविध प्रकार से खाने लगेंगे तो प्रजा की पुष्टि कैसे हो सकती है? इस अर्थवाला लौकिक मुहावरा है—'जब रक्षक ही भक्षक होवे तो प्रभु ही उसका मालिक है'। इसी प्रकार पौराणिक देवताओं के वाहन की कल्पना भी अपने आप में बेजोड़ है। लक्ष्मी का

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात् प्रकृतौ ॥३४॥ (सि०)

यत्र पौष्णं हविरस्ति, तत्र तस्य पेषणं विधातुं शक्यम् । न च प्रकृतौ पूषास्ति । तस्मादुत्कृष्टव्यं पेषणमिति । यदुक्तम्—काञ्चिद्देवतां पूषशब्दो वक्ष्यतीति । ब्रूयाद्, यद्यन्यत्रापि मुख्यः पूषा न स्यात् । नन्वन्यत्र क्रियमाणे प्रकरणमुपरुद्ध्येत । उपरुद्ध्यताम् । वाक्यं हि अस्योपरोधकम् । अथ वा नैवात्र सन्देहः । एवमेव प्राप्तमुच्यते । पौष्णं पेषणं

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात् प्रकृतौ ॥३४॥

सूत्रार्थः—(पौष्णम्) पूषा देवता सम्बन्धी (पेषणम्) हवि का पीसना कर्म (**विकृतौ**) विकृति याग में (प्रतीयेत) जाने, (प्रकृतौ) प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास में (अचोदनात्) पूषा देवता सम्बन्धी हवि के न होने से ।

व्याख्या—**जहां पूषा देवता सम्बन्धी** हवि विहित है, **वहां उस हवि के पेषण का विधान किया जा सकता है । प्रकृति दर्शपौर्णमास** में पूजा देवता **नहीं है । इसलिये पेषण कर्म का उत्कर्ष करना चाहिये । जो यह** कहा है कि—'[प्रकृति की] **किसी देवता को पूषा शब्द कहेगा'** । **हां,[पूषा प्रकृतिगत किसी देवता को]** कहे, यदि **अन्यत्र** भी **मुख्य पूषा** देवता न होवे । (आक्षेप) '[**पेषण को] अन्यत्र करने** (=ले जाने) में **प्रकरण** का **उपरोध** (=बाध) होवे' । (समाधान) [**प्रकरण का] बाध** होवे, **इस प्रकरण का बाधक वाक्य** ही है । **अथवा यहां सन्देह ही नहीं है ।**

वाहन उल्लू कहा गया है । इसका तात्पर्य है—जिसे लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, लक्ष्मी जिस व्यक्ति पर सवार हो जाती है, वह उल्लू बन जाता है । इसी का व्रजभाषा के कवि विहारी ने अत्यन्त मनोहारी **वर्णन** किया **है**—

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय
एके खायत बौराय है, दूजे पावत बौराय ॥

कनक = धतूरे **से** कनक=सुवर्ण आदि धन सौ गुना मादक और पागल बनानेवाला है । **एक** =धतूरे को तो खाकर मनुष्य पागल होता है, किन्तु दूसरे=धन को पाकर ही पागल हो जाता है ।

वैदिक ग्रन्थों में भी ऐश्वर्य के स्वामी 'भग' देवता को अन्धा कहा **है—तस्मादाहुरन्धो भगः** (कौषीतकि—**ब्रा०** ३५।१३ गोपथ २।१।२) ।

गणेश का वाहन चूहा माना गया **है । गण=समुदाय का स्वामी यदि अपने गण में चूहों** के समान कुतर-कुतर करनेवालों पर सवार नहीं होगा, उन्हें दबाकर नहीं रखेगा, तो उसका गणेशत्व नष्ट हो जायेगा । लोकतन्त्र में असन्तुष्ट विधायक ही कुतर=काट करनेवाले **चूहे हैं । यदि उनकी प्रवृत्ति** को बढ़ने दिया जाय, तो लोकतन्त्र तो क्या कोई समुदाय भी **स्थिर नहीं रह सकता । अनिश्चित उथल-पुथल मची** ही रहेगी । इसी प्रकार अन्य विषयों पर भी **गम्भीर विचार किया** जाये, तो भारतीय मनीषियों की विचित्र प्रतिभा उजागर होगी ।

विकृतौ, न प्रकृताविति। नास्ति पूष्णः प्रकृतौ चोदनेति। किमर्थं प्राप्तमुच्यते ? उत्तरत्र कथा वर्त्तिष्यते ॥३४॥ इति **पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाऽधिकरणम् ॥१३॥**

—:o:—

[पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाऽधिकरणम् ॥१४॥]

पौष्णं पेषणं प्रकृतौ श्रूयमाणं विकृतावित्युक्तम्। तत्र सन्देहः—किं चरौ पशौ पुरोडाशे च, उत चरावेवेति? किं तावत् प्राप्तम् ?

तत्सर्वार्थमविशेषात्॥३५॥(पू०)

तत् सर्वत्र स्याच्चरौ पशौ पुरोडाशे च। कुतः ? अविशेषात्। न कश्चिद्विशेष आश्रीयते। तस्मात् सर्वत्रेति ॥३५॥

इसी प्रकार प्राप्त विषय को ही [इस अधिकरण में] कहा है। पूषा देवता सम्बन्धी पेषण विकृति में होता है, प्रकृति में नहीं होता है। पूषा देवता का प्रकृति में विधान नहीं है। प्राप्त विषय को ही क्यों कहा है ? [पूषा देवता के सम्बन्ध में] आगे कथन होगा।

विवरण—उत्तरत्र कथा वर्तिष्यते—इस विषय में न्यायमालाविस्तर में कहा है—सम्तर्दन और प्रतिपद के समान ही [पेषण का विकृति में निवेश] सिद्ध है, तथापि अगले अधिकरण में इसी पेषण-विषय में विशेष विचार करेंगे ॥३४॥

—:o:—

व्याख्या—**पूषा देवता सम्बन्धी प्रकृति में श्रूयमाण पेषण विकृति में उत्कृष्ट होता है, यह [पूर्व अधिकरण में] कहा है। इसमें सन्देह है—[यह पेषण] क्या चरु पशु और पुरोडाश दोनों में होता है, अथवा चरु में ही ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—'चरु' शब्द का अर्थ है—मांड़ विना निकाले पके हुए विशद (=खिले हुए) चावल। चरु के पेषण से अभिप्राय है—कच्चे चावलों को पीस कर पकाना। पशु से अभिप्राय है—पशुहिंसावादी याज्ञिकों द्वारा प्रदीयमान पशु के हृदय आदि अङ्गों का पीसना।

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥३५॥

सूत्रार्थः—(तत्) वह पूषा देवता सम्बन्धी हवि का पेषण (सर्वार्थम्) सभी पूषा देवता-वाली हवियों के लिये होवे, (अविशेषात्) सामान्यरूप से पौष्ण हवि के पेषण का विधान होने से।

व्याख्या—**वह पेषण चरु पशु और पुरोडाश सब में होवे। किस हेतु से ? विशेष का निर्देश न होने से। किसी विशेष हवि का आश्रयण नहीं किया है। इसलिये सर्वत्र=सब हवियों में पेषण होवे ॥३५॥**

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥(सि०)

चरौ पौष्णं पेषणं विनियुज्येत। पुरोडाशे तावत् पेषणमर्थादेव प्राप्नोति। नैवान्यथा पुरोडाशो भवति। तदर्थं तावन्न वचनम्। पशौ च न स्यात्। हृदयादिषु पिष्यमाणेषु तेषामाकारविनाशः स्यात्। तत्र को दोषः? 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' इति न हृदयादवदायिष्यते। तथान्यदप्यवदानं न यथाश्रुतादवदास्यते। 'ननु शक्यते पिष्टेभ्योऽपि हृदयादिभ्योऽवदातुम्'? नेति ब्रूमः। आकारा हृदयादयो, न मांसानि। उक्तमेतद्—आकृतिः शब्दार्थ[1] इति। यद्यपि पुनस्तदाकृतिकः क्रियते, तथाप्यस्योत्सादनप्रदेशं[2] प्रति मुह्येयुः। तस्माच्चरौ पौष्णं पेषणं भविष्यतीत्येवमर्थं वचनम् ॥३६॥

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥

सूत्रार्थः—(वा) शब्द 'एव' अर्थवाला है। (चरौ वा) चरु में ही पेषण होवे। (पुरोडाशे) पुरोडाश में (अर्थोक्तम्) प्रयोजनवश पेषण उक्त है, अर्थात् बिना चावल वा व्रीहि के पीसे पुरोडाश निष्पन्न ही नहीं होता है। (पशौ) पशु के हृदयादि अङ्गों में (अर्थविप्रतिषेधात्) अर्थ का विरोध होने से (न स्यात्) पेषण न होवे। अन्यथा पेषण से हृदय आदि के आकार का नाश हो जाने से 'हृदय से अवदान करता है' आदि विधियां उपपन्न नहीं होंगी।

व्याख्या—चरु में पूषा देवता सम्बन्धी पेषण सम्बद्ध होता है। पुरोडाश में तो पेषण अर्थ (=प्रयोजन) से ही प्राप्त है। बिना [चावल वा यव का पेषण किये] पुरोडाश ही निष्पन्न नहीं होता है। इसलिये पुरोडाश के लिये यह वचन नहीं है। और पशु में भी पेषण न होवे। हृदय आदि के पीस देने पर उनके आकार का विनाश हो जाता है। उस (=आकार के विनाश) में क्या दोष है? हृदयस्याऽग्रेऽवद्यति (=पहले हृदय से अवदान=भाग ग्रहण करता है) से हृदय से अवदान नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य (=हृदय से भिन्न) अवदान भी यथाश्रुत [उन-उन अङ्गों से] नहीं होंगे। (आक्षेप) 'पीसे गये हृदय आदि से भी अवदान किया जा सकता है'। (समाधान) नहीं किया जा सकता, ऐसा हम कहते हैं। हृदय आदि मांस नहीं हैं, आकाररूप है। यह कह चुके हैं कि—'आकृति शब्द का अर्थ है'। यद्यपि पीसने के पश्चात् उसे हृदय आदि आकारवाला बनाया जा सकता है, तथापि उत्साद प्रदेश, जहां से पशु से हृदयादि अंग पृथक् किया गया है, उस के प्रति [अवदानकर्त्ता] मोह को प्राप्त होंगे। इसलिये चरु में ही पूषा देवता सम्बन्धी पेषण होगा। इसलिये यह वचन है ॥३६॥

विवरण उत्सादनप्रदेशं प्रति मुह्येयुः—भट्टकुमारिल ने लिखा है—**उत्सादनदेशादवद्यति**[2]

---

१. मी० १।३। अधि० ११॥ आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। मी० १।३।३३॥

२. द्र०—**उत्सादनदेशादवद्यति** इति भट्टकुमारिलेनोद्धृतं वचनम् ॥

चरावपीति चेत् ॥३७॥

इति चेत् पश्यति भवान्—अर्थविप्रतिषेधान्न पश्वर्थमिति। ननु चरावप्यर्थविप्रतिषेधः। विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दमुपचरन्ति। पिष्यमाणो हि पिष्टकं यवागूर्वा स्यात्, खलिर्वा ॥३७॥

न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥

(अनुपलब्धमूल) = 'जहां से हृदयादि भाग को पशु से काटकर पृथक् किया है, उस भाग से अवदान करता है' विधि उपपन्न नहीं होगी। पीसे गये हृदय आदि के किस भाग से पशु से काटा गया है, यह ज्ञात नहीं होगा।

मीमांसादर्शन में बहुत्र पशुयाग का विधान श्रुत है। पशुयाग वैदिक नहीं है, और आरम्भ काल में यज्ञों में पशुओं का बध नहीं होता था, यह हम **'श्रौतयज्ञ-मीमांसा'** निबन्ध (प्रथम भाग में मुद्रित) में सुस्पष्ट प्रतिपादन कर चुके हैं। फिर भी इस स्थान में स्थान-स्थान पर जो पशुयागों का वर्णन मिलता है, उसके सम्बन्ध में हमारा विचार है कि जिस काल में अध्वर=हिंसारहित यज्ञों में भी पशु का संज्ञपन आरम्भ हुआ, और पशुयज्ञानुयायी याज्ञिकों ने जिस विधि का निर्माण किया, उसी की विवेचना मीमांसासूत्रों में है। दूसरे शब्दों में जैसे चरक आदि चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में मांसादि का विधान मांसाहारियों के लिये है, निरामिषों को मांस खिलाने में उनका तात्पर्य नहीं है, इसी प्रकार मीमांसासूत्रों में किया गया पशुयाग सम्बन्धी विवेचन पशुयाग करने वाले याज्ञिकों की दृष्टि से है, यज्ञों में पशुयाग के विधान में इसका तात्पर्य है नहीं है ॥३६॥

चरावपीति चेत् ॥३७॥

सूत्रार्थः—(चरौ) चरु में (अपि) भी [अर्थविप्रतिषेधात्] चरु शब्द के अर्थ का विरोध होने से [न स्यात्] पेषण न होवे, ऐसा होवे तो।

इसका तात्पर्य है कि चरु नाम विना मांड निकाले पकाये गये अलग-अलग खिले हुए चावलों का है। यदि चरु द्रव्य का पेषण करके पकाया जायेगा, तो चरु शब्दार्थ का विरोध होगा।

व्याख्या—यदि आप यह समझते हैं कि—अर्थ का विरोध होने से पशु के लिये पेषण नहीं है। तो चरु में भी अर्थ का विरोध होता है। ओदन (=पके चावल) में चरु शब्द का व्यवहार करते हैं। पीसा गया आटा [पकाने पर] यवागू अथवा खलि (=खल) होगा ॥३७॥

न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥

सूत्रार्थः—चरु के पेषण में (न) विरोध नहीं होगा, (पक्तिनामत्वात्) पक्ति=पाक-विशेष का चरुनाम होने से, अर्थात् जिसमें से मांड न निकाला जाये, और भीतर की गरमी (=भाफ) से पक जाये, ऐसे पाक को चरु कहते हैं।

अत्रोच्यते – सत्यं विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दः प्रयुज्यते, विशदसिद्धश्चरुर्दीयते इति। न त्वस्य विशदसिद्धिर्निमित्तम्। यदि विशदसिद्धिर्निमित्तं स्याद्, न पिष्टसिद्धे प्रयुज्येत। तत्रापि हि प्रयुज्यते—पिष्टकचरुः साध्यते इति। अतोऽन्यदेतयोः सामान्यम्। तन्निमित्तम्। तदेतदुच्यते—न, पक्तिनामत्वादिति। न चरौ विप्रतिषेधः। कथम्? पक्तिनामत्वात्। पक्तिनामैतत्—चरुरिति। अनवस्रावितान्तरुष्मपाकेन अभिनिर्वर्त्यस्य भवति चरुशब्दो वाचकः। तेन पिष्टे ओदने विशदौदने च प्रयोक्तारो भवन्ति चरुरिति। पक्षोक्तमेव प्रयोजनम्। पूर्वपक्षे पशावपि पेषणम्। सिद्धान्ते चरावेव ॥३८॥ इति **पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाऽधिकरणम्** ॥१४॥

—:०:—

[पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाऽधिकरणम् ॥१५॥]

पौष्णं पेषणं विकृतौ भवति, चरावेवेत्युक्तम्। अथेदानीं सन्दिह्यते—किमेकदेवत्ये पौष्णे एतद्भवति, उत द्विदेवत्येऽपीति? किं द्विदेवत्य उदाहरणम्? राजसूये उत्तरे त्रिसंयुक्ते—**सौमापौष्ण एकादशकपाले**[1] **ऐन्द्रापौष्णश्चरुः [पौष्णश्चरुः]**[2] **श्यावो**

व्याख्या—इस विषय में कहते हैं—यह सत्य है कि विशदसिद्ध (=पककर खिले हुए) **ओदन में चरु शब्द** प्रयुक्त होता है, और विशदसिद्ध चरु दिया जाता है। किन्तु इस चरु के प्रयोग में **विशदसिद्धि** (=खिले हुए पकना) निमित्त नहीं है। यदि विशदसिद्धि ही चरु शब्द के प्रयोग में **निमित्त होवे**, तो पीस कर पकाये गये में चरु शब्द का प्रयोग न होवे। वहां (=पीस कर पकाये गये में) भी चरु शब्द प्रयुक्त होता है—पिसे हुए (=आटे) का चरु सिद्ध किया जाता है। इस लिये दोनों (=विशदसिद्ध ओदन और पिष्टक चरु) में अन्य समानता है। वह [दोनों में चरु शब्द के प्रयोग में] निमित्त है। उस (=सामान्य) को कहते हैं—न पक्तिनामत्वात्। चरु [के पेषण] में विरोध नहीं है। किस हेतु से? पाकविशेष का नाम होने से। पाकविशेष का नाम चरु है। बिना माण्ड निकाले भीतर की गरमी के पाक से सिद्ध हुए द्रव्य का चरु शब्द वाचक होता है। इससे पीसे हुए में, और विशदओदन में चरु शब्द का प्रयोग करनेवाले होते हैं। प्रयोजन स्वपक्ष में उक्त ही है। पूर्वपक्ष में पशु में भी पेषण करना चाहिये। सिद्धान्त में चरु में ही पेषण होता है ॥३८॥

—:०:—

व्याख्या—पूषा देवता सम्बन्धी पेषण विकृति में होता है, और वह भी चरु में ही, यह कह चुके। अब सन्देह होता है—क्या एकदेवतावाले पूषा देवता सम्बन्धी हवि में यह पेषण होता है, अथवा दो देवतावाले में भी? दो देवतावाले हवि का क्या उदाहरण है? राजसूय में उत्तर=द्वितीय त्रिसंयुक्त कर्म में—सोमापौष्ण एकादशकपाल ऐन्द्रापौष्णश्चरुः पौष्णश्चरुः[2] श्यावो

---

१. सर्वेषु मुद्रितग्रन्थेषु 'सोमापौष्णे एकादशकपाले' इत्यपपाठः।

२. अयं पाठः समानाक्षरसंयोगान्मुद्रणे लेखने वा नष्टः स्यात्।

दक्षिणा[1] इति । तत्र ऐन्द्रापौष्ण उदाहरणम् । किं प्राप्तम् ?

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥ (उ०)

एकदेवत्यस्यैव पेषणमिति । केवलसंयोगाद् यथा चतुर्धाकरणे ॥३९॥

धर्म्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

दक्षिणा (=सोम और पूषा देवतावाला एकादशकपाल पुरोडाश, इन्द्र और पूषा देवतावाला चरु, तथा पूषा देवतावाला चरु, श्याव=धूम्रवर्ण गौ दक्षिणा होती है) । इस में ऐन्द्रापौष्णश्चरुः उदाहृण है । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—**उत्तरे त्रिसंयुक्ते**—हवित्रययुक्त कर्म का त्रिसंयुक्त नाम है । यथा—**श्वोभूते त्रिसंयुक्तम्** (मानव श्रौत ९।१।३२), **त्रिसंयुक्तेषु** (कात्या० श्रौत १५।२।११) । ये तीन हविवाले तीन कर्म हैं, क्योंकि तीनों की पृथक्-पृथक् दक्षिणा विहित है । त्रिसंयुक्त कर्म के उत्तर अर्थात् द्वितीय कर्म में । उत्तर त्रिसंयुक्त कर्म का विधायक वचन पढ़ा है—**सौमापौष्ण एकादशकपालः** आदि । **श्यावो दक्षिणा**—श्याव धूम्रवर्ण का नाम है और श्याम कृष्ण को कहते हैं । वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकरण में पाठभेद होते हुए भी **श्यामो दक्षिणा** सार्वत्रिक पाठ है । अतः यह भी संभावना हो सकती है कि भाष्य में पाठभ्रष्ट हो गया होवे । **अलिङ्गग्रहणे गौः सर्वत्र** (कात्या० श्रौत १५। २।१३) से त्रिसंयुक्त कर्म में जातिविशेष के निर्देश के अभाव में सर्वत्र गौ का ग्रहण होता है ।इस वचन से श्याव वा श्याम गौ दक्षिणा विहित है । गौ शब्द के उभयलिङ्ग होने से श्यावः अथवा श्यामः पुंल्लिङ्ग का अन्वय जानना चाहिये ।

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥

सूत्रार्थः—पौष्ण पेषण (एकस्मिन्) एक=अकेले पूषा देवतावाले चरु में होता है । (एक-संयोगात्) '**पूषा प्रपिष्टभागः**' में अकेले पूषादेवता का संयोग होने से ।

व्याख्या—अकेले पूषा देवतावाले चरु का ही पेषण होता है । अकेले पूषा देवता का संयोग होने से । जैसे चतुर्धाकरण में ।

विवरण—**यथा चतुर्धाकरणे**—आग्नेय का चतुर्धाकरण कवल अग्निदेवतावाले पुरोडाश में ही होता है । अग्नीषोमीय द्विदेवत्य में नहीं होता है । इस विषय का निरूपण पूर्व मीमांसा ३।१, अधि० १५, सूत्र २६-२७ में कर चुके हैं (द्र०—भाग २, पृष्ठ ७०३-७०७) ॥३९॥

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

सूत्रार्थः—(धर्मविप्रतिषेधात्) पूषा के पेषण और अन्य देवता के अपेषणरूप धर्म का

---

१. मै०श्रा० संहितायाम् (२।६।४) '**श्यामो दक्षिणा**' पाठभेदेनोपलभ्यते । इत्थमेव मानव-श्रौतसूत्रे (९।१।१।३२) दृश्यते । श्यावो धूम्रवर्ण उच्यते, श्यामश्च कृष्णः । वैदिकग्रन्थेषु **श्यामो दक्षिणा** इत्येवोपलम्भाच्छाबरभाष्ये पाठभ्रंशोऽपि संभाव्यते ।

द्विदेवत्ये विप्रतिषिद्ध्येत धर्म्मः—पूष्णः पेषणं, नेतरस्य। तत्र यदि पूष्णो भागः पिष्येत, अपिष्ट इतरस्य स्यात्, तत्र विषमः पाको भवेत्। पाकनिमित्तश्च चरुशब्दः, स विप्रतिषिद्ध्येत। अथ अविरोधं मन्यमाना अपरस्यापि भागं पिष्युः, भागसंमोहः स्यात्। तत्र को दोषः? अन्यस्य भागोऽन्यस्मै अवदीयेत। तथा अयथाश्रुतं क्रियेत। तस्मादप्येकदेवत्ये पेषणमिति ॥४०॥

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥(पू०)

देवतानिमित्तमेतत् पेषणं श्रूयते--पूषा प्रपिष्टभागः कर्त्तव्य इति। स च द्विदेवत्ये-ऽपि भागे पिष्यमाणे प्रपिष्टभागः कृतो भवति। न यथा चतुर्धाकरणे। तत्र हि तद्धितो

विरोध होने से (च) भी पौष्ण पेषण केवल पूषा देवता सम्बन्धी चरु में होता है। दो देवतावाले ऐन्द्रापौष्ण चरु में नहीं होता है।

व्याख्या—दो देवतावाले चरु में धर्म का विरोध होवे—पूषा का पेषण धर्म है, अन्य का पेषण धर्म नहीं। यदि वहां पूषा देवता का भाग पीसा जाये, और अन्य देवता का बिना पीसा भाग होवे, तो वहां पाक विषय होवे, अर्थात् पाक में वैषम्य होवे। जो पाक की निमित्ततावाला चरु शब्द है, वह विरुद्ध होवे। और यदि अविरोध चाहते हुए दूसरे देवता के भाग को भी पीस देवें, तो भाग में (कौनसा भाग किस देवता का है, इसमें) संमोह=अज्ञान होवे। उसमें क्या दोष होगा? अन्य का भाग अन्य के लिये अवदान किया जायेगा। इस प्रकार होने पर अयथाश्रुत (=जैसा नहीं सुना=कहा गया है वैसा) किया जायेगा। इसलिये भी एकदेवतावाले चरु में पेषण होता है।

विवरण—**विषमः पाकः**—पीसे हुए द्रव्य के गलने के काल में बिना पीसे चावल कच्चे ही रहेंगे। और यदि चावल के पाक तक पकाया जाये, तो पीसा हुआ भाग विलीन हो जायेगा=घुल जायेगा। यह पाक का वैषम्य है। **अन्यस्य भागोऽन्यस्मै अवदीयेत**—पूषा के साथ इन्द्रदेवता के भाग को पीसा जाये, तो दोनों देवताओं के भाग के मिल जाने से अवदानकाल में अन्य का भाग अन्य के लिये गृहीत होगा। ४०॥

अपि वा सद्वितीये स्याद् देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष के प्रतिषेध में है, अर्थात् अकेले पूषा देवतावाले चरु में ही पेषण नहीं होता है। किन्तु (सद्वितीये) दूसरा देवता जिसमें साथ है उस चरु में (अपि) भी पेषण (स्यात्) होवे। (देवतानिमित्तत्वात्) पूषा देवता के निमित्त से पेषण का कथन होने से।

व्याख्या—[पूषा] देवता के निमित्त से यह पेषण सुना जाता है—पूषा देवता को पिसे हुए भागवाला करना चाहिये। वह पूषा देवता दो देवतावाले भाग में भी पीसे जाने पर पिसे हुए भागवाला किया जाता है। जैसे चतुर्धाकरण में दो देवतावाले पुरोडाश में चतुर्धाकरण नहीं

निरपेक्षस्य भवति,न सद्वितीयस्य। इन्द्रपीत इति समासोऽपि निरपेक्षस्य, न सद्वितीयस्य। इह तु प्रपिष्टशब्दस्य भागशब्देन सहान्यपदार्थो बहुव्रीहिः समासः। एषोऽपि समर्थयोरेव, न त्वत्र द्विदेवत्ये कश्चिदेवञ्जातीयको दोषः। तस्मादेकदेवत्ये द्विदेवत्येऽपि वा चरावस्य भागः पेष्टव्य एव ॥४१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४२॥ (पू०)

लिङ्गमप्येवं भवति तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि[1] इति, देवतानिमित्तं पेषणमिति स्तुतिर्दर्शयति। तथा सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः[2] इति नेमपिष्टतां दर्शयति। तथा—अर्द्धं पिष्टमर्द्धमपिष्टं भवति, द्विदेवत्यत्वाय[3] इति देवतानिमित्तमेव पेषणं दर्शयति ॥४२॥

वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात् द्विचरावपेषणं भवति ॥४३॥ (पू०)

होता, तद्वत् यहां नहीं है। वहां (=आग्नेयं चतुर्धा करोति में) तद्धित प्रत्यय निरपेक्ष (=अन्य देवता की अपेक्षा न रखनेवाले) अग्नि से होता है, दूसरे के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अग्नि से नहीं होता है। इन्द्रपीतस्य में समास भी निरपेक्ष इन्द्र का होता है, दूसरे के साथ सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्र के साथ नहीं होता है। यहां तो प्रपिष्ट शब्द का भाग शब्द के साथ अन्यपदार्थ बहुव्रीहि समास है—प्रपिष्टो भागो यस्य=पिसा हुआ भाग है जिसका, ऐसा पूषा देवता]। यह समास भी समर्थ पदों का ही होता है, परन्तु यहां दो देवतावाले चरु में इस प्रकार का कोई दोष नहीं है जिससे समास न होवे। इसलिये अकेले अथवा दूसरे के साथ पूषा देवतावाले चरु में इस पूषा का भाग पीसना ही चाहिये ॥४१॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४२॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्, लिङ्ग के दर्शन से (च) भी द्विदेवत्य चरु में पेषण करना चाहिये।

व्याख्या—लिङ्ग भी इसी प्रकार का होता है—तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि (=इसलिये पूषा पिसे हुए भागवाला है, क्योंकि वह दांतों से रहित है), यहां [दन्तरहितत्व लिङ्ग] देवता के निमित्त से पेषण में स्तुति दर्शाता है। तथा सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः (=पशु की कामनावाला सोम और पूषा देवतावाले चरु को आधा पीसे अर्थात् दले) यह अर्धपेषणता को दिखलाता है। तथा अर्धं पिष्टमर्धमपिष्टं भवति द्विदेवत्यत्वाय (=आधा पीसना चाहिये, आधा विना पिसा होता है दो देवतावाले के लिये), यह देवतानिमित्तक ही पेषण को दर्शाता है॥४२॥

वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति......द्विचरावपेषणं भवति ॥४३॥

सूत्रार्थः—[सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः=पशु की कामनावाला सोम और

---

१. तै० सं० २।६।८।५। पूर्वत्र (मी०३।३।३४ भाष्ये) उद्धृतपाठे 'हि सः' इति पाठः।
२. मै० सं० २।१।४॥ ३. अनुपलब्धमूलम्

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । नेमपिष्टं भवतीति कस्मादेतद् न वचनमिति ? उच्यते । यदि वचनमेतद् भवेत्, सौमापौष्णमात्रमनूद्य सर्वत्र पेषणं विदध्याच्चरौ पशौ पुरोडाशे च । तत्र सौमापौष्णस्य चरुसम्बन्धे नेमपिष्टसम्बन्धे चोभयस्मिन् विधीयमाने वाक्यं भिद्येत । तस्माद् यो यः सौमापौष्णः, तत्र तत्र नेमपिष्टता । तं प्रति सौमापौष्णमात्रं प्रति शास्त्रवत्त्वमर्द्धपेषणस्य । पुरोडाशेऽर्थात् सर्वपेषणे प्राप्ते, अर्थाभावाच्च पशौ चरौ वा अपेषणे प्राप्ते वचनमिदं भवेत् । तत्र चरुशब्दो न विवक्षितस्वार्थः स्यात्, प्रदर्शनार्थः कल्प्येत । पेषणानुवादपक्षे पुनर्नैष विरोधो भवति । तस्माद् भवत्येव लिङ्गम् । 'ननु अङ्गनाशभयात् पशोरपेषणम् ।' नेति ब्रूमः । अर्द्धपेषणे न अङ्गनाशः । अपिष्टादवदास्यते । पेषणञ्चादृष्टार्थम् ॥४३॥

पूषा देवतावाले चरु को आधा पीसे अर्थात् दले; वचन दो देवतावाले चरु के पेषण में विधायक होवे ।] (वचनात्) नेमपिष्ट को विधि मानने पर, इस वचन से (सर्वपेषणम्) सब हवियों=चरु पशु और पुरोडाश में सब का पेषण होवे । (तं प्रति) सौमापौष्ण हवि के प्रति (शास्त्रवत्त्वात्) शास्त्रवत्ता होने से,अर्थात् सोम और पूषा देवता सम्बन्धी सब हवियों के प्रति नेमपिष्टता का विधान होने से (अर्थाभावात्) चरु शब्द के स्व अर्थ के विवक्षित न होने से, वह हविमात्र का लक्षक होवे । इससे **नेमपिष्टं भवति** यह दो देवतावाले चरु में पेषण नहीं होता है, इसका लिङ्ग निदर्शक है ।

व्याख्या—यह सूत्र कुछ पदों को मन में रखकर पढ़ा है [वे पद हैं—सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः]। **नेमपिष्टं भवति (=आधा पिसा होता है) यह वचन=विधि क्यों नहीं होवे ? इस विषय में कहते हैं। यदि** [नेमपिष्टं भवति] **यह विधि होवे, तो सोम और पूषा देवता सम्बन्धी हवि का अनुवाद करके सर्वत्र पेषण का विधान करे चरु पशु और पुरोडाश में [अर्थात् जो कोई भी चरु पशु और पुरोडाश हवि सोम और पूषा सम्बन्धी है, वह सब अर्धपिष्ट होवे] । ऐसा मानने पर सौमापौष्ण का चरु के साथ और नेमपिष्ट के साथ अर्थात् दोनों के साथ सम्बन्ध का विधान करने पर वाक्यभेद होवे । इसलिये जो-जो सोम और पूषा सम्बन्धी हवि है, वहां-वहां नेमपिष्टता है । उसके प्रति=सौमापौष्ण हविमात्र के प्रति अर्ध-पेषण की शास्त्रवत्ता होवे । पुरोडाश में प्रयोजनवश सर्वपेषण (=पूरा पेषण) प्राप्त होने पर, तथा पशु और चरु में अर्थाभाव से अपेषण(=पेषणाभाव)प्राप्त होने पर,यह(=**सौमापौष्णं आदि**)वचन होवे । इस अभिप्राय में चरु शब्द अविवक्षित स्वार्थवाला होवे, तथा हविमात्र के प्रदर्शन के लिये कल्पित होवे [अर्थात् चरु शब्द अपने अर्थ को छोड़कर हविमात्र को लक्षित करनेवाला होवे] । पेषण के अनुवादपक्ष में [अर्थात् चरु की पेषणता को उद्देश करके नेमपिष्टता के विधान में] कोई विरोध नहीं होता है । इस प्रकार [यह** नेमपिष्टं भवति **वचन द्विदेवत्य चरु के पेषण में] लिङ्ग ही होता है ।** (आक्षेप) **[पशु के अङ्गों के आधे पेषण में] अङ्ग के नाश से भय से पशु में पेषण न होवे ।** (समाधान) **ऐसा नहीं है, यह हम कहते हैं । आधा पीसने पर अङ्ग का नाश नहीं होता है । [आधा पीसने पर]विना पिसे भाग से अवदान करेंगे । पेषण अदृष्टार्थ होगा ॥४३॥**

एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥४४॥ (सि०)

एकदेवत्ये वा पौष्णं पेषणं भवितुमर्हति, न ऐन्द्रापौष्णे। कुतः ? नैष देवताधर्मो विधीयते—पूष्णो भागः पिष्ट उपयोक्तव्य इति। कस्य तर्हि ? अर्थस्य धर्म्मः। कः पुनरर्थः? यागः। 'कथमवगम्यते न देवताधर्म्म इति' ? उच्यते—न हि तस्या भागोऽस्ति। 'ननु यद् देवतायै दीयते, तत् तस्या भागो भवति'। उच्यते—एतद् हि देवतामुद्दिश्य त्यज्यते। न च त्यागमात्रेण देवतास्वत्वं भवति। परिग्रहणेन हि स्वस्वामिसम्बन्ध आपद्यते। न च परिगृहीतं देवतयेति किञ्चन प्रमाणमस्ति। यच्च यं भजते, स तस्य भागः। न च हविर्देवता भजते। तस्मान्नास्ति पूष्णो भागः। अथापि कथञ्चिद् भवेद् भागः, तथापि न देवताया धर्म्मः पेषणं भवितुमर्हति। निष्प्रयोजनो हि तथा स्याद्, अयागधर्म्मत्वात्।

एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वात्……अचोदितत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् द्विदेवत्य ऐन्द्रापौष्ण चरुरूप हवि में पेषण नहीं होता है। (एकस्मिन्) एक=अकेले पूषा देवतावाले चरु में पेषण होता है, (अर्थधर्मत्वात्) अर्थ=याग का धर्म होने से। (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे इन्द्र और अग्नि देवतावाले पुरोडाश में चतुर्धाकरण नहीं होता हैं, तद्वत् (उभयोः) इन्द्र और पूषा के चरु में भी पेषण (न) नहीं (स्यात्) होवे। इन्द्र और पूषा दोनों देवतावाले चरु में पेषण के (अचोदितत्वात्) विहित न होने से।

व्याख्या—**एकदेवतावाले=पूषा देवतावाले चरु में ही पेषण हो सकता है, इन्द्र और पूषा दो देवतावाले चरु में पेषण नहीं हो सकता है। किस हेतु से ? यह 'प्रपिष्टभागः' देवता के धर्म का विधान नहीं है—पूषा का भाग पिसा हुआ उपयोगार्ह है। तो किसका धर्म है ? अर्थ का धर्म है। अर्थ क्या है ? याग।** (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि [पेषण] **देवता का धर्म नहीं है ?** (समाधान) **उस पूषा देवता का भाग चरु नहीं है।** (आक्षेप) **जो देवता को दिया जाता है, वह उस देवता भाग होता है।** (समाधान) यह भी **देवता को उद्देश्य करके छोड़ा जाता है। केवल त्यागमात्र से देवता का स्वत्व नहीं होता है। परिग्रह=स्वीकार करने से ही स्वस्वामी सम्बन्ध होता है। देवता के द्वारा कुछ स्वीकृत हुआ है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता हवि का सेवन नहीं करते। इसलिये पिष्ट चरु पूषा का भाग नहीं है। और यदि किसी प्रकार देवता का भाग होवे, तथापि पेषण देवता का धर्म नहीं हो सकता है। वैसा (=देवता का धर्म) होने पर पेषण निष्प्रयोजन होगा, उसके याग का धर्म न होने से, अर्थात् पेषण के याग में प्रयुक्त न होने से।**

विवरण—इस प्रकरण में भाष्यकार ने उस-उस देवता के निमित्त से अग्नि में छोड़े गये हवि को देवता के भागत्व का प्रतिषेध किया है। इसका मूल है आगे नवम अध्याय में देवता के विग्रह-

त्व=शरीरधारित्व का प्रतिषेध करना। जब देवता शरीरधारी ही नहीं है, तो वह उसका सेवन कैसे करेगा ? जब तक देवता यज्ञ में त्यक्त द्रव्य को स्वीकार न करे, तब तक वह उसका भाग नहीं होगा।

हमारे विचार में देवताओं के शरीरधारी न होने पर भी यदि उनके निमित्त से यज्ञ में छोड़े गये द्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं, तो देवता में सम्प्रदानत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। सम्प्रदान का लक्षण है—**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्** (अष्टा० १।४।३२)=कर्म के द्वारा जिस को तृप्त करता है, मनोकामना को पूरित करता है, वह सम्प्रदान कहाता है। मनोकामना की पूर्ति स्वीकार करने पर ही होगी। तभी देवता का सम्प्रदानत्व होगा, और उसमें चतुर्थी विभक्ति होगी। केवल त्यागमात्र से सम्प्रदानत्व उपपन्न नहीं होता है। यदि कोई देवदत्त के निमित्त २०० रु० का त्याग करता है, और देवदत्त उसे स्वीकार नहीं करता है, तो **देवदत्ताय शतं ददाति** प्रयोग उपपन्न नहीं होता है। यज्ञों में भी देवता के उद्देश्य से जो हविद्रव्य का त्याग विहित है, उस त्याग का दान में तात्पर्य है। इसी दृष्टि से यजमान प्रत्येक त्याग (=आहुति) के अनन्तर **इदमग्नये, इदं न मम** रूप वचन को पढ़कर स्वस्वत्व की निवृत्तिपूर्वक अग्नि आदि देवता के स्वत्व को प्राप्त कराता है। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्व का आपादनरूप त्याग ही दान होता है। मध्यवर्ती तथा आधुनिक याज्ञिक तो देवता को शरीरधारी तथा अधिष्ठातृरूप में चेतन मानते हैं। अतः उनके मत में तो देवता साक्षात् यज्ञ में अदृश्यरूप में उपस्थित होकर हवि को ग्रहण करते हैं।

आर्षमतानुसार श्रौत नित्य याग आधिदैविक जगत् के सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त होनेवाले आधिदैविक यज्ञों की प्रतिकृतियां वा नाटक हैं। आधिदैविक जगत् की दिव्यरूपात्मक दैवियां=शक्तियां यज्ञों में स्वस्व भाग को ग्रहण करती हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं—आदित्य वा वायु पृथिवीस्थ जलों को ग्रहण करते हैं। इन्द्र देव अन्तरिक्षस्थ जलों के मध्य में वर्तमान होकर उनको ग्रहण करता है। जलों का सूक्ष्म तत्त्व ही आधिदैविक सोम है। यही सोम आदित्य में जलकर उसे प्रदीप्त करता है। इस प्रकार सभी आधिदैविक देवता आधिदैविक यज्ञों में अपनी-अपनी हवियों को ग्रहण करते हैं। परन्तु उनका हविग्रहण स्वार्थ के लिये नहीं होता है। वे उसे वापस रूपान्तर में लौटा देते हैं। इसी दान के कारण वे देवता कहाते हैं—**देवो दानात्** (निरुक्त ७।१५)। यही रूप साधारण मनुष्य के स्वीकरण में और देवताओं के स्वीकरण में है।

यदि द्रव्ययज्ञों को स्थूल रूप में भी देखें, तो अग्नि अपने में हुत द्रव्य को स्वयं भक्षण न करके उसे अत्यन्त सूक्ष्म करके वायु आदि के सहयोग से दूर-दूर तक पहुंचाता है। उससे वायु और जल जो प्राणिजगत् के जीवनभूत हैं, शुद्ध करता है। चाहे आधिदैविक यज्ञ होवे, चाहे द्रव्यमय यज्ञ, दोनों में अग्नि ही प्रमुख देव है, जो अपने में हुत पदार्थ को सब देवों के प्रति पहुंचाता है। इसीलिये कहा है—**अग्निर्वै देवानां दूतः** (शत० ब्रा० १।४।१।३४)।

आधिदैविक जगत् में १२ आदित्यों में पूषा अन्यतम है। उदीयमान सूर्य '**सविता**' कहाता

कथं तर्हि प्रकरणान्तरे समाम्नातो यागधर्मो भविष्यतीति ? उच्यते—वाक्य-संयोगात्। 'ननु च देवतया एष संयोगः श्रूयते, न यागेनेति'। उच्यते—'भागाभावादनर्थकत्वाच्च न देवतासंयोगः', इत्युक्तम्। तथापि तु यथा यागसम्बन्धो भवति, तथा वक्तव्यम्। तदुच्यते—अयमत्र पूष्णो भागो, यः पूषणमुद्दिश्य त्यज्यते। यस्य द्रव्यस्य त्यागे पूषा देवता। न चैन्द्रापौष्णे भवति पूषा देवता, न स चरुः पूष्णः स्वत्वेन सम्बद्ध्यते। तस्मादैन्द्रापौष्णे न कश्चिदस्ति पूष्णश्चरुणा सम्बन्धः। केवले तु पूषणि देवताभूते तस्मै सङ्क-

---

है। उदय के समय सूर्य के ऊपर उठने से पूर्व सूर्य का जो बिम्ब दिखाई देता है, वह **'भग'** देवता है। उससे अभी रश्मियां स्फुटित नहीं होती हैं। इस कारण वह अन्धा कहाता है—**अन्धो भग इत्याहुः (गोपथ२।१।२)**। जब सूर्य ऊपर को सरकता है, ऊपर उठता है, तो उसे **'सूर्य'** कहते हैं। **सूर्यः सरणात्** इस अवस्था में रश्मियों का प्रादुर्भाव होता है। अतः कहा है—**उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्** (ऋ०१।५०।१)। अर्थात् रश्मियां जातवेदाः देव को ऊपर उठाती हैं, सूर्य को समस्त विश्व को दिखाने=दर्शन में समर्थ करने के लिये। इससे कुछ उत्तर काल का सूर्य जब स्वयं रश्मियों से पूर्णतया पुष्ट हो जाता है, वह **'पूषा'** कहाता है। इसकी रश्मियां अभी प्राणियों को खाने-पीड़ा देनेवाली नहीं होती हैं। इसलिये पूषा को अदन्तक कहा जाता है—**अदन्तको हि** (तै० सं० २।६।८।५)। इसी पूषा अवस्था में प्राणी सूर्य वा रश्मियों का सेवन करके नीरोग होते हैं—**आरोग्यं भास्करादिच्छेत्** (गौतम धर्मसूत्र में उद्धृत, मैसूर सं, पृ० ४६६)। इस का सूर्य अपनी मृदुरश्मियों से ओस के रूप में वर्तमान जल को ग्रहण करता है। वह घनीभूत कठोर पदार्थों से जल के आदान में असमर्थ होता है। अतः उसे अलङ्कार के रूप में प्रपिष्टभाग कहा है। अर्थात् जैसे दन्तविहीन बालक दूध आदि तरल पदार्थों को ही खा सकता है, कठोर रोटी आदि नहीं खा सकता, यही स्थिति पूषा की होती है। उसकी दन्तस्थानीय रश्मियां अभी अत्यन्त मृदु होती हैं। इसी प्रकार **विष्णु** आदि रूप अन्य आदित्यों की स्थिति जाननी चाहिये। निरुक्त अ०७-१२ में इन आधिदैविक देवों की बड़ी सूक्ष्म वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध होती है। उसे यथावत् जानने से ही वेद का गहन तात्पर्य समझ में आता है।

व्याख्या—(आक्षेप) **तो कैसे प्रकरणान्तर में पठित [पेषण] याग का धर्म होगा ?** (समाधान) **वाक्य के संयोग से।** (आक्षेप) **यह [पेषण का] संयोग देवता के साथ सुना जाता है, याग के साथ नहीं सुना जाता है।** (समाधान) **'भाग का अभाव होने से तथा अनर्थक होने से देवता के साथ पेषण का संयोग नहीं है' यह कह चुके हैं। फिर भी जैसे [पेषण का] याग के साथ सम्बन्ध होता है, वैसा कहना चाहिये। इसलिये उसे कहते हैं—यहां यह पूषा का भाग है, जो पूषा देवता को उद्देश्य करके [अग्नि में] छोड़ा जाता है। जिस द्रव्य के त्याग में पूषा देवता [निमित्त] होता है। ऐन्द्रापौष्ण चरु में पूषा देवता नहीं है, न वह चरु पूषा के स्वत्व के साथ सम्बद्ध होता है। इसलिये ऐन्द्रापौष्ण में पूषा का चरु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अकेले पूषा के देवतारूप होने पर**

ल्पितो भागो भवति। कथम् ? यमुद्दिश्य सङ्कल्पो भवति,स तस्य भागः,इति प्रसिद्धिरेषा। तेन यद्यपि पूषा स्वेनोच्चारणेन इन्द्रापूष्णोरुपकारकमुच्चारणं कुर्वन्नुपकारको भवेत्, तथापि न तस्य द्विदेवत्यो भाग इत्युच्यते, असङ्कल्पनात्। केवले पूषणि देवतायां चरोः पेषणं क्रियते, न ऐन्द्रापौष्णेषु द्विदेवत्येषु इति ॥४४॥

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥

वह उसके लिये संकल्पित भाग होता है। किस प्रकार से ? जिसको उद्देश्य करके संकल्प होता है, वह उसका भाग होता है,ऐसी प्रसिद्धि है। इस कारण यद्यपि पूषा अपने उच्चारण से इन्द्र और पूषा के उपकार का उच्चारण करता हुआ उपकारक होवे, फिर भी उसका दो देवतावाला भाग है, ऐसा नहीं कहा जाता है, संकल्प न होने से। अतः अकेले पूषा देवता में चरु का पेषण किया जाता है, दो देवतावाले ऐन्द्रापौष्ण आदि में नहीं किया जाता है ॥४४॥

विवरण—कथं तर्हि प्रकरणान्तरे समाम्नातो यागधर्मः—यहां आक्षेप्ता का तात्पर्य यह है कि वाक्यसंयोग के देवताविषयक होने से विना प्रकरण के अर्थात् जहां **पूषा प्रपिष्टभागः** कहा है, वहां पौष्णदेवताक याग के न होने से, अपूर्वसाधन के द्वारा किसी प्रकार याग के साथ उसका संबन्ध नहीं हो सकता है। **वाक्यसंयोगात्**—समाधाता के इस वचन का भाव यह है कि भाग शब्द का देवता के साथ मुख्यवृत्ति से संबन्ध न होने से, तथा याग के साथ ही भाग शब्द का मुख्यवृति से सम्बन्ध सम्भव होने से 'पेषण याग का धर्म है' ऐसा कहा है।

देवताया एष संयोगः—इसका आशय यह है कि **तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः** वचन में देवता के साथ संयोग उक्त है, न कि याग के प्रति। **भागाभावाद् अनर्थकत्वाच्च**—जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता यागद्रव्य का सेवन नहीं करता है। इस पर भी यदि पेषण को देवता के साथ संबद्ध करें, तो वह अनर्थक होता है। **अयमत्र पूष्णो भागः**—यहा भाग शब्द का लाक्षणिक **भाग इव भागः** अर्थ से प्रयोग जानना चाहिये। **न चैन्द्रापौष्णे**—इन्द्र और पूषा के समुदित देवता होने से वहां न पूषा देवता है और नाहीं चरु पूषा के स्वत्व के साथ सम्बद्ध होता है। क्योंकि हवि के निर्वाप के समय **इन्द्रापूषभ्यां जुष्टं निर्वपामि** कहकर इन्द्र और पूषा सम्मिलित देवता के लिये हवि का निर्वाप किया जाता है ॥४४॥

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥

सूत्रार्थः पूषा का (अदन्तत्वम्) अदन्तक कहना (हेतुमात्रम्) हेतुमात्र है, अर्थात् यह हेतुवत् प्रतीयमान अर्थवादमात्र है। [द्रष्टव्य—हेतुवन्निगदाधिकरण मी० १।२। अधि० ३, सूत्र २६-३०।]

यदुक्तम्—**अदन्तको** हि इति देवताधर्म्मं दर्शयतीति । अर्थवाद एषः, इतरस्मिन्नपि पक्षे उपपद्यते ॥४५॥

वचनं परम् ॥४६॥

अथ अपरं यत्कारणमुक्तम्—'नेमपिष्टमिति द्विदेवत्ये पेषणं दर्शयति, **अर्द्धं पिष्टं भवत्यर्द्धमपिष्टं द्विदेवत्यत्वाय,** इति देवताधर्मं दर्शयतीति'। अत्रोच्यते—एवं सति वचनमिदमप्राप्ते भवतीति। 'नन्वनेकार्थविधानमेकं वाक्यं प्राप्नोति'। उच्यते—सति पक्षान्तरे अनेकार्थविधिः पक्षान्तराश्रयणेन परिह्रियते। असति पुनः पक्षान्तरे उच्चारणानर्थक्यप्रसङ्ग-

---

व्याख्या—जो यह कहा है—अदन्तको हि यह वचन [**पेषण को**] **देवता का धर्म बताता है [यह ठीक नहीं है] । यह अर्थवाद है, अतः इतर पक्ष** (=हमारे पक्ष) **में भी उपपन्न हो जाता है ॥४५॥**

विवरण—अर्थवाद एषः—इसका तात्पर्य यह है कि **अदन्तको** हि यह हेतु नहीं है, अपितु हेतु के समान प्रतीयमान अर्थवाद है । जैसे—**शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते** (शत० २।५।२।२३) वचन में **तेन ह्यन्नं क्रियते** अंश हेतुवत् प्रतीयमान अर्थवाद है, ऐसा पूर्व हेतुवन्निगदाधिकरण (मी० १।२। अधि०३, सूत्र २६-३०) में निर्णय कर चुके हैं । तदवत् ही यहां **अदन्तको** हि भी हेतुवन्निगद्यमान अर्थवाद है ॥४५॥

वचनं परम् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(परम्) आगे कहा हुआ **नेमपिष्टं भवति** लिङ्ग नहीं है, अपि तु (वचनम्) विधि-वचन है, अर्थात् सौमापौष्ण चरु में नेमपिष्टता का विधायक है ।

व्याख्या—और जो दूसरा कारण कहा है—नेमपिष्टं भवति, **यह द्विदेवत्य चरु में पेषण को दर्शाता है ।** अर्धं पिष्टं भवत्यर्धमपिष्टं द्विदेवत्याय **यह '[नेमपिष्टता] देवता का धर्म है', को बताता है । इस विषय में कहते हैं—इस प्रकार** (=जैसा सूत्र ४४ में कहा गया है) **होने पर पेषण के अप्राप्त होने पर यह नेमपिष्ट वचन होता है ।** (आक्षेप) '**एक अर्थ को कहनेवाला एक वचन होता है' नियम से,** सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः **वचन में सोम और पूषा देवता चरु द्रव्य तथा नेमपिष्टता अनेक धर्मों का विधान मानने पर वाक्यभेद होगा ।** (समाधान) **इस विषय में कहते हैं—पक्षान्तर होने पर अर्थात् एकवाक्यता और वाक्यभेद दोनों की उपस्थिति होने पर अनेक अर्थों की विधि पक्षान्तर** (=एकार्थता) **के आश्रयण से हटाई जाती है, अर्थात् अनेकार्थ विधि को छोड़ा जाता है । पक्षान्तर** (=सौमापौष्णं कर्म कर्तव्यम्) **में इस प्रकार न होने पर उच्चारण के अनर्थकता-प्रसङ्ग को हटाने की इच्छा से अनेकार्थ वाक्य स्वी-**

परिजिहीर्षयाऽनेकार्थं वाक्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। तस्मान्न द्विदेवत्ये पेषणमिति सिद्धम् ॥४६॥ इति **पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाऽधिकरणम्** ॥१५॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य

तृतीयः पादः समाप्तः ॥

कर्तव्य होता है [अर्थात् 'सौमापौष्णम्' आदि वाक्य में अनेक अर्थों का विधान मानना पड़ता है, अन्यथा नेमपिष्टता आदि का उच्चारण अनर्थक मानना पड़ेगा]। इस कारण दो देवतावाले चरु में पेषण नहीं होता है, यह सिद्ध होता है ॥४६॥

इति युधिष्ठिर मीमांसक-कृतायाम्
आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दीव्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः पूर्तिमगात् ॥

—:०:—

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

[निवीतस्यार्थवादताऽधिकरणम् ॥१॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नातम्—निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते[1] इति । निवीतं मनुष्याणामित्यत्र सन्देहः । किमयं - विधिरुतार्थवाद इति ? यदा विधिस्तदा किमयं पुरुषधर्म्मः, उत कर्म्मधर्म्मः? अथ यत्प्रकरणे मनुष्याणां तत्र विधिः, उत मनुष्यप्रधाने कर्म्मणि निविशते इति ? किं प्राप्तम् ?

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ा है—निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानाम्,उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते (=निवीत =गले में लटकाते हुए यज्ञोपवीत को धारण करना मनुष्यों का,प्राचीनावीत =बांया हाथ बाहर निकाल कर धारण करना पितरों का,और उपवीत (=दायां हाथ बाहर निकाल कर धारण करना देवों का, जो उपव्यान (=दायां हाथ बाहर निकालकर यज्ञोपवीत को धारण करता है, वह देवों के चिह्न को करता है)। इस वचन में निवीतं मनुष्याणाम् में सन्देह है—क्या यह विधि है, अथवा अर्थवाद है ? और जब विधि है, तब क्या यह पुरुष का धर्म है, अथवा कर्म का धर्म है ? और जिस प्रकरण में [निवीतं मनुष्याणाम्] यह वचन पठित है, उसमें जो मनुष्यसम्बन्धी कर्म है, उसमें विधि है, अथवा मनुष्यप्रधान कर्म में यह निविष्ट होता है । क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—निवीतं मनुष्याणाम्—निवीत प्राचीनावीत और उपवीत के लक्षण हम पूर्व मी० ३।१।२१ के भाष्य-व्याख्यान (भाग २, पृष्ठ ६८६) में मनुस्मृति २।६३ के वचन के अनुसार लिख चुके हैं। वहां यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि सम्प्रति यज्ञकर्म के अतिरिक्त जनेऊ को उपवीतरूप में धारण करना शास्त्रविरुद्ध है । उसी प्रकरण में पृष्ठ ६९१ पर यज्ञोपवीत (=जनेऊ) के प्राचीन स्वरूप की भी विवेचना की है । पाठक उसे भी देखें । **यत्प्रकरणे मनुष्याणाम्**—इसका तात्पर्य यह है कि जिस दर्शपूर्णमास-प्रकरण में यह वचन पठित है, उसमें मनुष्यसम्बन्धी जो अन्वाहार्यपचन कर्म है, उसमें यह विधि है, क्योंकि अन्वाहार्य का पाक ऋत्विजों के भक्षण के लिये होता है। अतः दर्शपूर्णमास में यह मनुष्यसंबन्धी कर्म है । **मनुष्यप्रधाने कर्मणि**—पञ्चमहायज्ञान्तर्गत मनुष्यप्रधान जो आतिथ्य कर्म है, उसमें **निवीतं मनुष्याणाम्** यह विधि निविष्ट होगी । कतिपय व्याख्याता यहां 'मनुष्यप्रधाने कर्मणि' से आतिथ्येष्टि, जो सोमयाग की अङ्गभूत है, का ग्रहण करते हैं । वह ठीक नहीं है, क्योंकि आतिथ्येष्टि भी दैव-कर्म है।

---

१. तै० सं० २।५।११॥

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥१॥ (पू०)

विधिर्मनुष्यधर्मश्चेति। यदि विधिरेवमपूर्वमर्थं विदधदर्थवान् भवति। इतरथा अर्थवादमात्रमनर्थकम्। विधिश्चेत् पुरुषधर्मः। निवीतं मनुष्याणामिति पुरुषप्रधानो निर्देशः। कथमवगम्यते? नात्र मनुष्या विधीयन्ते। मनुष्याणां निवीतं विधीयते। न चाऽविहितमङ्गं भवति। यदि मनुष्या अपि विधीयेरन्, वाक्यं भिद्येत। तस्मान्निवीतं मनुष्याणामुपकारकम्।

ननु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासयोरुपकारकम्। प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरम्। अपि च गुणभूतेषु मनुष्येषु कारकसम्बन्धस्य विवक्षित्वात् तृतीया भवेत्। षष्ठी त्वेषा सम्बन्धलक्षणा। तत्र गुणभूतेषु मनुष्येषु मनुष्यग्रहणं नैव कर्त्तव्यं स्यात्। मनुष्यैरेव तत् क्रियमाणं क्रियेत। मनुष्यप्रधानपक्षे तु कर्त्तव्यम् ॥१॥

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥ (उ०)

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥१॥

सूत्रार्थः—(निवीतम्) निवीत (इति) यह (मनुष्यधर्मः) मनुष्य का धर्म है। (शब्दस्य) **'निवीतं मनुष्याणाम्'** शब्द के (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्यप्रधान होने से।

व्याख्या—['निवीतं मनुष्याणाम्' यह] विधि है, और मनुष्यधर्म अर्थात् पुरुषार्थ है। यदि विधि होवे, तो इस प्रकार अपूर्व अर्थ का विधान करता हुआ [उक्तवचन] अर्थवान् (=सप्रयोजन) होता है। अन्यथा अर्थवादमात्र होकर अनर्थक होता है। और यदि विधि है, तो यह पुरुषधर्म है। क्योंकि निवीतं मनुष्याणाम् यह पुरुषप्रधान निर्देश है। कैसे जाना जाता है [कि यह पुरुषप्रधान निर्देश है]? यहां (=इस वाक्य में) मनुष्यों का विधान नहीं किया है। मनुष्यों के निवीत का विधान है [अर्थात् पुरुष निवीत धारण करें]। विना विधान के अङ्ग नहीं होता है। यदि मनुष्यों का भी विधान करें, तो [मनुष्य और निवीत दो के विधान से] वाक्य का भेद होवे। इसलिये निवीत मनुष्यों का उपकारक है।

[आक्षेप] प्रकरण से दर्शपूर्णमास का उपकारक होवे। (समाधान) प्रकरण से वाक्य अधिक बलवान् होता है। और भी, गुणभूत मनुष्यों में कारक-सम्बन्ध के विवक्षित होने पर तृतीया होवे [—मनुष्यै निवीतं धार्यम्]। यह (=मनुष्याणाम्) तो सम्बन्धलक्षणवाली षष्ठी है। वहां गुणभूत मनुष्यों के होने पर मनुष्य का ग्रहण नहीं करना होगा। क्योंकि निवीत धारण करना मनुष्यों से ही किया जायेगा। मनुष्यप्रधानकर्म पक्ष में तो [मनुष्य का ग्रहण] करना चाहिये ॥१॥

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त मनुष्यप्रधानकर्म पक्ष के निवारण के लिये है, अर्थात्

अपदेश इति ज्ञायमानस्य वचनम् । स एष न विधिः । अनुवाद एष । कुतः ? अर्थस्य विद्यमानत्वात् । प्राप्त एवार्थः—यन्निवीतं मनुष्याणाम् । निवीतं हि मनुष्याः प्रायशः स्वार्थं कुर्वन्ति । तस्मादनुवादः ॥२॥

विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात् ॥३॥ (पू०)

विधिरेव भवेत्, तथा प्रयोजनवान् । इतरथा वादमात्रमनर्थकम् । पूर्ववान् अनुवादो भवति । अयं त्वपूर्वः, यन्नियमेन निव्यातव्यमिति ॥३॥

स प्रायात् कर्म्मधर्म्मः स्यात् ॥४॥ (पू०)

यदुक्तं विधिरिति, एतद् गृह्यते । यत्तु मनुष्यधर्म्म इति, तन्नानुमतम् । क्रतुधर्मोऽयं प्रकरणात् । प्रक्रम्य एव हि कर्म्मप्रायेषु धर्मेषूच्यमानेष्वेतदभिधीयते । तस्मात् कर्म्मधर्म्मः ॥४॥

निवीतं मनुष्याणाम् वचन मनुष्यप्रधानकर्म में निविष्ट नहीं होता है । यह (अपदेशः) ज्ञायमान अर्थ का कहनेवाला वचन है । (अर्थस्य) निवीतरूप अर्थ के (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से, अर्थात् लोक में मनुष्य प्रायः निवीत धारण करते ही हैं ।

व्याख्या—'अपदेश' यह ज्ञायमान (=लोकविज्ञात) अर्थ का कहनेवाला है । इसलिये यह (=निवीतं मनुष्याणाम्) विधि नहीं है । यह अनुवाद है । किस हेतु से ? अर्थ के विद्यमान हो नेसे । अर्थ प्राप्त ही है निवीत मनुष्यों का होता है । मनुष्य प्रायः अपने कर्मों के प्रति निवीत ही धारण करते हैं । इसलिये यह अनुवाद है । ॥२॥

विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(अपूर्वत्वात्) अपूर्व का विधायक होने से, [निवीतं मनुष्याणाम्] यह (विधिः) विधि (तु) ही (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—[निवीतं मनुष्याणाम् यह] विधि ही होवे, वैसा (=विधि) होने से अर्थवान् होता है । अन्यथा वादमात्र अनर्थक होवे । पूर्वतः ज्ञात अनवाद होता है । यह [पूर्वतः ज्ञात न होने से] अपूर्व विधि है, जिसे नियम से निवीत धारण करना चाहिये ॥३॥

स प्रायात् कर्मधर्मः स्यात् ॥४॥

सूत्रार्थः—(सः) वह (=निवीत) (प्रायात्) दर्शपूर्णमास-प्रकरण के धर्मबहुल प्रदेश में उपदिष्ट होने से (कर्मधर्मः) दर्शपूर्णमास क्रतु का धर्म (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—यह जो कहा है कि [निवीतं मनुष्याणाम्] यह विधि है, इसको हम स्वीकार करते हैं । किन्तु जो मनुष्यधर्म कहा है, वह हमें अनुमत (=स्वीकार) नहीं है । प्रकरण से यह क्रतु का धर्म है । [दर्शपूर्णमास का] आरम्भ करके कर्मसम्बन्धी धर्मों के कहे जाते हुए इस का कथन है [अर्थात् दर्शपूर्णमास कर्मसम्बन्धी धर्मों में इसका निर्देश है] । इसलिये यह क्रतु का धर्म है ॥४॥

वाक्यशेषत्वात् ॥५॥ (पू०)

'निवीतं मनुष्याणाम्' इत्यस्य वाक्यशेषः समाख्या आध्वर्यवमिति । यदि दर्शपूर्णमासयोः शेषस्ततोऽध्वर्युणा कर्त्तव्यम् । तत्र समाख्याऽनुग्रहीष्यते ॥५॥

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥ (पू०)

उच्यते, प्रकरणात् समाख्यानाच्च कर्मधर्मो विज्ञायते । वाक्यान्मनुष्यधर्मः । तस्मादुत्कर्षमर्हति । नेति ब्रूमः । प्रकरणे एवाभिनिविशमानस्य मनुष्यप्रधानताऽत्रकल्पिष्यते ।

वाक्यशेषत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थः—['निवीतं मनुष्याणाम्' इस] (वाक्यशेषत्वात्) वाक्य का शेष=समाख्या=आध्वर्यव नाम होने से अध्वर्यु को निवीत धारण करना चाहिये ।

विशेष—'शेष' शब्द से यहां मीमांसा ३।३।१४ में उक्त श्रुति आदि विनियोग कारणों में अन्तिम समाख्या प्रमाण का ग्रहण है; ऐसा कुतुहल वृत्तिकार का कथन है । इस सूत्र का सुबोधिनी वृत्ति आदि में **वाक्यस्य शेषत्वात्** पाठ है । अन्य कुछ ग्रन्थों में **वाक्यशेषवत्वात्** पाठ उपलब्ध होता है । शाबरभाष्य से सूत्र का **वाक्यशेषत्वात्** पाठ ही प्रमाणित होता है ।**वाक्यशेषत्वात्** पाठ में **वाक्यस्य शेषः=वाक्यशेषः** में असमर्थ समास स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि 'वाक्यस्य' को **निवीतं मनुष्याणाम्** की अपेक्षा है । सापेक्ष असमर्थ होता है—**सापेक्षमसमर्थं भवति** । फिर भी यथा **देवदत्तस्य गुरोः कुलम्, देवदत्तस्य गुरोः पुत्रः** में **देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः** में क्वचित् सापेक्ष का भी समास देखा जाता है (द्र०—महाभाष्य २।१।१) तद्वत् प्रकृत सूत्र में भी असमर्थ समास जानना चाहिये । सम्भव है, इसी असामर्थ्य को ध्यान में रखकर सुबोधिनीकार आदि ने **वाक्यशेषत्वात्** ऐसा सूत्रपाठ स्वीकार किया है ।

व्याख्या—निवीतं मनुष्याणाम् इस **वाक्य का शेष=समाख्या आध्वर्यव है । यदि दर्शपूर्णमास की शेष=समाख्या आध्वर्यव है, तो उससे अध्वर्यु को निवीत धारण करना चाहिये । उससे समाख्या प्रमाण अनुगृहीत होगा ॥५॥**

तत्प्रकरणे यत् तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(तत्प्रकरणे) दर्शपूर्णमास के प्रकरण में (यत्) जो अन्वाहार्य पाक आदि पठित है, (तत्संयुक्तम्) उससे संयुक्त अर्थात् उस का अङ्ग निवीत धारण करना होवे, (अविप्रतिषेधात्) प्रकरण और समाख्या का विरोध न होने से । अर्थात् अन्वाहार्य पाक अध्वर्युकर्तृक है, और दर्शपूर्णमास-प्रकरणस्थ भी है, अतः यह क्रतुयुक्त पुरुषधर्म है ।

व्याख्या—(आक्षेप) **प्रकरण और समाख्या से कर्म का धर्म जाना जाता है । वाक्य से मनुष्य का धर्म जाना जाता है । इसलिये यह उत्कर्ष के योग्य है, अर्थात् इसका सम्बन्ध मनुष्यप्रधान आतिथ्यकर्म में उत्कर्ष करना चाहिये ।** (समाधान) **ऐसा नहीं होगा । प्रकरण में ही**

कथम् ? यद्दर्शपूर्णमासयोर्मनुष्यप्रधानं, तत्र निवेक्ष्यतेऽन्वाहार्यकर्म्मणि । प्रकरणं चैवमनुग्रहीष्यते, वाक्यञ्च ॥६॥

तत्प्रधाने वा तुल्यवत् प्रसङ्ख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥ (पू०)

नैतदस्ति – प्रकरणे निवेश इति । मनुष्यप्रधाने कर्म्मणि निवीतं स्यादातिथ्ये । कुतः ? तुल्यवत् प्रसङ्ख्यानात् । तुल्यानि चैतानि प्रसङ्ख्यायन्ते । यत्तावदुपवीतं देवानामुपव्ययते इति, तत् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोरुपवीतं विदधाति । यत् प्राचीनावीतं पितृणामिति, तत् पितृप्रधाने कर्मणि प्राचीनावीतं विदधाति । यदप्येतद्—निवीतं मनुष्याणामिति, तदप्यातिथ्ये निरपेक्षं विदधाति ।

कथं गम्यते--मनुष्यप्रधाने विदधातीति ? मनुष्याणामिति षष्ठ्यन्तेन संबन्धात्,

---

निविष्ट होते हुए की मनुष्यप्रधानता उपपन्न हो जायेगी । कैसे ? जो दर्शपूर्णमास में मनुष्यप्रधान अन्वाहार्य कर्म है, उसमें निविष्ट (=संबद्ध) हो जायेगा । इस प्रकार प्रकरण और वाक्य दोनों अनुगृहीत हो जावेंगे ॥६॥

तत्प्रधाने वा तुल्यवत् प्रसंख्यानाद् इतरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व 'प्रकरण में निवेश' पक्ष का प्रतिषेध करने के लिये है। (तत्प्रधाने) निवीतं मनुष्याणाम्' का मनुष्यप्रधानकर्म में ही निवेश होगा । प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम् के साथ] (तुल्यवत्) समानरूप से (प्रसंख्यानात्) कथन होने से । (इतरस्य) अन्य (=निवीत) का (तदर्थत्वात्) उसी के लिये, अर्थात् मनुष्य के लिये ही होने से ।

इसका तात्पर्य यह है कि निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणाम् उपवीतं देवानाम् ये तीनों वचन समानरूप से पढ़े हैं । इनमें से जैसे प्राचीनावीत का पितृकर्म में, उपवीत का दर्शपूर्णमासादि देवकर्म में सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार निवीत का भी मनुष्यप्रधान कर्म के साथ ही सम्बन्ध होगा ।

व्याख्या – प्रकरण में निवेश होगा—यह नहीं है । मनुष्यप्रधान आतिथ्य आदि कर्म में निवीत धारण होगा । किस हेतु से ? समानरूप से कथन होने से । ये (=निवीत प्राचीनावीत उपवीत) समानरूप से कहे जाते हैं । जो यह उपवीतं देवानाम् उपव्ययते कहा है, वह प्रकृत दर्शपूर्णमास में उपवीत धारण का विधान करता है । जो प्राचीनावीतं पितृणाम् कहा है, वह पितृप्रधान कर्म में प्राचीनावीत धारण करने का विधान करता है । और जो यह—निवीतं मनुष्याणाम् आतिथ्यादि कर्म में बिना किसी की अपेक्षा से [निवीत धारण का] विधान करता है ।

(आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि—[निवीतं मनुष्याणाम् वचन] मनुष्यप्रधानकर्म में विधान करता है ? मनुष्याणाम् इस षष्ठ्यन्त शब्द के साथ सम्बन्ध होने से मनुष्यों का ही

मनुष्याणामेव प्राप्नोति, न मनुष्यप्रधाने। उच्यते, मनुष्याणां कल्प्यमाने फलं कल्पनीयम्। मनुष्यप्रधाने पुनः षष्ठी भविष्यति। सम्बन्धश्चैवमवकल्पिष्यते, फलं चैवं न कल्पनीयम्। तदुक्तम्—समेषु वाक्यभेदः स्यादिति।

ननु मनुष्यप्रधानेन सहैकवाक्यतां प्राप्तम्, पुनः प्रकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यामेकवाक्यतां यास्यति। न हि द्वौ सम्बधावेकस्मिन् वाक्ये विधीयेते। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। इतरस्य मनुष्यग्रहणस्य निवीतसम्बन्धार्थत्वात् तेनैव सहैकवाक्यता भविष्यति प्रत्यक्षेण शब्देन। तदेकवाक्यतया चार्थवत्त्वे सति न प्रकृतेनैकवाक्यताऽवकल्प्यते। स्मात् प्रकरणं बाधित्वा आतिथ्ये निवेक्ष्यते इति॥७॥

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥ (उ०)

प्राप्त होता है, न कि मनुष्यप्रधान में। (समाधान) मनुष्यों [के निवीत धारण] की कल्पना करने पर [निवीत धारण के] फल की कल्पना करनी होगी। इसलिये मनुष्यप्रधान में षष्ठी होगी। इस प्रकार [षष्ठी से बोधित] सम्बन्ध भी समर्थित होता है, और फल की भी कल्पना नहीं करनी पड़ती है। यह कहा है—समेषु वाक्यभेदः स्यात् (=समानरूप से पठितों में वाक्यभेद होवे)। पू०-मी० २।१।४७।

(आक्षेप) मनुष्यप्रधान के साथ एकवाक्यभाव को प्राप्त होकर, पुनः प्रकृत दर्शपूर्णमास के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होगा। (समाधान) दो सम्बन्धों का एक वाक्य में विधान नहीं किया जाता है। वैसा (=दो सम्बन्धों का विधान) करने से वाक्यभेद होता है। [देव और पितरों से] इतर (=अन्य=भिन्न) मनुष्यग्रहण का निवीत के साथ सम्बन्ध के लिये होने से प्रत्यक्ष शब्द से उसी के साथ एकवाक्यता होगी। उस एकवाक्यता से उसके प्रयोजनवान् हो जाने पर प्रकृत [दर्शपूर्णमास] के साथ एकवाक्यता कल्पित नहीं होगी। इसलिये प्रकरण को बाधकर अतिथि-कर्म में [निवीतधारण] निविष्ट होगा, अर्थात् दर्शपूर्णमास से उत्कर्ष होगा।

विवरण—सूत्र १ से ७ तक पांच पक्ष उपस्थित किये हैं। १. मनुष्यधर्म, २. कर्मधर्म, ३. दर्शपूर्णमासकर्मयुक्त मनुष्यधर्म, ४. दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थ मनुष्यप्रधान कर्म का धर्म, ५. प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्यादि मनुष्यकर्म का धर्म। इनमें सूत्र १-३ में प्रथमपक्ष पर विचार, सूत्र ४ से द्वितीय पक्ष, सूत्र ५ से तृतीय पक्ष, सूत्र ६ मे चतुर्थ पक्ष और सूत्र ७ से पञ्चम पक्ष भी स्थापित किया है। अन्त में अर्थवादरूप सिद्धान्त दर्शाया है॥७॥

अर्थवादो वा प्रकरणात्॥८॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वनिर्दिष्ट 'मनुष्यप्रधान कर्मविषयक विधि' पक्ष के निराकरण के लिये है, अर्थात् मनुष्यप्रधान कर्मविधि नहीं है। (प्रकरणात्) प्रकरणसामर्थ्य से 'निवीतं मनुष्याणाम्' (अर्थवादः) अर्थवाद है।

नैतदस्ति, विधिः स च मनुष्यप्रधाने कर्म्मणीति। मनुष्याणामिति मनुष्यसम्बन्धोऽत्र श्रूयते, न मनुष्यप्रधानेन कर्म्मणा सम्बन्धः। मनुष्यप्राधान्ये च सति फलं कल्पनीयम्। आतिथ्यकर्मणा त्वनिर्दिष्टेनाप्रकृतेनानुमेयेन संबद्ध्येत। तत्र को दोषः? प्रकरणादुत्कृष्येत सम्भवँस्तत्र। कथं सम्भव इति चेत्? अर्थवाद एषः। स प्रकृतं स्तुवन् प्रकरणे सम्भविष्यति, विधिः सन्नुत्कृष्येत। तस्मान्न विधिर्मनुष्यप्रधाने कर्मणीति ॥८॥

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥९॥ (उ०)

इतश्च न विधिः। कुतः? विधिनैकवाक्यत्वात्। **उपव्ययते**[1] **देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते** इत्येष विधिः। अनेनास्य सहैकवाक्यता भवति। यदीतरोऽपि विधिः स्याद्, वाक्यं भिद्येत। नहि विधेर्विधेश्चैकवाक्यता भवति। वचनव्यक्तिभेदात्। तत्रैकवाक्यतारूपं बाध्येत। किमेक-

---

व्याख्या—[निवीतं मनुष्याणाम् यह] विधि है, **और मनुष्यप्रधान कर्म में निविष्ट होती हैं, ऐसा नहीं है। 'मनुष्याणाम्' यहां मनुष्यसम्बन्ध सुना जाता है, मनुष्यप्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं सुना जाता है। मनुष्यप्रधान** [आदि कर्म] **में [सम्बन्ध स्वीकार करने पर निवीत-धारण के] फल की कल्पना करनी होगी। अतः अनिर्दिष्ट तथा अप्राकरणिक अनुमेय आतिथ्यकर्म के साथ सम्बन्ध करना होगा। उसमें क्या दोष है?** वहां (=**प्रकरण में) सम्भव होते हुए प्रकरण से उत्कर्ष करना पड़ेगा। प्रकरण में कैसे सम्भव है?** यह (=**निवीतं मनुष्याणाम्) अर्थवाद है। वह** [अर्थवाद] **प्रकृत** [उपव्ययते विधि] **की स्तुति करता हुआ प्रकरण में सम्भव होगा, विधि होते हुए** (=विधि मानते हुए) उत्कर्ष करना होगा। इसलिये। [निवीतं मनुष्याणाम् यह] **मनुष्यप्रधान कर्म में** विधि नहीं है।

विवरण—**स प्रकृतं स्तुवन्**—प्रकृतविधि का **'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते'** की ओर संकेत है। यह अगले सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है ॥८॥

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थः—(विधिना) विधि (=उपव्ययते) के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यत्व होने से (च) भी [विधि नहीं है]।

व्याख्या—इस कारण भी [निवीतं मनुष्याणाम्] **विधि नहीं है। किस कारण से? विधि के साथ एकवाक्यत्व होने से।** उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते यह विधि है। **इसके साथ इस** (=**निवीतं मनुष्याणाम्**) की एकवाक्यता होती है। यदि **अन्य वाक्यों में भी विधि होवे तो वाक्यभेद** होवे। **क्योंकि** विधि **की** विधि के साथ एकवाक्यता नहीं होती है। **वचनव्यक्ति के भेद से।** वहां (=तीनों को विधि मानने पर) **एकवाक्यतारूप बाधित होवे।**

---

१. अत्र 'उपव्ययते' इत्येव विधिः, 'देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' इति प्रशंसापरोऽर्थवाद इति न्यायमालाविस्तरः।

वाक्यतारूपम् ? निवीतं मनुष्याणामिति प्राप्तोऽनुवादः। प्राप्तस्य किमर्थेन पुनर्वचनम् ? उपवीतस्तुत्यर्थेन। कथमुपवीतस्तुतिः ? निवीतमयोग्यं देवकर्म्मणि दर्शपूर्णमाससंज्ञके, मनुष्याणां हि तत्। तथा प्राचीनावीतं पितॄणां, न देवकर्म्मणि। उपवीतं तु तत्र योग्यम्। तस्मादुपव्यातव्यमिति। यथा—यादृशोऽस्य वेषस्तादृशो नटानाम्, यादृशो देवदत्तस्य तादृशो ब्राह्मणानामिति देवदत्तवेषप्रशंसार्थमितरवेषसङ्कीर्त्तनम्। एवमिहाप्युपव्यान-स्तुत्यर्थेन निवीतसङ्कीर्त्तनम्। नास्त्यत्र विधायकः शब्दः— निवीतं मनुष्याणां कर्त्तव्य-मिति। आतिथ्यप्रयोगवचनं तस्य कर्त्तव्यताविधायकमिति चेत्। नैतदेवम्। स्तुत्यर्थेनार्थ-वत्त्वे सति न शक्यं कल्पयितुम्। परोक्षं हि तदानर्थक्यपरिजिहीर्षया कल्प्येत। परिहृते त्वानर्थक्ये इह पुनर्न किञ्चित् कल्पनीयम्। तस्मादर्थवादः। एवञ्च वाक्येनाविरुद्धं प्रकरणमर्थवद् भवति ॥९॥ इति निवीतस्याऽर्थवादताऽधिकरणम् ॥१॥

—:०:—

एकवाक्यतारूप क्या है ? निवीतं मनुष्याणाम् यह प्राप्त अर्थ का अनुवाद है। प्राप्त अर्थ का किस प्रयोजन से पुनः कथन किया है ? उपवीत की स्तुति के लिये पुनर्वचन है। [इससे] उपवीत की स्तुति कैसे होती है ? निवीत दर्शपूर्णमाससंज्ञक देवकर्म में अयोग्य है, वह मनुष्यों का है। तथा प्राचीनावीत पितरों का है देवकर्म में युक्त नहीं है। वहां (=देवकर्म में) तो उप-वीत योग्य है। इसलिये उपव्यान करना चाहिये। 'जैसे—'जैसा इसका वेष है, वैसा नटों का जैसा देवदत्त का वैसा ब्राह्मणों का' यहां देवदत्त के वेष की प्रशंसा के लिये अन्य के वेष का संकीर्तन है। इसी प्रकार यहां भी उपव्यान की स्तुति के लिये निवीत का संकीर्तन है। यहां (=निवीतं मनुष्याणाम्' में) कोई विधायक शब्द नहीं है—मनुष्यों को निवीत धारण करना चाहिये। (आक्षेप) आतिथ्य कर्म का प्रयोग [=विधायक] वचन उस की कर्तव्यता का विधायक होवे। (समाधान) ऐसा नहीं हो सकता है। स्तुति-प्रयोजन से उसके अर्थवाद होने पर [विधायकता] कल्पित नहीं कि जा सकती। परोक्षभूत वह (=निवीत की विधायकता) [निवीत वाक्य की] अनर्थकता को हटाने के लिये कल्पित हो सकती है। परन्तु आनर्थक्य का परिहार हो जाने पर यहां और कुछ कल्पना योग्य नहीं है। इसलिये [निवीत वाक्य] अर्थवाद है। इस प्रकार वाक्य से अविरुद्ध प्रकरण अर्थवान् होता है।

विवरण—यादृशोऽस्य······इतरवेषसंकीर्तनम्—भट्ट कुमारिल ने दो प्रकार से देवविषयक उपवीत विधान की प्रशंसा लिखी है। प्रथम—जैसे वसिष्ठ की अरुन्धती, जैसे शशाङ्क की रोहिणी, जैसे नल की दमयन्ती वैसी देवदत्त की यज्ञदत्ता है। यहां वसिष्ठ आदि की प्रशस्त भार्याओं की उपमा से देवदत्त की भार्या की प्रशस्तता बोधित होती है। द्वितीय—विपर्यय से—निवीत और प्राचीनावीत के क्रमशः मनुष्यों और पितरों के लिये ही होने से देवों के प्रति वे अयुक्त हैं।

[इतोऽग्रे षट्सूत्राणां भाष्यं नोपलभ्यते। एतेषां निर्देशो व्याख्यानं च तन्त्रवार्तिककृतेह क्रियते। एषां सूत्राणां भट्टकुमारिलकृताया व्याख्याया हिन्दीभाषायां व्याख्यानं प्रकृतपादान्तेऽस्माभिः करिष्यते।]

[दिग्विभागस्यानुवादताऽधिकरणम् ॥२॥]

ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते—प्राचीं देवा अभजन्त, दक्षिणां पितरः; प्रतीचीं मनुष्याः, उदीचीमसुराः[1] इति। अपरेषाम्—उदीचीं रुद्राः[2] इति। तत्र सन्देहः—किं विधिरुतार्थवादः? विधि सन् किं मनुष्यधर्म्मः, उत कर्म्मधर्म्मः? अथ वा प्रकरणे मनुष्यप्रधाने कर्म्मणि निवेशः, किं वा आतिथ्ये इति? किं तावत् प्राप्तम्?

इसलिये देवों का उपवीत ही प्रशस्त है। इसलिये देवकर्म दर्शपूर्णमास में उपवीत ही धारण करना चाहिये। ६॥

—:o:—

[उक्त सूत्र के आगे ६ सूत्र ऐसे हैं, जिनका व्याख्यान शाबरभाष्य में नहीं मिलता है। इनका निर्देश भट्ट कुमारिल ने नवम सूत्र के भाष्य के वार्तिक के अनन्तर किया है। हम उन सूत्रों की भट्ट कुमारिलकृत टीका की व्याख्या प्रकृत पाद की समाप्ति के अनन्तर करेंगे। यहां करने से भाष्य का क्रम टूटता है।]

व्याख्या—ज्योतिष्टोम के प्रकरण में सुना जाता है – प्राचीं देवा अभजन्त, दक्षिणां पितरः, प्रतीचीं मनुष्याः, उदीचीमसुराः (=पूर्वदिशा को देवों ने प्राप्त किया। दक्षिणदिशा को पितरों ने, पश्चिमदिशा को मनुष्यों ने,उत्तरदिशा को असुरों ने। दूसरों का पाठ है—उदीचीं रुद्राः (=उत्तरदिशा को रुद्रों ने)। इसमें सन्देह है। क्या यह विधि है, अथवा अर्थवाद है? विधि होते हुए मनुष्यधर्म है, अथवा कर्म-धर्म? अथवा प्रकरण में मनुष्यप्रधान कर्म में निविष्ट होता है, अथवा आतिथ्य में? क्या प्राप्त होता है?

विवरण – प्राचीं देवा अभजन्त—भाष्यकार निर्दिष्ट ब्राह्मणपाठ हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तैत्तिरीय संहिता ६।१।१ में उक्त अभिप्रायवाला पाठ इस प्रकार है—देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त, प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्राः। हमारे विचार में भाष्य में अभजन्त के स्थान में 'व्यभजन्त' पाठ होना चाहिये। अपरेषाम्—उदीचीं रुद्राः—यह तै० सं० ६।१।१ में पाठ है। तत्र संदेह—इसका तात्पर्य प्रतीचीं मनुष्याः वचन से है।

---

१. यथापठितः पाठो नास्माभिरुपलब्धः। तु० कार्या—६।१।१॥ भाष्योद्धरणे 'अभजन्त' इत्यस्य स्थाने 'व्यभजन्त' पाठेन भाव्यमिति तैत्तिरीयसंहितावचनेन विज्ञायते।

२. तै० सं० ६।१।१॥

दिग्विभागश्च तद्वत् सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥१०॥ (अतिदेश०)

य एष दिग्विभागः, स निवीतवद् विचार्य्यः । यो निवीते पूर्वपक्षः स इह पूर्वपक्षः, यो मध्यमः स मध्यमः, यः सिद्धान्तः स सिद्धान्तः । अर्थवत्त्वाद् विधिर्मनुष्यसम्बन्धान्मनुष्यधर्म इति पूर्वपक्षः । प्रत्यङ्मुखा उदङ्मुखा वा पृष्ठत आदित्यं प्राशु पदार्थाननुतिष्ठन्ति, 'मनुष्याः' इत्यनुवादः । विधिरेव, प्रकरणानुग्रहाच्च ज्योतिष्टोमधर्म्मः । वाक्यप्रकरणानुग्रहाय ज्योतिष्टोमे मनुष्यप्रधाने दक्षिणाव्यापारे निवेशः, इत्यपरः पक्षः । भिन्नत्वाद् वाक्यानामातिथ्ये निवेशः, इत्यपरं मतम् । अर्थवादोऽयम्, प्रकरणाऽनुग्रहाय । प्राचीनवंशं करोतीत्यनेन विधिनैकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति सिद्धान्तः ॥१०॥ इति **दिग्विभागस्याऽनुवादताऽधिकरणम्** ॥२॥

—:०:—

दिग्विभागश्च तद्वत् सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थः—(दिग्विभागः) दिशाओं का भाग (च) भी (तद्वत्) निवीतवत् जानना चाहिये । (सम्बन्धस्य) मनुष्यों के प्रतीची दिशा के सम्बन्ध के (अर्थहेतुत्वात्) प्रयोजन हेतुवाला होने से ।

व्याख्या—यह जो दिशा का विभाग है, वह निवीत के समान विचारना चाहिये । जो निवीत के विषय में पूर्वपक्ष है वह यहां पूर्वपक्ष है, जो मध्यम पक्ष है वह यहां मध्यम पक्ष है, और जो सिद्धान्त है, वह यहां सिद्धान्त है । अर्थवत्ता होने से विधि और मनुष्य-सम्बन्ध से मनुष्य का धर्म है, यह पूर्वपक्ष है । पश्चिम की ओर मुखवाले अथवा उत्तर की ओर मुखवाले पीठ की ओर सूर्य को करके पदार्थों का अनुष्ठान शीघ्र करते हैं, 'मनुष्याः' यह अनुवाद है । विधि ही है, और प्रकरण के अनुरोध से ज्योतिष्टोम का धर्म है । वाक्य और प्रकरण के अनुग्रह के लिये ज्योतिष्टोम में मनुष्यप्रधान दक्षिणाकार्य में निवेश होता है, यह अपर पक्ष है । वाक्यों के भिन्न होने से आतिथ्यकर्म में निवेश होता है, यह अन्यपक्ष है । यह अर्थवाद है, प्रकरण के अनुग्रह के लिये । प्राचीनवंशं करोति (=प्राचीन वंशवाली शाला को करता है) इस विधि के साथ एकवाक्यता के प्रत्यक्षसिद्ध होने से यह सिद्धान्त है ।

विवरण—यो मध्यमः स मध्यमः—पूर्वसूत्र में पांच पक्ष दर्शाकर सिद्धान्त पक्ष दर्शाया है । यहां पर **यो मध्यमः** से द्वितीय पक्ष से लेकर पञ्चम पक्ष पर्यन्त पक्षों को पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष के मध्यवर्ती होने से मध्यम शब्द से कहा है । इन सभी पक्षों का भाष्यकार ने अनुपद ही उल्लेख किया है । यहां पर पांच पक्ष इस प्रकार हैं—१. मनुष्यधर्म, २. कर्मधर्म, ३. ज्योतिष्टोम का धर्म=ज्योतिष्टोमकर्मयुक्त मनुष्यधर्म ४. ज्योतिष्टोम में मनुष्यप्रधानकर्म=दक्षिणादान, ५. भिन्न वाक्य होने से प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्य आदि कर्म का धर्म । अस्त

[परुषिदितादीनामनुवादताऽधिकरणम् ॥३॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नातम्—यत् परुषि दितं तद्देवानां, यदन्तरा तन्मनुष्याणां, यत् समूलं तत् पितृणाम्' इति। तथा यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स सदेवत्य।

में 'प्रकरण के अनुग्रह के लिये अर्थवादरूप सिद्धान्त।' प्राचीनवंशं करोति—प्राचीन वंश का तात्पर्य है—शाला-गृह, जिसका प्रधान वंश=बांस का शतीर पूर्व-पश्चिम में लम्बाकार होता है, जिसके सहारे उत्तर और दक्षिण में अन्य सहायक बांस रखकर ऊपर घास या चटाइयां डाली गई हों। ऐसे गृह का मुख्य द्वार पूर्व वा पश्चिम में रहता है। परन्तु यहां यज्ञगृह होने से इसका द्वार पूर्व में होता है। सूर्योदय पूर्व दिशा में होता है। उदय होते ही उसका प्रकाश यज्ञगृह में व्याप्त हो जावे,इसलिये देवशालाओं का द्वार पूर्व में रखा जाता है। शतपथ के तृतीय काण्ड के आरम्भ में प्राचीनवंश देवगृह का विधान करके मनुष्यगृह को उदग्वंश बनाने का निर्देश किया है (श० ३।१।१।७)। इसका कारण यह है कि भारत में पार्वत्य प्रदेश को छोड़कर सम्पूर्ण भाग उष्णता-प्रधान है। मनुष्यगृह प्राचीनवंश बनाने पर द्वार के पूर्व वा पश्चिम में होने पर गृह के अन्दर धूप अधिक आने से गृह की उष्णता बढ़ जायेगी। तथा शीतकाल में अधिकतर पूर्व दिशा की ठण्डी हवा चलती है, उसका गृह में प्रवेश होगा। अतः मनुष्यशाला उदग्वंश बनाने का विधान किया है। इसमें गृह का द्वार उत्तर वा दक्षिण में देशकाल की सुविधानुसार रखा जा सकता है। शीत-काल काल में सूर्य के दक्षिणायन होने से दक्षिण की ओर मुख रखना सुविधाजनक होता है। उस से शीतकाल में गृह में धूप का प्रवेश होता है, और ग्रीम ऋतु में सूर्य के उत्तरायण होने से धूप भी नहीं आती है। इस प्राचीनवंश यज्ञगृह में धूएं के निकास के लिये उत्तर दक्षिण में अतीकाश=गवाक्ष=खिड़कियां रखी जाती हैं—दिक्ष्वतीकाशान् करोति (तै० सं० ६।१।१)। इसके लिये मीमांसा १।२।१४ का भाष्य तथा उसकी व्याख्या देखें ॥१०॥

—:o:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ा है—यत्परुषि दितं तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम्,यत् समूलं तत् पितृणाम्(=**जिन कुशाग्रों को पर्व=गांठ से काटा है वे देवों की होती हैं, जिनको पर्व और मूल के मध्य से काटा जाता है वह मनुष्यों की,और जिन्हें मूलसहित काटा जाता है वे पितरों की**)। **तथा** यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽशृतः स रौद्रः, यः श्रृतः स सदेवत्यः। तस्मादविदहता श्रपयितव्यं सदेवत्याय(=**जो पुरोडाश आदि जल जाता है वह निर्ऋति देवता का होता है, जो कच्चा रह जाता है वह रुद्र देवता का, और जो पका हुआ है वह देवों के साथ-**

---

१. वचनमिदं दर्शपौर्णमासप्रकरणे नास्माभिरुपलब्धम्। किञ्चिद्भेदेन वचनमिदं तै०ब्राह्मणे चातुर्मास्यान्तर्गते महापितृयज्ञे उपलभ्यते। तथाहि—**यत्पुरुषि दिनं तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम्, यत्समूलं तत् पितृणाम्। समूलं बहिर्भवति व्यावृत्त्यै।** तै० ब्रा० १।६।८॥

तस्माद् अविदहता श्रपयितव्यं सदेवत्वाय' इति । ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**यत् पूर्णं तन्मनुष्याणाम्,** उपर्यर्धो देवानामर्धः पितृणाम्[२] इति । तथा **घृतं देवानां, मस्तु पितृणां, निष्पक्वं मनुष्याणाम्'** इति । तत्र मनुष्यसम्बद्धेषु रौद्रे च सन्देहः—किं मनुष्याणां धर्मा विधयः, उत कर्मधर्मा अनुवादाः ? अथ यत् प्रकरणे मनुष्यप्रधानं रौद्रं च तत्र निविशेरन्, उत आतिथ्ये, उत अर्थवादः इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

वाला । इसलिये विना जलाये पकाना चाहिये, सदेवत्व के लिये) । ज्योतिष्टोम में सुना जाता है— यत्पूर्णं तन्मनुष्याणाम्, उपर्यधो देवानाम् अर्धः पितृणाम् (**=जो पूरा भरा हुआ शराव पात्र है वह मनुष्यों का, ऊपर का आधा देवों का, आधा पितरों का) । तथा** घृतं देवानां, मस्तु पितृणां, निष्पक्वं मनुष्याणाम् (**=घृत देवों का हैं, मस्तु पितरों का,और अच्छे प्रकार पका हुआ मनुष्यों का) । इनमें मनुष्यसंबद्धों में और रुद्रदेवताक में सन्देह है—क्या ये मनुष्यों के धर्मसम्बन्धी विधियां हैं, अथवा कर्म के धर्म अनुवाद हैं ? तथा जो प्रकरण में मनुष्यप्रधान और रुद्रदेवताक है उसमें निविष्ट होवें, अथवा आतिथ्यकर्म में, अथवा अर्थवाद है ? क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण—दर्शपूर्णमासयोराम्नातम् यत्परुषि दितम्—भाष्यकार ने यह किस शाखा वा ब्राह्मण का पाठ उद्धृत किया है,यह अज्ञात है । तै०ब्रा०१।६।८ में यह पाठ चातुर्मास्य के साकमेध्य तृतीय पर्व के साथ उक्तपितृयज्ञ में पठित है । इसे याज्ञिक महापितृयज्ञ कहते हैं । यत्परुषि दितम् - सूत्रपाठ और भाष्यकार उदाहृत पाठ में दितम् पाठ है । यह दो अवखण्डने धातु से क्त में आदेच उपदेशेऽशिति (अष्टा० ६।१।४५) से ओकार को आत्त्व—'दा त' इस अवस्था में द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति (अष्टा० ७।४।४०) से इकार आदेश होकर 'दित' रूप निष्पन्न होता है । तै० ब्रा० १।६।८ में उक्त उद्धृत पाठ मिलता है, परन्तु वहां 'दितम्' के स्थान में 'दिनम्' पाठ है—यत्परुषि दिनम् । दिनम् में छान्दस क्तप्रत्यय के तकार को नकारादेश जानना चाहिये । यत्परुषि दितम् का तात्पर्य है—मूल से ऊपर जो प्रथम पर्व है, वहां से काटा हुआ । यदन्तरा का भाव है—प्रथम पर्व और जड़ के मध्य से काटा गया । यत्समूलम् का तात्पर्य है—जड़ को खोद कर जड़ से काटा गया । यो विदग्धः स नैर्ऋतः—यह वचन कुछ भेद से दर्शपौर्णमास के आग्नेय पुरोडाश के पाकविषय में तै० सं २।६।३ में मिलता है । विदग्धः का अर्थ विशेषेण दग्धः अर्थात् जला हुआ, और विविधं दग्धः अर्थात् कहीं पका कहीं

---

१. अनुपलब्धमूलम् । **एतत्सदृशं—'यो विदग्धः स नैर्ऋतो, योऽशृतः स रौद्रः, यः शृतः स सदेवः । तस्मादविदहता शृतंकृत्यः स देवत्वाय'** इत्येवंरूपेण दर्शपूर्णमासकर्मसु तै० सं० २।६।३ श्रूयते ।

२. वचनमिदं ज्योतिष्टोमे नोपलब्धम् । चातुर्मास्यान्तर्गते महापितृयज्ञे तु तै० ब्राह्मणे १।६।८ समुपलभ्यते ।

३. तै० सं० ६।१।१।। तु०—मै० सं० ३।६।२; का० सं०२३।१; ऐ०ब्रा० १।३।।

कच्चा। हमारे विचार में 'जला हुआ' अर्थ अधिक उचित है। शृतः से तात्पर्य है न जला हुआ न कच्चा, यथोचित रूप से पका हुआ।

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, यत्पूर्णम्—यहां भी भाष्यकार ने इस वचन को किस शाखा वा ब्राह्मण के ज्योतिष्टोम-प्रकरण से उद्धृत किया है,यह हमें ज्ञात नहीं। तै०ब्रा०१।६।८ में यह वचन पूर्वोक्त महापितृयज्ञ में ही पठित मिलता है। यह वचन अभिवान्या=मृतवत्सा गौ, जिसको अन्य के वत्स के सहारे दोहा जाता है, के दूध में सत्तू का मन्थ बनाने के प्रकरण में मिलता है। भाष्यकार ने प्रकृतसूत्र के भाष्य के अन्त में उपरि बिलाद् गृह्णाति विधिवाक्य दिया है। इसी के आधार पर शास्त्रदीपिका की सोमदेव की मयूखमालिका टीका में पितृयज्ञ के साथ ज्योतिष्टोम में भी यत् पूर्ण वाक्य को पठित कहा है। हमें उपलब्ध शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में ज्योतिष्टोम प्रकरण में कहीं नहीं मिला। दूध से परिपूर्ण शराव (=मिट्टी का पात्र) मनुष्यों को प्रिय होता है, ऊपर का भाग देवों को, और शेष भाग पितरों को। यहां अर्धः पुंल्लिग प्रयोग है। समप्रविभाग =बराबर के दो भागों के लिये नपुंसकलिङ्ग में अर्ध शब्द प्रयुक्त होता है (द्र०—काशिका२।२।२)। पुंल्लिङ्ग अर्ध शब्द का अर्थ भागमात्र है,चाहे वह बराबर के आधे भाग से कुछ न्यून हो, चाहे कुछ अधिक। घृतम् देवानाम्—यह वचन तै०सं०६।१।१ में ज्योतिष्टोमप्रकरणान्तर्गत दीक्षाप्रकरण में पठित है। घृतम्-मस्तु-निष्पक्वम्—मीमांसक इन शब्दों का अर्थ— क्रमशः 'अग्नि पर पिघलाया हुआ'; 'स्वयं विलीन'=साधारण गरमी से पिघला हुआ, 'वस्त्वन्तर के प्रक्षेप द्वारा सिद्ध किया हुआ' करते हैं (द्र०—शास्त्रदीपिका की मयूखमालिका व्याख्या)। ऐतेरेय ब्राह्मण (१।३) ज्योतिष्टोमान्तर्गत दीक्षाप्रकरण में पाठ आता है—आज्यं वै देवानां सुरभि,घृतं मनुष्याणाम्,आयुतम् पितॄणाम्। इसका अर्थ करते हुए षड्गुरुशिष्य और सायणाचार्य एक प्राचीन श्लोक पढ़ते हैं—

सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः।
विलीनार्धमायुतं तु नवनीतं यतो घृतम्॥

इसका तात्पर्य यह है कि [स्वयं] पिघला हुआ 'आज्यम्' कहाता है; घनीभूत=जमा हुआ 'घृतम्'जाना जाता है,आधा पिघला हुआ 'आयुतम्'होता है। 'नवनीतम्'जिससे घृत बनता है,अर्थात् मक्खन। मैत्रायणी संहिता २।३।३,४ में नवनीत सर्पि और घृत का निर्वचन इस प्रकार मिलता है—यन्नवमेवैत् तन्नवनीतमभवत्। यदसर्पत् तत्सर्पिः। यदध्रियत तद् घृतम्। अर्थात् दही को विलोकर जो नवीन प्राप्त हुआ वह नवनीत; जो साधारण ऊष्मा से पिघल कर बहने योग्य हुआ वह सर्पि, और जो जमकर धारण करने योग्य अथवा चिरकाल तक रखे जाने योग्य हुआ वह घृत कहाता है।

हमारे विचार में दोनों ब्राह्मणवचनों के अविरोध के लिये साधारण गरमी से विलीन (=पकाये) नवनीत को आज्य कहा जाता है, इसे ही तै०सं०में घृत शब्द से कहा है। और अच्छे प्रकार पकाया हुआ नवनीत जो छाछ की मात्रा न रहने से जमने के योग्य हो जाता है,उस के लिये

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धञ्च तद्वत् ॥११॥ (अतिदेश०)

'घृत' और 'निष्पक्व शब्द' का प्रयोग हुआ है। वस्त्वन्तर के प्रक्षेप से पकाया हुआ अर्थ अलौकिक है। आधा विलीन 'आयुतं वा 'मस्तु' जानना चाहिये। आयुर्वेद के ग्रन्थों में मस्तु का अर्थ 'द्विगुण जल के साथ बिलोया दधि' कहा है।

विशेष—जैसे पूर्व अधिकरण में प्राचीनवंश देवशाला और उदग्वंश मनुष्यशाला के विधान की हमने व्याख्या की है, तदनुसार इस अधिकरण में उद्धृत वचन भी प्रकारान्तर से इन अर्थों के ज्ञापक हैं—**यो विदग्धः**—वचन सामान्यरूप से पच्यमान मानव-भोजन के गुण दोष की व्याख्या करता है। अति पक्व या जली हुई रोटी वा भात आदि खानेयोग्य नहीं रहता है। कच्ची रोटी वा भात पेट में शूल=पीडा उत्पन्न करता है। जिसकी पाचन अग्नि अति प्रबल हो,वही पचा सकता है। अतः भोजन का पाक ऐसा होना चाहिये, जो न कच्चा रहे और न जले। **घृतं देवानाम्**—यहां घृत से तात्पर्य आज्य से है, यह हम पूर्व कह आये। हिमालय की जो देवभूमि है, वहां शीत प्रधान होने से साधारण ताप से पिघलाकर छाछ निकालकर रखा हुआ आज्य भी चिरकाल तक बिगड़ता नहीं है। अतः देवभूमि के निवासियों की सुरभि आज्य है। मनुष्यलोक हिमालय से नीचे का भाग उष्णताप्रधान है। अतः यहां मक्खन को अग्नि पर निष्पक्व=अच्छे प्रकार पकाकर जिसमें मट्ठे का अंश न रहे,ऐसा घृत बनाकर रखना ही उचित होता हैं। थोड़ी सी भी छाछ की मात्रा रह जाने से घृत सड़ने लगता है। पितर नाम है—पचास पचपन वर्ष से ऊपर के मनुष्य का। उनकी अग्नि प्रायः मन्द होती है। उनके लिये घृत के स्थान पर मस्तु आयुत वा मक्खन अधिक उपयोगी होता है। इसमें छाछ की मात्रा रहने से यह सुपाच्य होता है।यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्राचीन ग्रन्थों में, जहां देवकर्म अथवा मानव के उपयोग के लिये दुग्ध दही मट्ठा मक्खन घृत आदि का वर्णन मिलता है, वह केवल गव्य= गौ से उत्पन्न दुग्धादि का ही है। गौ के दुग्धादि भैंस के दुग्धादि से जहां पाक में लघु होते हैं, वहां शरीर को ऊर्जा भी अधिक पहुंचाते हैं।

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ॥११॥

सूत्रार्थः—(परुषिदितपूर्णघृतविदग्धम्) पर्व से काटी हुई कुशा, पूर्ण दूध से भरा पात्र, घृत और जला हुआ पुरोडाश इन के विधायक वचन (च) भी (तद्वत्) निवीतवचन के समान अर्थवाद हैं।

विशेष—सूत्र में 'परुषिदित' भाग 'परुषिदितम्' का अनुकरण है। अतः यहां 'परुषि' पृथक् पद नहीं है, और नाही सप्तमी का लुक् हुआ। इसी प्रकार पूर्ण घृत विदग्ध आदि भी तत्तद् वाक्यगत शब्दों के अनुकरण हैं। यहां समाहार द्वन्द्व समास है।

एतान्यपि तद्वत्। यो निवीते पूर्वः पक्षः स एतेषां पूर्वः पक्षः। यो मध्यमः स मध्यमः। यः सिद्धान्तः स एव सिद्धान्तः। अर्थवत्त्वान्मनुष्यसम्बन्धाच्च विधयोमनुष्यधर्माश्चेति पूर्वः पक्षः। उपरि मूले चानियमाल्लाघवम्। अगृतं रोगदत्वाद् रौद्रम् पूर्णेऽपि श्लक्ष्णत्वाल्लाघवम्। एवं घृतं[1] शिरसि निहितं मनुष्याणां सुखकरमेव। अर्थप्राप्तत्वाद् अनुवादः, इत्युत्तरः पक्षः। विधिः कर्मधर्मप्रायात् समाख्यानाच्च कर्मधर्म इति पक्षः। अन्वाहार्ये दक्षिणासु चेति वाक्यप्रकरणानुग्रहात् पक्षः। आतिथ्ये इति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अर्थवाद इति प्रकरणाद् विधिनैकवाक्यत्वादिति। पर्व प्रति लुनाति, उपरि बिलाद् गृह्णाति, नवनीतेनाभ्यङ्क्ते, अविदहता श्रपयितव्यम्, इत्येभिः सहैषामेकवाक्यभावः। तस्मादेते न विधयः,अर्थवादा इति ॥११॥ इति परुषि दितादीनामनुवादताऽधिकरणम् ॥३॥

—:०:—

[अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताऽधिकरणम् ॥४॥]

दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—नानृतं वदेत्,[2] इति। तत्र सन्देहः — किमयं प्रतिषेधो

व्याख्या—ये (=परुषि दित आदि वाक्य) भी उसी के समान अर्थात् निवीतवाक्य के समान हैं। जो निवीत में पूर्व पक्ष है वह इनमें भी पूर्व पक्ष है। जो निवीत में मध्यम पक्ष है वह इन में भी मध्यम पक्ष है। जो निवीत में सिद्धान्त है वह इनमें भी सिद्धान्त है। प्रयोजनवान् होने से और मनुष्य का संबन्ध होने से विधिवचन हैं और मनुष्यधर्म हैं, यह पूर्वपक्ष है। मूल के ऊपर के भाग में काटने का नियम न होने से लाघव है। कच्चा (=आधा ही पका) रोगकारक होने से रौद्र है। दुग्धादि से पूर्णपात्र में भी मनोहरता होने से लाघव है। इसी प्रकार शिर पर घृत रखा हुआ (=शिर में घृत की मालिश) मनुष्यों के लिये सुखकर ही होता है। अर्थ (=प्रयोजन) से प्राप्त होने से अनुवाद है, यह उत्तर (=दूसरा) पक्ष है। विधि तथा कर्म के धर्मों में पाठ होने से तथा आध्वर्यव समाख्या होने से कर्मधर्म है, यह तीसरा पक्ष है। अन्वाहार्य पाक और दक्षिणादि में वाक्य और प्रकरण का अनुग्रह होने [मनुष्यप्रधान कर्म में निवेश होता है], यह चौथा पक्ष है। वाक्यभेद की प्राप्ति होने से आतिथ्यकर्म में निवेश होता है [यह पांचवां पक्ष है]। प्रकरण और विधि के साथ एकवाक्यता होने से अर्थवाद है, यह सिद्धान्त है। पर्व प्रति लुनाति (=पर्व से काटता), उपरि बिलाद् गृह्णाति (=बिल से ऊपर ग्रहण करता है), नवनीतेनाभ्यङ्क्ते (=मक्खन से आंखों में अञ्जन करता है), और अविदहता श्रपयितव्यम् (=न जलाते हुए पकाना चाहिये) इन विधियों के साथ इन ['परुषि दितम्' आदि] वाक्यों की एकवाक्यता है। इसलिये ये विधियां नहीं है, अर्थवाद हैं ॥११॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में पढ़ा जाता है—नानृतं वदेत् (=झूठ न बोले)। इस में सन्देह

---

1. 'आयुतम्' पाठान्तरं सदप्यप्राकरणिकम्।   2. तै० सं० २।५।५।६॥

दार्शपौर्णमासिकस्य पदार्थस्य प्रकरणे एव निवेशः, अथ प्रायेण प्राप्तस्य कर्म्मणः पुरुषं प्रति प्रतिषेधः, पुरुषधर्म्मोऽयम् इति ? किं प्राप्तम् ?

अकर्म्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥ (पू०)

पुरुषधर्म्मः स्यात् । पुरुषस्यायमुपदिश्यते, न दर्शपूर्णमासयोः । कुतः ? पुरुषप्रयत्नस्य श्रवणात्, वदेदिति, वदनमनुतिष्ठेदिति श्रुत्या गम्यते । तस्य पुरुषसम्बन्धः श्रुत्यैव । कर्म्मसम्बन्धः प्रकरणात् । श्रुतिश्च प्रकरणाद् बलीयसी । इतरथा 'वदनं भवति' इत्येतावत्यर्थे वदनमनुतिष्ठेदिति, अविवक्षितस्वार्थः परार्थो विध्यर्थो भवेत् । पुरुषस्योपदेशे पुनर्विवक्षितस्वार्थ एव शब्दः । तस्मात् पुरुषस्योपदेशः । यस्य चोपदेशस्तस्यायं प्रतिषेधः । स चायमर्थ उपनयनकाल एव पुरुषस्य प्रतिषिद्धः । तेन संयोगेन अयं नित्याऽनुवादः ।

होता है – क्या इस प्रकार का प्रतिषेध दर्शपूर्णमाससम्बन्धी पदार्थ के प्रकरण में ही निविष्ट करना चाहिये, अथवा प्राय करके प्राप्त [अनृतवदन] कर्म का पुरुष के प्रति प्रतिषेध है, अतः यह पुरुषधर्म है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण – प्रायेण प्राप्तस्य कर्मणः: – मनुष्य राग तथा लोभ आदि के वशीभूत होकर प्राय करके झूठ बोलते हैं, उसका प्रतिषेध है कि पुरुष झूठ न बोले ।

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

सूत्रार्थः—(क्रतुसंयुक्तम्) क्रतु से संयुक्त = क्रतुविशेष के प्रकरण में पठित (अकर्म) कर्म का प्रतिषेध (संयोगात्) पुरुष के साथ संयोग होने से अर्थात् 'वदेत्' में पुरुष के प्रयत्न का श्रवण होने से (नित्यानुवादः) नित्यरूप से स्मृति आदि में 'झूठ न बोलने' रूप **उपदेश** का अनुवाद (स्यात्) होवे ।

व्याख्या–[नानृतं वदेत् यह] **पुरुष का धर्म होवे। पुरुष का यह धर्म उपदिष्ट है, दर्शपूर्णमास का नहीं है । किस हेतु से ? पुरुष के प्रयत्न का श्रवण होने से । 'वदेत्' यह वदन (= कथन) का अनुष्ठान करे, यह [लिङ् विभक्तिरूप] श्रुति से जाना जाता है। उस (नानृतं वदेत्) का पुरुष के साथ सम्बन्ध श्रुति से ही है । कर्म के साथ सम्बन्ध प्रकरण से जाना जाता है । श्रुति प्रकरण से बलवती है । अन्यथा 'कथन होता है' इतने मात्र के अर्थ में 'कथन करे' 'यह अविवक्षित स्वार्थवाला परार्थविधि के लिये होवे । पुरुष के प्रति उपदेश में विवक्षित स्वार्थवाला ही [वदेत्] शब्द होता है । इसलिये ['वदेत्' यह] पुरुष के प्रति उपदेश है । जिसके प्रति उपदेश है, उसी का यह प्रतिषेध है । वह [= अनृतवदनप्रतिषेधरूप] यह अर्थ उपनयनकाल में ही पुरुष के प्रति निषिद्ध है, [अर्थात् उपनयनसंस्कार के समय ही आचार्य उपदेश करता है—सत्यं वद = सत्य ही बोल = झूठ मत बोल । उस [अनृतवदनप्रतिषेध के साथ पुरुष] के संयोग से यह नित्य प्राप्त [झूठ मत बोल] का अनुवाद है ।**

नन्वेषा श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलम् । नैषा तस्या मूलं भवितुमर्हति । यदि इयं तन्मूलिका भवेत्, दर्शपूर्णमासयोरिति स्मर्येत । उपनयनकाले एव चास्योपदेष्टारो भवन्ति। अपि च, पुरुषधर्म्मं इत्युपदिशन्ति । तस्मान्नैषा स्मृतिरतः श्रुतेरिति ॥१२॥

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥ (उ०)

विधिर्वाऽयं दर्शपूर्णमासयोः, नानृतं वदेदिति, नाऽनुवादः । कुतः ? संयोगान्तरात्। नियमानुष्ठानेन पुरुषस्य सम्बन्धः स्मर्यते । पदार्थप्रतिषेधेनेह संयोगः पुरुषस्य । कथमन्य-

---

विवरण—इतरथा वदनं भवति—इसका अभिप्राय यह है, कि उपनयनकाल में ही सर्वकाल में अनृतवदन का प्रतिषेध होने से **नानृतं वदेत्** का दर्शपूर्णमास कर्म के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर 'दर्शपूर्णमास में 'झूठ नहीं बोलना है' इतना ही अर्थ जाना जायेगा। 'वदेत्' में जो लिङ् विभक्ति का अर्थ 'अनुतिष्ठेत्' है, वह स्वार्थ-परित्यक्त होता है । **परार्थो विध्यर्थो भवेत्**—परार्थ= दर्शपूर्णमास कर्म के प्रति विधायक होवे । **पुरुषोपदेशे—पुरुषोऽनृतवदनं न कुर्यात्** ऐसा पुरुष के प्रति उपदेश होने से लिङ् विभक्ति का अपना अर्थ विवक्षित रहता है ।

व्याख्या—अच्छा तो यह [नानृतं वदेत्] श्रुति उस [उपनयनकालिक] स्मृति का मूल होवे । यह [दर्शपूर्णमासप्रकरण में पठित] श्रुति उस [=उपनयनकालिक] स्मृति का मूल नहीं हो सकती है । यदि यह [उपनयनकालिक स्मृति] उस दर्शपूर्णमासपठित श्रुति की] मूलवाली होवे, तो वहां दर्शपूर्णमास का श्रवण होवे, [अर्थात् वह स्मृति भी दर्शपूर्णमास में अनृतवदन का प्रतिषेध करनेवाली होवे] । इस [अनृतवदनप्रतिषेध] का उपनयनकाल में उपदेश करनेवाले [आचार्य आदि] होते हैं । और भी, ['झूठ न बोले' यह] पुरुष का धर्म है, ऐसा उपदेश करते हैं । इसलिये यह [उपनयनकाल की 'झूठ मत बोल'] स्मृति इस [दर्शपूर्णमास प्रकरणस्थ] श्रुति से नहीं है, अर्थात् इस श्रुति से उत्थित नहीं है ॥१२॥

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् **नानृतं वदेत्** श्रुति अनुवाद नहीं है । (विधिः) विधि=विधायिका है । (संयोगान्तरात्) अनृतवदनरूप पदार्थ के प्रतिषेधरूप भिन्नसंयोग के होने से । अर्थात् उपनयनकाल में स्मृति से **सत्यमेव वदेत्** से पुरुष का सम्बन्ध जाना जाता है । और यहां **अनृतं न वदेत्** अनृत पदार्थ के प्रतिषेध के साथ पुरुष का संयोग कहा जाता है ।

व्याख्या—नानृतं वदेत् यह दर्शपूर्णमास में विधि है, अनुवाद नहीं है । किस हेतु से ? अन्यसंयोग के कारण । [सत्यमेव वदेत् इस] नियम के अनुष्ठान से पुरुष का सम्बन्ध स्मृति में कहा है । और यहां [अनृतवदनरूप] पदार्थ के प्रतिषेध से पुरुष का संयोग सुना जाता है । अन्य

च्छ्रूयमाणमन्यस्यानुवादो भविष्यति ? तस्माद् विधिः प्रतिषेधस्यायम् । आह - गृह्णीम एतद्, विधिरिति । पुरुषधर्म्म इति तु गृह्णीमः पुरुषप्रयत्नस्य श्रुतत्वात् । अत्र ब्रूमः - सर्वेष्वाख्यातेषु क्रियानुष्ठानं श्रूयते, न कारकं किञ्चित् । कथमेतद् गम्यते ? प्रत्ययाद्, यतः क्रियामनुष्ठेयां प्रतीमः । 'ननु कर्त्तारमपि प्रतियन्ति' । सत्यम्, प्रतियन्ति, न तु शब्दात् । कुतस्तर्हि ? अर्थात् । यदा क्रिया अनुष्ठातव्या विधीयते, तदाऽर्थात् कारकव्यापारो गम्यते । यश्चार्थाद् गम्यते, न स श्रौतः । यश्च न श्रौतः, न स वाक्याद् गम्यते । कथमसौ प्रकरणं बाधिष्यते ?

आह—'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः'[1] इत्याचार्य्योपदेशात् कर्त्ता शब्दार्थः कर्म्म चेत्यवगम्यते -'कर्त्तरि शप्[2],' कर्म्मणि यक्[3]' इति प्रत्ययार्थं कर्त्तारं कर्म्म च समामनन्त्याचार्य्याः । तस्माच्छाब्दार्थः कर्त्ता कर्म्म चेति । उच्यते—न आचार्य्यवचनात् सूत्रकारवचनाद् वा शब्दार्थो भवति । प्रत्ययादसौ गम्यते । अनुष्ठेया च क्रिया प्रतीता सती

का श्रवण अन्य का अनुवाद कैसे होगा ? इसलिये यह प्रतिषेध की विधि है । (आक्षेप) 'यह विधि' है' इसे हम स्वीकार करते हैं । पुरुष का धर्म है, यह [लिङ् प्रत्यय से] पुरुष के प्रयत्न के श्रवण होने से स्वीकार करते हैं । (समाधान) सब आख्यातों में क्रिया का अनुष्ठान सुना जाता है, कोई कारक नहीं सुना जाता है । यह कैसे जाना जाता है ? प्रत्यय से, जिससे अनुष्ठेय क्रिया को जानते हैं । (आक्षेप) [प्रत्यय से] कर्ता को भी जानते हैं, अर्थात् कर्ता की भी प्रतीति होती है । (समाधान) सत्य है, कर्ता को भी जानते हैं, परन्तु शब्द से नहीं जानते । तो किससे [कर्त्ता को] जानते हैं ? सामर्थ्य से । जब अनुष्ठानयोग्य क्रिया का विधान किया जाता है, तब सामर्थ्य से कारक का व्यापार जाना जाता है । और जो सामर्थ्य से गृहीत होता है, वह श्रौत (= श्रुति से गृहीत) नहीं होता है । और जो श्रौत नहीं है, वह वाक्य से नहीं जाना जाता है, वह (श्रुति-अगम्य) भला कैसे प्रकरण को बाधेगा ?

(आक्षेप) 'प्रकृति और प्रत्यय साथ मिलकर अर्थ को कहते हैं' इस आचार्यों के उपदेश से कर्त्ता और कर्म शब्द का अर्थ है, यह जाना जाता है —कर्तरि शप् (=कर्त्ता में शप् प्रत्यय होता है), और कर्मणि यक् (=कर्म में यक् प्रत्यय होता है) से कर्त्ता और कर्मरूप प्रत्ययार्थ का आचार्य समाम्नान करते हैं । इसलिये कर्त्ता और कर्म शब्द का अर्थ है । (समाधान) आचार्यों के वचन से अथवा सूत्रकार के वचन से [कर्त्ता और कर्म] शब्द का अर्थ नहीं होता है । प्रत्यय (= प्रतीति) से वह जाना जाता है । अनुष्ठानयोग्य प्रतीत हुई क्रिया कारकों का बोध कराती है, यह

---

१. काशिकायाम् १।२।५६ सूत्रवृत्तावुद्धृतोऽयं पाठः । तत्र 'प्रधानार्थं' इति त्रुटितः पाठः ।

२. अष्टा० ३।१।६८॥ ३. नायं साक्षात् पाणिनीयं सूत्रम्, अपि तु सार्वधातुके यक् (अष्टा० ३।१।६७) सूत्रस्यार्थत एकदेशस्यानुवादः ।

कारकाणि प्रत्याययतीत्यवगतमेतत् । अपि च, नैव कर्त्ता प्रत्ययार्थः कर्म्म वेति आचार्य्या आहुः । ननु कर्त्तरि कर्मणि च लकारः श्रूयते[1] । नासौ कर्त्तरि कर्मणि वा श्रूयते, किन्त्वेकस्मिन्नेकवचनं, द्वयोर्द्विवचनं, बहुषु बहुवचनम्, इति तत्रापरं वचनम् । तत्रैवमभिसम्बन्धः क्रियते—एकस्मिन् कर्त्तरि, द्वयोः कर्त्रोर्बहुषु कर्तृष्विति । एवं कर्मण्येकत्वादिसम्बन्धः । तत्र नैवं भवति—कर्त्तरि भवति, एकस्मिँश्चेति । कथं तर्हि ? कर्त्तरि एकस्मिन्नेकवचनं, कर्त्तुरेकत्वे इत्यर्थः । एवं द्वित्वे बहुत्वे कर्म्मणि च । एवं वर्ण्यमाने लौकिकन्यायानुगतः सूत्रार्थो वर्णितो भवति । सूत्राक्षराणि च न्यायानुगतानि भवन्ति । आगमोऽपि चायमेव—'यदैकत्वादयो विभक्त्यर्थास्तदा कर्मादयो विशेषणत्वेन'[2] इति । नन्वेतदप्यस्ति—'यदा कर्मादयो विभक्त्यर्थास्तदा एकत्वादयो विशेषणत्वेन'[3] इति । उच्यते—अर्थप्राप्ता हि कर्मादयः, ते न भवन्ति शब्दस्याभिधेयभूताः । न त्वेकत्वादयोऽर्थात् प्राप्नुवन्ति । तेन ते शब्दार्थभूताः । तस्माद् यद्यपि विशेषणमेकत्वादयः,तथापि विशेषणमेवाभिधीयते । यथा— हिरण्यमालिन ऋत्विज प्रचरति'[4] इति हिरण्यमालित्वं विशेषणत्वेन, तथापि तदेव विधीयते । तस्मात् कर्त्तुरेकत्वं शब्दार्थो, न कर्त्ता ।

जाना गया है । और भी, कर्त्ता अथवा कर्म प्रत्यय का अर्थ है, यह आचार्य नहीं कहते हैं । (आक्षेप) कर्त्ता और कर्म में लकार सुना जाता है । (समाधान) यह लकार कर्त्ता वा कर्म में नहीं सुना जाता है, किन्तु वहां 'एक में एकवचन' 'दो में द्विवचन', और बहुतों में बहुवचन होता है, यह वहां अन्य वचन है । वहां इस प्रकार से सम्बन्ध करते हैं—एक कर्त्ता में, दो कर्त्ताओं में और बहुत कर्त्ताओं में । इसी प्रकार कर्म में भी एकत्व आदि का सम्बन्ध होता है । वहां ऐसा [संबन्ध] नहीं होता है— [लकार] कर्त्ता में होता है, और एक में । तो कैसे होता है ? कर्त्ता के एक में एकवचन, अर्थात् कर्त्ता के एकत्व में । इसी प्रकार द्वित्व बहुत्व और कर्म में जानना चाहिये । इस प्रकार वर्णन करने पर लौकिकन्याय के अनुकूल सूत्रार्थ वर्णित होता है । और सूत्र के अक्षर भी न्यायानुगत होते हैं।आगम भी यही है–'जब एकत्वादि विभक्ति के अर्थ होते हैं,तब कर्मादि विशेषणरूप से जाने जाते हैं' ।(आक्षेप यह भी तो[आगम]है—'जब कर्मादि विभक्ति के अर्थ होते है, तब एकत्वादि विशेषणरूप से जाने जाते है ।' (समाधान) कर्मादि सामर्थ्य से प्राप्त हैं, वे शब्द के अभिधेय(=वाच्य)रूप नहीं होते हैं । एकत्वादि सामर्थ्य से प्राप्त नहीं होते हैं । इस कारण वे शब्द के अर्थरूप हैं । इस हेतु से यद्यपि एकत्वादि विशेषण हैं, फिर भी विशेषणरूप से [लकार से] कहे जाते हैं । जैसे—हिरण्यमालिन ऋत्विजःप्रचरन्ति(=हिरण्य की मालावाले ऋत्विक् कर्म करते हैं) में हिरण्यमालित्व विशेषणरूप से सुना जाता है, तथापि उसी का विधान होता है । इसलिये कर्त्ता का एकत्व शब्दार्थ है, कर्त्ता नहीं है ।

---

१. द्र०—लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (अष्टा० ३।४।६९) ।

२. द्र०—महाभाष्ये कर्मादिभिरेकत्वादीन् विशेषयिष्यामः (१।४।२१)।

३. द्र०—सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ॥ महा० १।४।२१ ।

४. वाजपेये श्रूयते—हिरण्यमालिन ऋत्विजः सुत्येऽहनि प्रचरन्ति । आप०श्रौत १८।२।११॥

ननु कर्त्तुरेकत्वादेकवचनम्, कर्त्तुर्द्वित्वाद् द्विवचनम्, कर्त्तुर्बहुत्वाद बहुवचनम्। तेन नूनं 'कर्त्ता शब्दार्थः' इति गम्यते। उच्यते—नैतदनुमानाच्छक्यम्। कर्त्ता अनुष्ठेयक्रियावगमादेवावगम्यते, इति प्रत्यक्षम्। तत्तावत् केनचिन्न बाध्यते। एकवचननिर्देशे कर्त्रैकत्वं

विवरण—प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः—यह पूर्वाचार्यों का वचन है, ऐसा काशिकाकार ने **प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्** (अष्टा० १।२।५६) सूत्र की वृत्ति में कहा है। **कर्तरि शप्**—यह पाणिनि का साक्षात् सूत्र (अष्टा० ३।१।६८) है। **कर्मणि यक्**—यह पाणिनि के **सार्वधातुके यक्** (अष्टा० ३।१।६७) सूत्र का अर्थतः अनुवाद है। '**सार्वधातुके यक्**' सूत्र में **चिण् भावकर्मणोः** (अष्टा० ३।१।६६) से भाव और कर्म की अनुवृत्ति है। **न आचार्यवचनात्**—इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि शास्त्रकार आचार्य अर्थों का विधान नहीं करते हैं, अपितु लोकविज्ञात अर्थ के द्वारा शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन करते हैं। इसीलिये व्याकरणशास्त्र स्मृति कहाता है। **कर्तरि कर्मणि च लकारः श्रूयते**—इसका भाव यह है कि सूत्रकार पाणिनि ने **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** (३।४।६९) सूत्र से 'सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में लकार का विधान किया है। इससे जाना जाता है, कि कर्त्ता और कर्म लकार के अर्थ हैं। **नासौ कर्मणि एकस्मिन्नेकवचनम्**—इसका आशय यह है, कि लकारविधायक सूत्र के साथ **बहुषु बहुवचनम्, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (अष्टा० १।४।२१, २२) सूत्रों की एकवाक्यता होकर 'कर्म वा कर्त्ता के एकत्व में एकवचन होता है, द्वित्व में द्विवचन, और बहुत्व में बहुवचन रूप लकारादेश होता है' अर्थ गृहीत होता है। **आगमोऽपि चायमेव—यदेकत्वादयो विभक्त्यर्थाः**—इस वचन का संकेत, '**न वै कर्मादियो विभक्त्यर्थाः। के तर्हि? एकत्वादयः। एकत्वादिष्वपि वै विभक्त्यर्थेष्ववश्यं कर्मादयो निमित्तत्वेनोपादेयाः। कर्मण एकत्वे, कर्मणो द्वित्वे, कर्मणो बहुत्वे। … कर्मादिभिरेकत्वादीन् विशेषयिष्यामः। कथम्? एकस्मिन्नेकवचनम्। कस्यैकस्मिन्? कर्मणः**' इत्यादि महाभाष्य (१।४।२१) के वचन की ओर संकेत प्रतीत होता है। **नन्वेतदप्यस्ति—यदा कर्मादयोऽर्थाः**—यह पक्ष महाभाष्य में साक्षात् निर्दिष्ट नहीं है, तथापि १।४।२१ के भाष्य में '**सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्**, इस श्लोकवार्तिक से ध्वनित होता है। **हिरण्यमालिन ऋत्विजः**—यह विधि वाजपेयक्रतु में जिस दिन सोम का अभिषव होता है, उस दिन की है। द्र० —**हिरण्यमालिन ऋत्विजः सुत्येऽहनि प्रचरन्ति** (आप० श्रौत १८।२।११)। **तथापि विशेषणमेवाभिधीयते**—इसका तात्पर्य है कि वाजपेय अग्निष्टोम की विकृति है। उस से **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या अतिदेश** से ऋत्विजों की प्राप्ति हो ही जाती है। अतः ऋत्विजों का यहां विधान नहीं है, केवल हिरण्यमालित्व का ही विधान है।

व्याख्या—(आक्षेप) कर्त्ता के एकत्व से एकवचन होता है, कर्त्ता के द्वित्व से द्विवचन, और कर्त्ता के बहुत्व से बहुवचन। इस से निश्चय ही 'कर्त्ता शब्दार्थ है' ऐसा जाना जाता है। (समाधान) यह (=कर्त्ता का शब्दार्थत्व) अनुमान से जानना शक्य नहीं है। अनुष्ठेय क्रिया के ज्ञान से ही कर्त्ता जाना जाता है, यह प्रत्यक्ष है। क्योंकि वह ज्ञान किसी से बाधित नहीं होता है। एकवचन

गम्यते, द्विवचननिर्देशे कर्त्तुर्द्वित्वं,बहुवचननिर्देशे कर्त्तृबहुत्वम्, । तदपि प्रत्यक्षम् । कतर-दत्रानुमानं बाधितुमर्हतीति ? यथा आकृतिवचने शब्दे द्विवचने द्रव्यभेदोऽवगम्यते, एक-वचने द्रव्यैकत्वम्, एवमिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मान्न श्रौतः । न चेच्छ्रौतो, न प्रकरणं बाधिष्यते ।

'यत्तु पुरुषप्रयत्नोऽनर्थको भवति कर्मधर्मपक्षे, प्रयोगवचनेन कर्त्तव्यतावचनादिति'। तदुच्यते – अङ्गं सत् प्रकरणेन गृह्येत, न चाविहितमङ्गं भवति । तस्मादङ्गत्वाय विधातव्यमस्मिन्नपि पक्षे । अतो मन्यामहे प्राकरणिकस्यायं निषेध इति । तस्मात् तदङ्गं यदनृतम्, तद् न वाच्यमिति । तेन यत् सङ्कल्पितं तदङ्गम् । तदेव कर्त्तव्यम् । व्रीहिमयं सङ्कल्प्य न यवमयः प्रदेयः । आह, यदोभयोरपि पक्षयोर्नानृतं वदितव्यम्, तदा को विचा-रेणार्थ इति ? उच्यते–पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषधर्मः । तत्र भ्रंशे स्मार्त्तं प्रायश्चित्तम् । सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासधर्मः । तत्र भ्रंशे याजुर्वैदिकं प्रायश्चित्तम्॥१३॥ **इत्यनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मता-ऽधिकरणम् ।४॥**

—:०:—

के निर्देश में कर्त्ता का एकत्व जाना जाता है, द्विवचन के निर्देश में कर्त्ता का द्वित्व, और बहुवचन के निर्देश में कर्त्तृ बहुत्व । यह भी प्रत्यक्ष है । यहां कौनसा अनुमान इसे बाधने में समर्थ सकता है ? जैसे आकृति वाचक शब्द में द्विवचन होने पर द्रव्यभेद जाना जाता है ,एकवचन में द्रव्य में एकत्व,इसी प्रकार यह भी जानना चाहिये । इसलिये कर्त्ता का विधान श्रौत (=श्रुति = प्रत्यय श्रुति से बोधित)नहीं है । और यदि श्रौत नहीं हैं, तो [दर्शपूर्णमास] प्रकरण को बाधित नहीं करेगा ।

और जो यह कहा है कि – पुरुषप्रयत्न कर्मधर्मपक्ष में अनर्थक होता है, प्रयोगवचन से कर्तव्यता का कथन होने से'। इस विषय में कहते हैं [अनृतवदन-प्रतिषेध दर्शपूर्णमास का] अङ्ग होते हुए प्रकरण = प्रयोगवचन से गृहीत होवे, और अविहित अङ्ग नहीं होता है। इसलिये अङ्गत्व के ज्ञान के लिये इस पक्ष (=कर्मधर्मपक्ष) में भी विधातव्य (=विधानार्ह) है। इसलिये हम मानते हैं कि प्राकरणिक [जो अनृतवदन है, उस] का यह निषेध है । इसलिये [प्राकरणिक का प्रतिषेध होने से] वह [दर्शपूर्णमास का] अङ्ग है, जो अनृत है, वह बोलने योग्य नहीं है । इसलिये जो संकल्पित है वह अङ्ग है । उसे ही करना चाहिये । व्रीहिमय हवि का संकल्प करके यवमय हवि देने योग्य नहीं होती है । (आक्षेप) जब दोनों ही पक्षों में अनृत नहीं बोलना है, तो इस विचार का क्या प्रयोजन है ? (समाधान) पूर्वपक्ष में [अनृतवदन निषेध'] पुरुष का धर्म है । उसमें भ्रंश होने पर (=कारणवश अनृत बोलने पर) स्मृतिशास्त्रोक्त प्रायश्चित्त होगा। सिद्धान्त में दर्शपूर्णमास कर्म का धर्म है । उसमें भ्रंश होने पर यजुर्वेद में विहित प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ।

विवरण व्रीहिमयं संकल्प्य न यवमयः प्रदेयः—व्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेत इन दो श्रुतिवचनों

[जञ्जभ्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाऽधिकरणम् ॥५॥]

ज्योतिष्टोमे श्रूयते—**अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोकमायन्। तेऽप्सु दीक्षातपसी प्रावेशयन्।** तीर्थेस्नाति,तीर्थमेव हि सजातानां भवति[1] इति। दर्शपूर्णमासयोराम्नायते--**तस्माज्जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू** इति, **प्राणापानावेवात्मन्धत्ते**[2] इति। तत्र सन्देहः—किमयं धर्मः प्रकरणे निविशते, उत पुरुषस्योपदिश्यते इति ? किं तावत् प्राप्तम् ?

से समानरूप से हव्य द्रव्य का विधान होने से विकल्प होता है—**श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ** (मनु० २।१४)। प्रत्येक विकल्प के विषय में कर्मारम्भ के समय संकल्प करना होता है कि मैं इस पक्ष को स्वीकार करता हूं। तदनुसार व्रीहिपक्ष को स्वीकार करने पर यवमय हवि नहीं दी जाती है ॥१ ॥

—:०:—

व्याख्या—ज्योतिष्टोम में सुना जाता है--अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोकमायन्। तेऽप्सु दीक्षातपसी प्रावेशयन्।तीर्थे स्नाति, तीर्थमेव सजातानां भवति(=**अङ्गिरस् के पुत्र निश्चय ही यहां से उत्क्रमण करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त हुए। उन्होंने जलों में अपनी दीक्षा और तप को प्रविष्ट कर दिया। जो यजमान तीर्थ में स्नान करता है, वह निश्चय से अपने सजातों=समान व्यक्तियों में तीर्थ के समान बहुत उपकारक होता है**)। **दर्शपूर्णमास में पढ़ा है**--जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयान्मयि दक्षक्रतू प्राणापानावेवात्मन् धत्ते (=**जम्भाई लेता हुआ 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र को बोले। प्राण और अपान को ही अपने में धारण करता है**)। **इसमें सन्देह है क्या यह** (=**तीर्थस्नान और मन्त्र का पाठरूप**) **धर्म प्रकरण में निविष्ट होता है, अथवा पुरुष के लिये उपदिष्ट है ?क्या प्राप्त होता है ?**

विवरण--अङ्गिरसो वा इतः--ऊपर मूलपाठ का शब्दार्थमात्र दिया है। और दीक्षा= मुण्डन तप=उपसद्रूप कर्म। यह पुराकल्परूप अर्थवाद है। वस्तुतः यहां शब्दार्थ से प्रतीयमान आङ्गिरस ऋषियों के स्वर्गगमन का उल्लेख नहीं है। यह सूर्य की रश्मियों का वर्णन है। अङ्गिरस (=अङ्गिरा) नाम सूर्य का है। उसके पुत्र=उससे उत्पन्न आङ्गिरस किरणों का नाम है। बहुवचन में अपत्यार्थक प्रत्यय का लोप होकर 'अङ्गिरसः' प्रयोग होता हैं। ये 'अङ्गिरसः' मध्यमस्थानीय (=अन्तरिक्ष में व्याप्त) देव हैं। जब सूर्य की किरणें नदी वा तालाब के पानी पर पड़ती

---

१. तै० संहितायामित्थं श्रूयते-- अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्तोऽप्सु दीक्षातपसी प्रावेशयन्। अप्सु स्नाति ·····। तीर्थे स्नाति तीर्थमेव सजातानां भवति। ६।१।१।१-२।। तु०—बौधा० श्रौत १।४।१।।

२. द्र० – तस्माज्जंजभ्यमानो ब्रूयान्मयि दक्षक्रतू इति। प्राणापानावेवात्मन्धत्ते। तै० सं० २।५ २।४।।

अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०)

अहीनवत् पुरुषः । तदर्थत्वात् एष विधिः प्रकरणादुत्कृष्येत । कुतः ? पुरुषश्रुतेः । ब्रूयादिति पुरुषप्रयत्नस्य विवक्षितत्वात् । 'ननु प्रकरणं बाध्यते' । उच्यते —बाध्यतां प्रकरणम् । वाक्यं ह्यस्य बाधकम्, जञ्जभ्यमानसंयोगात् । प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोरुपदिश्यते इति गम्यते, वाक्याज्जञ्जभ्यमानस्य । वाक्यञ्च प्रकरणाद् बलीयः । तस्मादुत्कृष्येतेति ।

हैं, तब अपनी दीक्षा = प्राण[1] और तप = उष्णता जल में छोड़कर वापस उत्क्रमण करती हुई सूर्यलोक को प्राप्त होती हैं । सूर्यकिरणों के इस प्रभाव से नदी वा तालाब का जल प्राण और तेज का वर्धक होता है । तीर्थे स्नाति—तीर्थ नाम यहां जल का है । जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयात्—जञ्जभ्यमान शब्द जभी गात्रविनामे धातु के यङन्त का शानच् प्रत्यय का रूप है । इसका अर्थ है 'जंभाई लेनेवाला' । तै० सं० २।५।२ में इस प्रकरण में लिखा है—जम्भाई लेनेवाले के प्राण और अपान निकल जाते हैं । उन्हें पुनः प्राप्त करने के लिये 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र का पाठ करे । दक्ष प्राण है, और क्रतु अपान । यहां इतना अंश ही मन्त्ररूप से विवक्षित है । पूरा मन्त्र संहिता वा ब्राह्मण आदि में हमें अन्यत्र नहीं मिला है ।

अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थः—जैसे द्वादशोपसदोऽहीनस्य में (अहीनवत्) अहीन का श्रवण है, तद्वत् यहां (पुरुषः) पुरुष = पुरुषप्रयत्न सुना जाता है । (तदर्थत्वात्) स्नान और मन्त्रपाठ पुरुष के लिये होने से पुरुषधर्म है । अतः इनका स्वप्रकरणों से उत्कर्ष होना चाहिये ।

विशेष—पूर्व (अ० ३, पाद ३ अधि० ८ सूत्र १५, १६ में) विचार किया है कि द्वादशाहीनस्य से विहित १२ उपसदों का निवेश ज्योतिष्टोमप्रकरण में ही होवे, अथवा इनका उत्कर्ष करना चाहिये ? उत्कर्ष होता है, ऐसा वहां सिद्धान्त किया है । उसी का सूत्र में 'अहीनवत्' से निर्देश किया है । जैसे द्वादश उपसद होना अहीन कर्म का धर्म होने से उसका ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष होता है, वैसे ही स्नानादि के पुरुषधर्म होने से प्रकरण से उत्कर्ष होगा ।

व्याख्या—अहीन के समान पुरुष का श्रवण है । तदर्थ = पुरुष के लिये होने से यह विधि प्रकरण से उत्कृष्ट होवे । किस हेतु से ? पुरुष का श्रवण होने से । 'ब्रूयात्' से पुरुषप्रयत्न के विवक्षित होने से । (आक्षेप) [उत्कर्ष होने पर] प्रकरण बाधित होता है । (समाधान) प्रकरण बाधित होवे । इस (=प्रकरण) का बाधक वाक्य है, जञ्जभ्यमान (=जंभाई लेनेवाले) पुरुष का संयोग होने से । प्रकरण से दर्शपूर्णमासकर्मों का धर्म उपदिष्ट होता है ऐसा जाना जाता है, और वाक्य से जंभाई लेनेवाले पुरुष का । वाक्य प्रकरण से बलवान् है । इस हेतु से [प्रकरण से]

---

१. प्राणा दीक्षा । तै० ब्रा० ३।८।१०।२॥

फलमप्यामनन्ति— **प्राणापानावेवात्मन्धत्ते** इति। स च संयोगो बाध्यते। तस्मात् पुरुषधर्मः प्रकरणादुत्कृष्येत। अहीनवत्। यथा अहीनसंयोगाद् द्वादशोपसत्ता प्रकरणादुत्कृष्यते। एवं जञ्जभ्यमानसंयोगान्मयि दक्षक्रतू इति वचनम्॥१४॥

प्रकरणाविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत्॥१५॥ (उ०)

न वोत्कृष्टव्यम्। कुतः? प्रकरणविशेषात्। प्रकरणयुक्त एव जञ्जभ्यमानो वचनेन संस्क्रियते। यथा यवादिद्रव्यं प्रोक्षणादिना। ननु, न शक्नोति प्रकरणं जञ्जभ्यमानशब्दमेकदेशेऽवस्थापयितुम्। वाक्यं हि प्रकरणाद् बलवत्तरमिति। उच्यते—न ब्रूमो जञ्जभ्यमानशब्दः प्रकरणेन अप्राकरणिकात् पुरुषान्निवर्त्यते इति। किन्तु फलं तत्र कल्पनीयम्। ननु प्रत्यक्षं श्रूयते फलम्— **प्राणापानावेवात्मन्धत्ते** इति। नेति ब्रूमः। नात्र

उत्कृष्ट होवे। [मन्त्रपाठ का] फल भी पढ़ते हैं —'प्राण और अपान को अपने में धारण करता है'। [कर्म का धर्म होने पर] वह (=फल का संयोग) बाधित होता है। इसलिये पुरुष का धर्म [होने से] प्रकरण से उत्कृष्ट होवे। अहीन के समान। जैसे अहीन के संयोग से द्वादश उपसद् होना प्रकरण से उत्कृष्ट होता है। इसी प्रकार जंञ्जभ्यमान केसंयोग से 'मयि दक्षक्रतू' यह वचन उत्कृष्ट होता है॥१४॥

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत्॥१५॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् प्रकरण से उत्कर्ष नहीं करना चाहिये। (प्रकरणविशेषात्) प्रकरणविशेष से (तद्युक्तस्य) उस प्राकरणिक दर्शपूर्णमास क्रतु से युक्त जञ्जभ्यमान=जंभाई लेनेवाले पुरुष का (द्रव्यवत्) यवादि द्रव्यवत् (संस्कारः) संस्कार होता है।

विशेष--सुबोधिनी वृत्ति में **प्रकरणाविशेषात्** पाठ है। उसका अर्थ है—प्रकरणपठित अन्य विनियोगों से विशेष न होने से क्रतु का अङ्ग है।

व्याख्या—**[जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयात् का प्रकरण में] उत्कर्ष नहीं करना चाहिये। किस हेतु से? प्रकरणविशेष होने से। प्रकरण से युक्त ही जञ्जभ्यमान पुरुष ['मयि दक्षक्रतू']मन्त्र के पाठ से संस्कृत किया जाता है। जैसे यवादि द्रव्य प्रोक्षण आदि से संस्कृत किया जाता है। (आक्षेप) जञ्जभ्यमान शब्द को प्रकरण एकदेश (=दर्शपूर्णमास) में अवस्थित करने में अशक्य है। वाक्य प्रकरण से बलवत्तर है। (समाधान) हम यह नहीं कहते कि जञ्जभ्यमान शब्द प्रकरण के द्वारा अप्राकरणिक पुरुष से हटाया जाता है। किन्तु[अप्राकरणिक पुरुष का धर्म मानने पर उस मन्त्र के पाठ के]फल की कल्पना करनी होगी। (आक्षेप)फल प्रत्यक्षश्रुत है— प्राण और अपान को अपने भीतर धारण करता है। (समाधान) यह फल का विधान नहीं है। यहां विधायक [लिङादि]**

विधायकं शब्दमुपलभामहे। य एषः—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते इति वर्त्तमानापदेश एषः, न विधायकः। स्तावकस्तु भवति मन्त्रवचनस्य। तस्माद्दर्शपूर्णमासाभ्यामन्यत्रैतन्न फलवत्। अतः पुरुषस्य दर्शपूर्णमासौ कुर्वतः संस्कारकर्म इति गम्यते।

आह, 'पुरुषसंस्कारकर्म' इति गृह्यते, 'दर्शपूर्णमासावेव कुर्वतः' इत्येतद् न। कथम्? योऽपि ह्यन्यत्र दर्शपूर्णमासाभ्यां जञ्जभ्यते, सोऽपि जञ्जभ्यमानशब्देनोच्यते एव। न च प्रकरणेन व्यावर्त्यते, इत्येतदुक्तम्। तस्मादुत्कृष्यते। अत्रोच्यते नैव व्यावर्त्यते। संस्कृतेन तु तेन नाऽस्ति प्रयोजनम्। ननु प्रकरणे पुरुषसंस्कारेणापि नास्ति प्रयोजनम्। उच्यते—संस्कृतपुरुषो दर्शपूर्णमासावनुष्ठास्यति। आह, उत्कर्षेऽपि सति संस्कृतोऽन्यद् अनुष्ठास्यति। उच्यते—नान्यस्य संस्कारो गुणो भवति, अप्रकृतत्वात्। आह, प्रकृतस्यापि न गुणः। वाक्येन पुरुषधर्म इत्यवगमात्। उच्यते—आनर्थक्यान्न पुरुषधर्मोऽत्रगम्यते। तस्मादस्य प्रकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यामेकवाक्यता, नान्येन फलवतापि कर्मणा। प्रकरणाभावात्। तस्मान्नोत्कर्षः। यत्तु-'प्रकरणे निवेशः'। एतस्मिन् पक्षे ब्रूयादित्यनुष्ठान-

---

शब्द को हम उपलब्ध नहीं करते हैं। और जो यह है—प्राणापानावात्मन्धत्ते में [धत्ते] वर्तमान को कहनेवाला है, विधायक शब्द नहीं है। मन्त्र के उच्चारण करने का स्तावक (=स्तुति करनेवाला) तो होता है। इसलिये दर्शपूर्णमास से अन्यत्र यह वचन फलवाला नहीं है। इस कारण दर्शपूर्णमास क्रतु करते हुए पुरुष का संस्कारकर्म है ऐसा जाना जाता है।

(आक्षेप) 'पुरुष का संस्कार कर्म है' इसे हम स्वीकार करते हैं, 'दर्शपूर्णमास करते हुए का संस्कारक है', इसे स्वीकार नहीं करते। कैसे? जो भी पुरुष दर्शपूर्णमास कर्म से अन्यत्र जंभाई लेता है, वह भी जञ्जभ्यमान शब्द से कहा ही जाता है। उस को प्रकरण से पृथक् नहीं कर सकते यह हम कह चुके हैं। इसलिये [दर्शपूर्णमास से यह वचन] उत्कृष्ट होता है। (समाधान) [प्रकरण के द्वारा दर्शपूर्णमास से अन्यत्र जम्भाई लेनेवाला] पृथक् नहीं किया जाता है। उस [दर्शपूर्णमास को न करने वाले] संस्कृत पुरुष से कोई प्रयोजन नहीं ही है [अर्थात् जञ्जभ्यमान लौकिक पुरुष को मयि दक्षक्रतू मन्त्र के उच्चारण से संस्कृत करने का कोई प्रयोजन नहीं है। (आक्षेप) प्रकरण में भी पुरुष के संस्कार से कोई प्रयोजन नहीं है। (समाधान) संस्कृत पुरुष दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करेगा। (आक्षेप) उत्कर्ष होने पर भी लौकिक संस्कृत पुरुष अन्य कर्म का अनुष्ठान करेगा। (समाधान) अन्य (=कर्म से असंपृक्त) पुरुष का संस्कार गुण नहीं होता है, अप्रकृत होने से। (आक्षेप) प्रकृत [दर्शपूर्णमास कर्म] का भी संस्कार गुण नहीं है। क्योंकि वाक्य से पुरुष के धर्म की प्रतीति होने से। (समाधान) [पुरुष के संस्कार में] अनर्थकता होने से यह पुरुष का धर्म नहीं है, ऐसा जाना जाता है। इस कारण प्रकृत दर्शपूर्णमास कर्मों के साथ एकवाक्यता होती है, अन्य फलवान् [ज्योतिष्टोम दि] कर्म के साथ भी एकवाक्यता नहीं होती है। प्रकरण का अभाव होने से। इसलिये [दर्शपूर्णमास प्रकरण से] उत्कर्ष नहीं होगा। और जो यह कहा है कि—'प्रकरण में निवेश होता है' इस पक्ष में भी 'ब्रूयात्' यह अनुष्ठान वचन

वचनमविवक्षितस्वार्थमिति। एवं सत्यनुवादो भविष्यति, न पुरुषसम्बन्धविधानस्य प्रयोजनमस्तीति ॥१५॥

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥ (उ०)

अथ यदुपवर्णितम् —द्वादशोपसत्ता यथोत्कृष्यते,तथेदमप्युत्कृष्टव्यमिति। उच्यते—तद्धि वाक्येन अहीनानां व्यपदिश्यते। फलवन्तश्च अहीनाः। न च तत्र ज्योतिष्टोमेऽहीन-शब्दः। गौणत्वाद् व्यपदेशाच्च—तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य[1] इति। ततो युक्तं

अविवक्षित स्वार्थवाला होता है। अच्छा तो ऐसा होने पर [ब्रूयात् यह] अनुवाद होगा, पुरुष के सम्बन्धविधान का कोई प्रयोजन नहीं है।

विवरण—अनुवादो भविष्यति—भाष्यकार ने पूर्व अधिकरण में कहा है—अङ्गं सत् प्रकरणेन गृह्येत, न चाविहितमङ्गं भवति। तस्मादङ्गत्वाय विधातव्यम् (पूर्व पृष्ठ ८८४)। इससे नानृतं वदेत् को प्रतिषेधविधि माना है। यहां उसी प्रकार के जञ्जभ्यमानोऽनुब्रूयात् वचन में 'ब्रूयात्' को अनुवाद कह रहे हैं। यहां परस्पर विरोध आता है। इसका परिहार भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार किया है—'पहले जो कहा है— न चाविहितमङ्गं भवति इसका तात्पर्य यह है कि विधि का आश्रयण न करने पर धात्वर्थमात्र के साध्य होने से निष्प्रयोजना होती है। निष्प्रयोजन होने पर अङ्गत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिये पहले 'न वदेत्' को विधि कहा है। ब्रूयात् को जो अनुवाद कहा है,उसका तात्पर्य यह है कि कथित प्रतिवाक्यपर्यालोचनकाल में विधि मान कर उसके द्वारा अङ्गभाव की कल्पना करके जब सभी अवान्तर विधियां प्रयोगवचन को प्राप्त कराई जाती हैं, उस काल तक वे विधिरूप से रहती हैं। प्रयोगवचन के द्वारा सब अवान्तर विधियों का ग्रहण होने पर प्रयोग-वचनगत इत्थमित्थं पुरुषेण प्रवर्तितव्यम् विधि के संस्पर्श से ही पुरुष की प्रवृत्ति के सिद्ध हो जाने पर पूर्व अवान्तर विधिरूप से ज्ञात पद अनुवादक हो जाते हैं अर्थात् प्रति अवान्तर विधियों का विधायकत्व समाप्त हो जाता है ॥१५॥

व्यपदेशाद् अपकृष्येत ॥१६॥

सूत्रार्थः—[द्वादश उपसत्ता] (व्यपदेशात्) अहीन का कथन होने से (अपकृष्येत) अपकृष्ट की जाती है। अर्थात् ज्योतिष्टोम-प्रकरण से हटाकर अहीनकर्म के प्रति उत्कृष्ट होती है।

व्याख्या—और जो यह वर्णन किया है कि—द्वादश उपसत्पन को जैसे उत्कर्ष करते हैं, वैसे ही इस का भी उत्कर्ष करना चाहिये। इस विषय में कहते हैं—वह द्वादश उपसत्ता वाक्य के द्वारा अहीनकर्मों की कही जाती है। और अहीनकर्म फलवाले हैं। और वहां ज्योतिष्टोम में अहीन शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, गौण होने से, और तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य (अर्थ

---

१. तै० सं० ६।२।६॥ द्र०—वचनमिदं पूर्वत्र (मी० अ० ३, पा० ३, अ० ८) द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणे पृष्ठ ८२६।

द्वादशोपसत्ता यत् प्रकरणादुत्कृष्यते । न त्विह पुरुषसम्बन्धो निष्प्रयोजनत्वात्, अन्यस्य च प्रयोजनवतः प्रकरणेऽभावात् ॥१६॥ इति जञ्जभ्यमानधर्म्माणां प्रकरणे निवेशाऽधिकरणम् ॥५॥

—:०:—

[अवगोरणादीनां पुमर्थताऽधिकरणम् ॥६॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—'देवा वै शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन्—हव्यं नो वह' इति[1] प्रकृत्य वचनमिदं भवति—किं मे प्रजाया इति ? तेऽब्रुवन्—यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात्, यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात्, यो लोहितं करवत्, यावतः प्रस्कन्द्य पांशून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयादिति । तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरेद्, न हन्याद न लोहितं कुर्य्याद्[2] इति ।

पूर्व पृष्ठ ८२६ पर देखो) इस व्यपदेश=कथन से । इसलिये वहां द्वादश उपसत्ता का ज्योतिष्टोम-प्रकरण से उत्कर्ष किया जाये, यह युक्त है । यहां निष्प्रयोजन होने से पुरुष का सम्बन्ध नहीं हो सकता है,तथा अन्य किसी प्रयोजनवाले के प्रकरण का अभाव होने से ॥१६॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास में सुना जाता है—देवा वै शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन्—हव्यं नो वह (=देवों ने बृहस्पति के पुत्र शंयु को कहा—हमारी हवियों को प्राप्त कराओ) ऐसा आरम्भ करके यह बचन होता है - किं मे प्रजाया इति ? तेऽब्रूवन् यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात्, यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात्, यो लोहितं करवत् यावतः प्रस्कन्द्य पांशून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयादिति । तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरेन्न हन्यान्न लोहितं कुर्यात् [शंयु ने पूछा—देवों को हवि प्राप्त कराने से] (=मेरी पुत्रपौत्रादि प्रजा के लिये क्या देओगे ? देवों ने कहा—जो ब्राह्मण को मारने के लिये प्रयत्न करे उसको सौ निष्क से पीड़ा दे, अर्थात् उसे सौ निष्क दण्ड देवे, जो ब्राह्मण को डण्डे से मारे उसको सहस्र निष्क से पीड़ा दे, और जो खून अर्थात् रक्त निकाल देवे, वह रक्त पृथिवी पर गिरकर जितने धूलि के कणों को संगृहीत करे अर्थात् गीला करे, उतने संवत्सर तक वह पितृलोक को न जाने । इसलिये न ब्राह्मण को मारने का उद्योग करे, न मारे, न खून करे)।

---

१. भाष्यकारेण सम्भवतः स्ववचनैः संक्षिप्य निर्दिष्टः स्याद्, अन्यग्रन्थाद्वोद्धृतः स्यात् । तै० संहितायां (२।६।१०) त्वित्थं पाठ उपलभ्यते—देवा वै यज्ञस्य स्वगाकर्तारं नाविन्दन्, ते शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन्निमं मे यज्ञं स्वगा कुर्विति ।

२. तैत्तिरीयसंहितायां (२।६।१०)त्वित्थं पाठ उपलभ्यते–किं मे प्रजाया इति ? योऽपगुरातै

तत्र सन्देहः –किं दर्शपूर्णमासयोरवगोरणप्रतिषेधः, उत पुरुषस्य उपदिश्यते इति ? किं प्राप्तम् ?

प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोरवगोरणादिप्रतिषेधः। न दर्शपूर्णमासयोर्ब्राह्मणस्यावगोरितव्यं, वधो वा कार्य्यो, लोहितं वा प्रस्कन्दनीयम्। अन्य उपाय आस्थातव्य आनतये, तेनान्वाहार्येणानमन्तीति प्रकरणात् प्राप्नोति। एवं प्राप्ते ब्रूमः–

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥ (सि०)

इसमें सन्देह है—क्या दर्शपूर्णमास में ही अवगोरण (=मारने का प्रयत्न) का प्रतिषेध है, अथवा पुरुष के प्रति उपदेश किया जाता है ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—अवगुरेत्—'गुरी उद्यमने' तौदादिक परस्मैपदी, अवपूर्वक इसका अर्थ हिंसा के लिये दण्ड आदि उठाना, हिंसा के लिये प्रयत्न करना है। **शतेन यातयात्**—प्राचीन काल में जहां-जहां भी शत सहस्र आदि संख्या का निर्देश दण्ड-प्रकरण में आता है, वहां सुवर्ण का निष्क नामक सिक्का अभिप्रेत होता है। यथा गर्गाः शतं दण्डयन्ताम्। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति (महाभाष्य १।१।१)। **यातयात्**—'यत निकारोपस्करयोः' चौरादिक धातु से लेट् का रूप है। निकार—न्यायप्रदेय धन (शब्दकल्पद्रुम) अर्थात् दण्ड का धन। काशकृत्स्न धातुपाठ में **यत खेद-बिम्बाच्छादनेषु** पाठ है। खेद=दुःख,अर्थात् दुःखी होना। इस अर्थ में चुरादि णिच् से पुनः हेतुमत् में णिच् का रूप होगा। **हन्यात्**—इस का अर्थ वध=प्राणोच्छेद नहीं है। दण्डे आदि से पीटना मात्र अर्थ है। क्योंकि इसका अवगोरण और खून निकालने के मध्य पाठ है। **पितृलोकं न प्रजानीयात्**—'ज्ञा अवबोधने' का रूप है। पितृलोक को न जाने अर्थात् प्राप्त न होवे। इसका तात्पर्य है, प्रजा से रहित होवे। यह प्रजा का राहित्य वंश में चिरकाल तक हो सकता है। यथा उदयपुर के राजवंश में किसी सती के शाप से अनेक पीढ़ियों से पुत्र उत्पत्ति का अभाव देखा गया है। दत्तक=गोद लिये पुत्र से वंश चलाते रहे।

व्याख्या—**प्रकरण से दर्शपूर्णमास में अवगोरणादि का प्रतिषेध है। दर्शपूर्णमास में ब्राह्मण का अवगोरण नहीं करना चाहिये, अथवा वध नहीं करना चाहिये, अथवा लोहित नहीं गिराना चाहिये। आनति (=अनुकूल करने) के लिये अन्य उपाय करना चाहिये। इससे अन्वाहार्य=चार पुरुषों के लिये पर्याप्त ओदन से अनुकूल करते हैं, ऐसा प्रकरण से प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—**

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

सूत्रार्थः—(शंयौ) शंयु के प्रकरण में (च) भी जो अवगोरणादि कहा है, उसका उत्कर्ष

शतेन यातयाद्, यो निहनत् सहस्रेण यातयाद्, यो लोहितं करवद् यावतः प्रस्कन्द्य पांसून्त्संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्र जानादिति ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्।

शंयौ च प्रकरणादुत्कर्षः। कस्मात्? 'सर्वपरिदानात्'। सर्वावस्थस्य ब्राह्मणस्य यं प्रतिषेध उक्तः। दर्शपूर्णमासगतेनैव नावगोरणादि कर्त्तव्यमिति। ननु प्रकरण दर्शपूर्णमासधर्मोऽयम्। सत्यं प्रकरणात्। एवं वाक्येन अवगुरमाणस्य धर्मः। वाक्यञ्च प्रकरणाद् बलीयः। ननु, जञ्जभ्यमानस्येव प्रकरणे निवेशो भवेत्। नेत्युच्यते। तत्र फलं कल्पनीयम्। इह क्लृप्तम्। अस्ति ह्यत्र विधायकविभक्तिः—शतेन यातयात्, सहस्रेण यातयात्, स्वर्गं लोकं न प्रजानीयादिति। तस्मादुत्कर्ष एवञ्जातीयकस्येति ॥१७॥ **इत्यवगोरणादीनां पुमर्थताऽधिकरणम् ॥६॥**

—:०:—

करना चाहिये, (सर्वपरिदानात्) सब प्रकार के ब्राह्मण के परिदान उपादान अथवा परामर्श होने से।

व्याख्या— **शंयु के प्रकरण में जो अवगोरण आदि पढा है, उसका प्रकरण (=दर्शपूर्णमास) से उत्कर्ष करना चाहिये। किस हेतु से? 'सब के परिदान से'। सब प्रकार के ब्राह्मण का यह प्रतिषेध कहा है। केवल दर्शपूर्णमास को प्राप्त हुए ब्राह्मण से ही अवगोरण आदि नहीं करना चाहिये।** (आक्षेप) **प्रकरण से यह दर्शपूर्णमास का धर्म** जाना जाता है। (समाधान) **सत्य है, प्रकरण से [दर्शपूर्णमास का धर्म जाना जाता है]। इसी प्रकार** वाक्य **से अवगोरण करनेवाले का धर्म प्रतीत** होता है। **वाक्य प्रकरण से बलीयान्** है। (आक्षेप) **जञ्जभ्यमान के समान ही [इसका] प्रकरण में निवेश** होवे। (समाधान) **नहीं** होगा। **वहां (=जञ्जभ्यमान के प्रकरण में निवेश न होने पर) फल की कल्पना करनी होती है** [अतः **उसका प्रकरण में निवेश माना है**]। **यहां [अवगोरण आदि में] फल क्लृप्त है। यहां विधायक** विभक्ति **है**—शतेन यातायात्, सहस्रेण यातयात्, स्वर्गं लोकं न प्रजानीयात्। **इस कारण इस प्रकार के वचन का उत्कर्ष होता है।**

विवरण—सर्वावस्थस्य—इस का तात्पर्य 'यज्ञकर्म में लगे हुए समय में, तथा यज्ञकाल से अन्यत्र' से है। जो विद्वान् वेदवेत्ता होते हुए भी रावणादि के समान नीच कर्मरत हो, उसके अवगोरण आदि का प्रतिषेध नहीं किया है। क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डं भवति शासनम्॥

अर्थात्— नीच कर्म में लिप्त, कार्य-अकार्य को न जाननेवाले, कुमार्गगामी गुरु का भी दण्ड शासन होता है, अर्थात् वह दण्डनीय होता है। **अस्ति ह्यत्र विधायकविभक्तिः—**लिङर्थे लेट् (अष्टा० ३।४।७) इस पाणिनीय स्मृति से लिङ् के अर्थ में **यातयात्** में लेट् लकार है। यहां **हेतुहेतुमतोर्लिङ्** (अष्टा० ३।३।१५६) से लिङ् का विषय है। अवगोरण हेतु है, यातयात हेतुमत् है। **इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें ॥१७॥**

—:०:—

[मलवद्वासःसंवाद-निषेधस्य पुरुषधर्मताऽधिकरणम् ॥७॥]

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते— **मलवद्वाससा न संवदेत्, नास्या अन्नम् अद्याद्**[1] इति। तत्र सन्देहः—किं मलवद्वाससा सह दर्शपूर्णमासाङ्गस्य संवादस्य प्रतिषेधः, उत पुरुषस्य सर्वत्र प्रतिषेधः इति ? किं प्राप्तम् ? प्रकरणाद् दर्शपूर्णमासयोः प्रतिषेधविधिः। एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ॥१८ (सि०)

मलवद्वाससा सह संवाद उत्कृष्येत प्रकरणात्। कस्मात् ? प्रागपरोधात्। एवं श्रूयते— **यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात्, तामपरुध्य यजेत**[2] इति। पत्न्या च सह संवादोऽध्वर्योर्दर्शपूर्णमासयोरस्ति— **पत्नि एष ते लोकः** इति। प्रसज्ज्यमानः प्रतिषिद्ध्येत। स चाप्राप्त एव प्रागपरोधात्। अपनीयतां यागमनुतिष्ठताम् कथं संवादः प्रसज्ज्येत ? यतः प्रतिषेधमर्हेत। तस्मादुत्कृष्येत मलवद्वाससा सह संवादः ॥१८॥

व्याख्या - दर्शपूर्णमास में सुना जाता है - मलवद्वाससा न संवदेत्, नास्या अन्नमश्नीयात् (=मलवद्वास=रजस्वला स्त्री से भाषण न करे, उसका अन्न न खाये=मैथुन न करे)। इस में सन्देह है—क्या रजस्वला स्त्री के साथ दर्शपूर्णमास का अङ्गभूत संवाद न करे, अथवा सर्वत्र पुरुष का प्रतिषेध है ? क्या प्राप्त होता है - प्रकरण से दर्शपूर्णमासकर्म में प्रतिषेध की विधि है। इस प्रकार प्राप्त होने पर हम कहते हैं —

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ॥ १८॥

सूत्रार्थः— (प्राक्) दर्शपूर्णमास से पहले व्रत्य=उपवास के दिन (मलवद्वाससः) मलीन वस्त्रवाली अर्थात् रजस्वला स्त्री का (अपरोधात्) अपरोध=वर्जन होने से, अर्थात् रजस्वला का यज्ञ में वर्जन कहा है, अतः उससे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी संवाद प्राप्त ही नहीं है। अतः इस विधि का उत्कर्ष होता है।

व्याख्या— रजस्वला स्त्री के साथ संवाद प्रकरण से उत्कृष्ट होवे। किस हेतु से ? पहले अपरोध=वर्जन होने से। इस प्रकार सुना जाता है—यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात्, तामपरुध्य यजेत (=जिस यजमान की पत्नी व्रत्य=उपवास के दिन अस्पर्शनीया होवे, उस का परित्याग करके यजन करे)। दर्शपूर्णमास में पत्नी के साथ अध्वर्यु का संवाद है—पत्नि एष ते लोकः (=हे पत्नि! यह तुम्हारा लोक=स्थान) है। प्राप्त होता हुआ प्रतिषिद्ध होवे, अर्थात् प्राप्ति-पूर्वक प्रतिषेध होता है। और वह संवाद रजस्वला का कर्म से पूर्व ही वर्जन कहने से प्राप्त ही नहीं है। रजस्वला पत्नी का वर्जन करते हुए कर्म का अनुष्ठान करनेवालों का संवाद कैसे प्राप्त होगा? जिस कारण उसका प्रतिषेध किया जावे। इस लिये रजस्वला के साथ संवाद-प्रतिषेध का उत्कर्ष होवे ॥१८॥

---

१. तै० सं० २।५।१।   २. तै० ब्रा० ३।७।१।९।

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १६ ॥ (हेतुः)

अन्नप्रतिषेधश्च भवति—नास्या अन्नमद्याद्, अभ्यञ्जनं वै स्त्रिया अन्नम्[1], इत्युपगमनप्रतिषेध एष विधीयते। स च प्रकरणे न प्रसक्त इति। प्रकरणादुत्कृष्टः पुरुषधर्म्म एव निश्चीयते ॥१६॥ इति मलवद्वासःसंवाद-निषेधस्य पुरुषधर्मताऽधिकरणम् ॥७॥

—:o:—

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १६ ॥

सूत्रार्थः—रजस्वला के (अन्नप्रतिषेधात्) अन्न=उपगमन का प्रतिषेध होने से (च) भी उत्कर्ष होवे।

व्याख्या—**अन्न का प्रतिषेध** भी होता है- नास्या अन्नमद्यान् अभ्यञ्जनं वै स्त्रिया अन्नम् (=**उस रजस्वला का अन्न न खावे**, उपगमन=**मैथुन करना ही स्त्री का अन्न है**)। **इससे उपगमन के प्रतिषेध का** यह विधान किया है। **और** वह (=**उपगमन=मैथुन**) **प्रकरण=दर्शपूर्णमास में प्राप्त ही नहीं है। इसलिये प्रकरण से उत्कृष्ट हुआ यह पुरुष का धर्म है, यह निश्चय होता है।**

विवरण—स च प्रकरणे न प्रसक्तः—दर्शपूर्णमास में प्रथम व्रत्य दिन ही मांसभक्षण और मैथुन का प्रतिषेध किया है (द्र०—कात्या० श्रौत २।१।८)। इस प्रतिषेध के होते हुए दर्शपूर्णमास के दिन मैथुन प्राप्त ही नहीं है। **नास्या अन्नमद्यात्** यद्यपि यहीं स्पष्ट कर दिया है कि अन्न का अर्थ उपगमन है। इसी वचन के अनुसार रजस्वला के द्वारा बनाये भोजन का भी प्रतिषेध होता है। परन्तु उक्त वचन के साथ **अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्, कामं ह्यन्यत्** (तै० सं० २।५।१) श्रूयमाण वचन से उपगमन के अतिरिक्त प्रतिषिद्ध नहीं है। **अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्, अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्, काममन्यत्** की व्याख्या करते हुए भट्टभास्कर और सायणाचार्य ने 'स्त्री का अन्न=अभ्यञ्जन शृङ्गार की वस्तु है', क्योंकि स्त्री को शृङ्गार की वस्तु प्रिय होती है। अतः स्त्री की शृङ्गार की वस्तु न लेवे, अन्य इच्छानुसार ले सकता है। यह अर्थ जहां समस्त मीमांसा-सम्प्रदाय के विरुद्ध है[2], वहां तैत्तिरीयसंहिता के प्रकरण के भी विरुद्ध है। वहां आगे ही कहा है—'जिस रजस्वला के साथ मैथुन करता है, उस रजस्वला से जो उत्पन्न होता है, वह अभिशस्त=मिथ्या-

---

१. द्र०—तै० सं० २।५।१।६॥ द्वौ पृथग्वाक्यावत्र सह पठितौ। तथा च तत्र 'वै' स्थाने 'वाव' पाठः।

२. सूत्रकार के '**प्रागपरोधात्०, अन्नप्रतिषेधाच्च**' सूत्रों से, भाष्यकार के '**उपगमनप्रतिषेध एष विधीयते**' वचन से, तथा भट्टकुमारिल के 'लाटानामपि **अभ्यञ्जनपर्यायान्तरवाच्यलक्षणमुपगमनं प्रसिद्धम्**' व्याख्या से भी विरुद्ध है।

[सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताऽधिकरणम् ॥८॥]

अनारभ्य श्रूयते—तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्य्यं, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति[1] इति । सुवाससा भवितव्यं, रूपमेव बिभर्त्ति[2] इति । तत्र किं प्रकरणधर्म्मः, उत पुरुषधर्म्म इति संशयः ? अत्रोच्यते—

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥ २० ॥ (मि०)

पवादयुक्त होता है । जिस रजस्वला से जंगल में मैथुन करता है, उससे स्तेन=चोर उत्पन्न होता है । जिस मैथुन से पराङ्मुख रजस्वला से मैथुन करता है, उससे ह्रीत=सभा आदि में लज्जावाला उत्पन्न होता है ।' इस सम्पूर्ण प्रकरण से स्पष्ट है कि **अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्** का अर्थ उपगमन=मैथुन ही है । वह स्त्री के लिये अन्नवत् प्रिय है । यह बात इससे पूर्व निर्दिष्ट अर्थवाद से कही गई है ।

या स्नाति तस्या अप्सु मारुकः—इत्यादि अर्थवाद वचनों से रजस्वला स्त्री के धर्मों कर्तव्यों का निर्देश है । तै० सं० के इस पूरे प्रकरण से यह स्पष्ट है कि स्नान आदि का वर्जन उस रजस्वला के लिये निषिद्ध है, जो गृहस्थ है । अतः ब्रह्मचारिणी कन्याओं एवं परिव्राजिकाओं के लिये इन धर्मों का पालन विहित नहीं है । क्योंकि उनका पुरुष-सम्बन्ध प्राप्त ही नहीं है । अतः उनके लिये स्नान दन्तधावन नख आदि का कर्तन आदि कर्म प्रतिषिद्ध नहीं हैं । इसी प्रकार जिन गृहस्थों ने दो चार सन्तान के पश्चात् मैथुनत्याग का व्रत ग्रहण कर लिया है, उन रजस्वलाओं के लिये भी प्रतिषिद्ध नहीं है । यह भी अर्थतः जान लेना चाहिये ॥१९॥

—:o:—

व्याख्या—किसी कर्मविशेष का आरम्भ न करके सुना जाता है—तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यं, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति(=इसलिये सुवर्ण=अच्छे रूपवाले को हिरण्य धारण करना चाहिये, इस का शत्रु दुर्वर्ण=मलिनमुख होता है) । सुवाससा भवितव्यं, रूपमेव बिभर्ति (=अच्छे वस्त्र पहननेवाला होना चाहिये, इससे रूप को ही धारण करता है) । इस विषय में सन्देह होता है कि—यह प्रकरण (=कर्मविशेष) का धर्म है, अथवा पुरुष का धर्म है ? इस विषय में कहते हैं—

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥ २० ॥

सूत्रार्थः—(अप्रकरणे) किसी विशेषप्रकरण में न पढ़ा हुआ, (तु) तो (तद्धर्मः) उसका धर्म=पुरुष का धर्म होवे । (ततः) प्रकरणमें पढ़े हुए से (विशेषात्) भिन्न होने से ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तै० ब्राह्मणे (२।२।४।६) तु 'सुवर्ण आत्मना भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यः । तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्' इत्येवं पाठः।　　२. अनुपलब्धमूलम् ।

अप्रकरणे तु तद्धर्मः। ततो विशेषात् पुरुषधर्म एवञ्जातीयकः स्यात्। कुतः? ततः प्रकरणाधीताद् विशेषोऽस्य। नायं प्रकरणाधीतः। यदि अप्रकरणे समाम्नातः, सर्वप्रकरणधर्मः स्यात्। अप्रकरणे समाम्नानं न किञ्चिद् विशेषं कुर्यात्। तस्मादेवञ्जातीयकः पुरुषधर्म इति ॥२०॥

अद्रव्यदेवतात्वात्[1] तु शेषः स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०)

विशेष--सूत्रस्थ **ततो विशेषात्** पाठ में **अविशेषात्** सन्धिच्छेद भी हो सकता है। अतः इस का अर्थ होगा--यदि अप्रकरणपठित और प्रकरणपठित समान होवें, तो प्रकरणपठित से अप्रकरणपठित में कोई भेद नहीं रहेगा।

व्याख्या--**अप्रकरण में पढ़ा हुआ तो उस का धर्म होवे। उससे विशेष होने से पुरुष का धर्म होवे, इस प्रकार का। किस हेतु से? उस प्रकरणपठित से इसकी विशेषता (=भिन्नता) है। यह किसी के प्रकरण में पठित नहीं है। यदि अप्रकरण में पठित होकर भी सब प्रकरणों का धर्म होवे, तो अप्रकरण में पाठ कुछ विशेष न करे। इसलिये इस प्रकार का [अप्रकरणपठित] पुरुष का धर्म है।**

विवरण--मीमांसकों का सामान्य मत है--**अप्रकरणाधीतानां प्रकृतिगामित्वम्**=अर्थात् अप्रकरण में पठित धर्म प्रकृतिगामी=दर्शपूर्णमास को प्राप्त होनेवाले होते हैं (द्र०--मी० अ० ३, पा० ६, अधि० १)। प्रकृति को प्राप्त होकर वे धर्म '**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**' (=प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये) नियम से सब विकृतियों में पहुंचते हैं। इस दृष्टि से भाष्यकार का **यदि अप्रकरणे समाम्नातः सर्वप्रकरणधर्मः स्यात्, अप्रकरणे समाम्नानं न किञ्चिद् विशेषं कुर्यात्** लिखना अस्पष्टसा है। **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति** (=जिसकी पलाश की जुहू होती है) इत्यादि अप्रकरण-पठित पर्णमयत्वधर्म भी प्रकृतिगामी होकर सब प्रकरणों से सम्बद्ध होता है। उस अवस्था में **अप्रकरणे समाम्नानम्** हेतु कुछ भेदक नहीं होता है। वस्तुतः अनारभ्याधीत विधियों का प्रकृतिगामित्व उन के विषय में है, जिनका यज्ञ से साक्षात् सम्बन्ध है। यथा जुहू स्रुव आदि पदार्थ। यहां **सुवर्णं भार्यम्** यद्यपि अप्रकरणाधीत है, तथापि याग के साथ इसका सम्बन्ध न होने से यह प्रकृतिगामी होकर सब प्रकरणों का धर्म नहीं बनता है। यह दोनों अप्रकरणाधीतों में अन्तर है ॥२०॥

अद्रव्यदेवतात्वात् तु शेषः स्यात् ॥२१॥

सूत्रार्थः--(तु) 'तु' शब्द पूर्व स्थापित पुरुषधर्म की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् हिरण्यधारण

---

१. यद्यपीह भाष्यपुस्तकेषु 'अद्रव्यत्वात्' इत्येव पठ्यते, तथापि 'नात्र द्रव्यदेवतं श्रूयते' इति

तुशब्दः पक्षव्यावृत्तौ—न पुरुषधर्मो भवेत्। अग्निहोत्रादीनां शेषः स्यात्। कस्मात्? अद्रव्यदेवतात्वात्[1]। नात्र द्रव्यदेवतं श्रूयते। तच्छ्रवणाद् भार्यं यष्टव्यमिति परिकल्प्येत। असति तु द्रव्यदेवतासम्बन्धे बिभर्तिरयं धारणावचनः संस्कारवाची। संस्कारश्च शेषभूतस्यावकल्पते, नान्यथा। तस्मात् कर्मणामग्निहोत्रादीनां शेषः। एवं सुवाससा भवितव्यमिति॥२१॥

पुरुषधर्म नहीं हैं। हिरण्यधारण (शेषः) अग्निहोत्रादि कर्मों का शेष (स्यात्) होवे, (अद्रव्यदेवतात्वात्) द्रव्य और देवता का सम्बन्ध न होने से 'भार्यम्' पद का 'यजन करना चाहिये' अर्थ नहीं है, अपितु संस्कारवाची है—धारण से हिरण्य को संस्कृत करे। वह संस्कृत हिरण्य अग्निहोत्रादि का शेष होगा।

विशेष—यह सूत्रार्थ तथा सूत्रपाठ भाष्य के अनुसार है[2]। कहीं-कहीं **अद्रव्यदेवतत्वात्** पाठ भी मिलता है। उस पाठ में देवता पद का ह्रस्वत्व **त्वे च** (अष्टा० ६।३।६४) नियम के अनुसार जानना चाहिये। मुद्रित भाष्य-पुस्तक में तथा अन्यत्र **अद्रव्यत्वात्** पाठ मिलता है। सम्प्रति यही पाठ साम्प्रदायिक माना जाता है। इसका कारण भट्ट कुमारिल द्वारा **अद्रव्यत्वात्** सूत्रपाठ मानकर भाष्य का खण्डन है। वस्तुतः पूर्वसूत्र के भाष्य का, और इस सूत्र के भाष्य का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता है। कुतुहल वृत्तिकार ने इन दोनों सूत्रों की आवृत्ति करके, अर्थात् चार सूत्र मानकर व्याख्या की है। वह भी क्लिष्ट कल्पना ही हैं।

व्याख्या—'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति (=निवृत्ति) **अर्थ मे है—पुरुष का धर्म न होवे। अग्निहोत्रादि का शेष होवे। किस हेतु से? द्रव्यदेवता के न होने से। यहां द्रव्य और देवता नहीं सुना जाता है। उस (=द्रव्य और देवता) का श्रवण होने पर** भार्यम् **पद को** यष्टव्यम् (=**यजन करना चाहिये) के रूप में कल्पना की जा सके। द्रव्यदेवता का संबन्ध न होने पर** भार्यम् यह धारणवचन संस्कार का वाचक है। **और संस्कार शेषभूत (=यागाङ्ग द्रव्यादि) का होता है, अन्यथा नहीं होता हैं। इसलिये अग्निहोत्रादि कर्मों का यह [हिरण्यधारण] शेष है। इसी प्रकार** 'सुवाससा भवितव्यम्' **भी कर्म का शेष है।**

भाष्यकारवचनाद् अप्पयदीक्षितविरचिते कल्पतरुपरिमलव्याख्याने 'अद्रव्यदेवतात्वात् तु शेषः स्यादिति शबरस्वामिलिखितपाठः' इति वचनाच्चात्र यथाशोधित एव सूत्रपाठो द्रष्टव्यः। क्वचित् 'अद्रव्यदेवतत्वात्' इतिपाठान्तरं दृश्यते [द्र०—भामती-कल्पतरुपरिमलसहितं-ब्रह्मसूत्रस्य शाङ्करभाष्यं (१।१।४, पृष्ठ१२५) निर्णयसागरमुद्रितम्]। भट्टकुमारिलेन भाष्यकारानुमतं सूत्रपाठं खण्डयित्वा 'अद्रव्यत्वात्' पाठो व्यवस्थापितः। अतएव प्रायेण सर्वत्रैतादृश एव सूत्रपाठ उपलभ्यते।

१. अत्रापिमुद्रित पुस्तके 'अद्रव्यत्वात्' इति भाष्यानुगुण एव पाठः।

२. द्र०—अद्रव्यसूत्रस्य द्रव्यदेवतासंबन्धराहित्येन यागत्वनिराकरणार्थतायाम् **अद्रव्यदेवता-**

वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥ (पू०)

आध्वर्य्यवमिति वेदसंयोगः शेषभूतस्य युज्यते। शेषभूतो[1] हि अध्वर्युणा क्रियते। न पुरुषधर्मः। दर्शपूर्णमासादीनां हि कर्मणां सङ्गानामङ्गानामध्वर्युः कर्त्ता। तस्मादपि कर्मधर्मा एवञ्जातीयका इति ॥२२॥

विवरण—द्रव्यदेवता के न होने से यह पुरुषधर्म नहीं है, अग्निहोत्रादि का शेष है, यह अर्थ भाष्य से स्पष्ट नहीं होता है। अप्पयदीक्षित ने वेदान्त १।१।४ की कल्पतरु-परिमल नाम्नी व्याख्या में इस अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—(**आक्षेप**) द्रव्यदेवतासंबन्ध-राहित्य से हिरण्यधारण का यागत्व का अभाव ही सिद्ध होगा, न कि धारणरूप से ही स्वतन्त्र कर्मत्व का अभाव भी सिद्ध होगा। (**समाधान**) सत्य है, धारण का स्वतन्त्रकर्मत्वलक्षितयाग-रूपता से है, अथवा मुख्यधारणरूपता से, ऐसा विकल्प मन में रख कर प्रथम पक्ष (=स्वतन्त्र-कर्मत्वलक्षितयागरूपता से) के निराकरण के लिये यह 'अद्रव्य' सूत्र (मी० ३।४।२१) है। द्वितीय पक्ष का निराकरण तो 'द्रव्यसंयोगाच्च' (मी० ३।४।२३) इस अनन्तर सूत्र से धारण के स्वातन्त्र्य में कृत्यप्रत्यय अवगत द्रव्यप्राधान्य का विरोध दर्शाया है। द्र०—निर्णयसागर मुद्रित शाङ्करभाष्य, भामती कल्पतरुपरिमल सहित, पृष्ठ १२५) ॥२१।

वेदसंयोगात् ॥२२॥

सूत्रार्थः [**हिरण्यं भार्यम्** कर्म का आध्वर्यव कर्म के रूप में] (वेदसंयोगात्) वेद का संयोग होने से **हिरण्यं भार्यम्** कर्म का शेष है, अर्थात् हिरण्य के धारण से संस्कार अध्वर्यु करता है।

विवरण—**आध्वर्यवमिति वेदसंयोगः**=अध्वर्यु वेद के रूप से कहे जानेवाले यजुर्वेद में **हिरण्यं भार्यम्** विहित है। यजुर्वेद में विहित सभी प्रधानकर्मों का, तथा **व्रीहीन् प्रोक्षति** आदि संस्कार-कर्मों का कर्त्ता अध्वर्यु होता है। अतः यह कर्मशेष है। पुरुषार्थ मानने पर आध्वर्यव वेद का संयोग बाधित होता है।

व्याख्या—[**कर्म के**] **शेषभूत** हिरण्यं भार्यम् का **आध्वर्यवरूप से वेद के साथ संयोग युक्त होता है। शेषभूत कर्म अध्वर्यु से किये जाते हैं। पुरुषधर्म** [**अध्वर्यु से**] **नहीं किये जाते हैं। दर्शपूर्णमास आदि साङ्गकर्मों का कर्त्ता अध्वर्यु** होता है। **इस हेतु से भी इस प्रकार के कर्म के धर्म होते हैं** ॥२२॥

त्वात् तु शेषः स्याद्, इति शबरस्वामिलिखितसूत्रस्य पाठो लिखितुं युक्तः, न त्वद्रव्यत्वादिति वार्तिककारलिखितः पाठः (वेदान्त १।१।४, कल्पतरुपरिमल, पृष्ठ १२५, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,)।

१. काशीमुद्रिते 'शेषशेषभूतः' इत्यपपाठः। अथवाऽयं पाठ इत्थं नेयः—कर्मणः शेषोऽध्वर्युः, तस्य शेषभूतं हिरण्यस्य धारणेन संस्कारोऽध्वर्युणा क्रियते।

द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥ (पू०)

द्रव्यपरश्चात्र भवति निर्देशः। सुवर्णं भार्यमिति द्वितीयार्थसंयोगात्। द्रव्यसंस्कारश्च कर्मशेषपक्षे प्रयोजनवान्। अनर्थकः पुरुषधर्मे ॥२३॥

स्याद्वाऽस्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः ॥२४॥ (उ०)

स्याद् वा फलेन एवञ्जातीयकानां सम्बन्धः, पुरुषधर्म इत्यर्थः। सुवर्णस्य वाससो वा धर्मो भवन निष्प्रयोजनः स्यात्। ननु, संस्कृतेन सुवर्णेन वाससा च कर्म सेत्स्यति। नैतदेवम्। सुवर्णस्याङ्गं न कर्मण उपकुर्य्यात्। श्रुत्यादीनामभावान्न कर्माङ्गम्। तस्माद्

द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥

सूत्रार्थः—(द्रव्यसंयोगात्) **सुवर्णं भार्यम्** में द्रव्य का संयोग होने (च) भी शेषभूत (=कर्म का धर्म) है।

व्याख्या—यहां [सुवर्णं भार्यम्] निर्देश द्रव्यपरक **भी होता है। सुवर्णं भार्यम् में द्वितीया का संयोग होने से। और द्रव्य का संस्कार कर्मशेषपक्ष में प्रयोजनवान् होता है। पुरुषधर्म में उत्कर्ष करने में [संस्कारकर्म] अनर्थक होता है।**

विवरण—**सुवर्णं भार्यम्** में द्वितीया का संयोग होने से यह संस्कारकर्म ज्ञात होता है। यथा **व्रीहीन् प्रोक्षति** में द्वितीया होने से प्रोक्षण व्रीहि का संस्कारकर्म है, उसी प्रकार **हिरण्यं भार्यम्** का अर्थ होगा—**धारणेन हिरण्यं संस्कुर्यात्**—अध्वर्यु धारण के द्वारा हिरण्य को संस्कृत करे। व्रीहि आदि द्रव्य के संस्कार कर्मशेषपक्ष में जैसे प्रयोजनवान् होते हैं, अर्थात् प्रोक्षणादि से संस्कृत व्रीहि आदि से जैसे कर्म किये जाते हैं, उसी प्रकार धारणरूप संस्कार से संस्कृत हिरण्य से भी कर्म होता है ॥२३॥

स्याद् वाऽस्य संयोगवत् फलेन संबन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः ॥२४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् कर्मशेष नहीं है। (संयोगवत्) प्रजापतिव्रत आदि के फल के संयोग के समान (अस्य) हिरण्यधारण का (फलेन) बल के साथ (संबन्धः) संबन्ध (स्यात्) है। (तस्मात्) इस कारण यह (कर्म) प्रधान कर्म=पुरुषधर्म है, ऐसा (ऐतिशायनः) इतिश का पुत्र ऐतिशायन आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—इस प्रकार के कर्मों का फल के साथ सम्बन्ध होवे, अर्थात् पुरुषधर्म होवे। सुवर्ण अथवा वस्त्र का [संस्काररूप] धर्म होता हुआ निष्प्रयोजन होवे। (आक्षेप) संस्कृत सुवर्ण और वस्त्र से कर्म सिद्ध होगा। (समाधान) ऐसा नहीं है। सुवर्ण का अङ्ग [==संस्कार] कर्म का उपकार न करे। श्रुति आदि के अभाव से कर्म का अङ्ग नहीं है। इसलिये दुर्वर्णो ऽस्य भ्रातृव्यो

दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' इत्येवमादिना एवञ्जातीयकानां फलेन सम्बन्धः। ननु,वर्त्तमानापदेशोऽयम्। सत्यमेवमेतत्। आनर्थक्यपरिहाराय फलचोदनया सम्बन्ध एषितव्यो भवति। अन्यस्माच्चैषितव्यादेकवाक्यगतस्य विपरिणामो लघीयान्। कुतः ? प्रत्यक्षा तेनैकवाक्यता,परोक्षाऽन्येन। विपरिणामश्च–वर्त्तमानकालस्याविवक्षा सम्बन्धस्य च तात्पर्य्याध्यवसानम्। तस्मादेवञ्जातीयकः प्रधानकर्मोपदेशः स्यात्। यथा प्रजापतिव्रतानां फलेन सम्बन्धः—**एतावता हैनसा वियुक्तो भवति**' इति। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मादेवञ्जातीयकः पुरुषधर्म इति ॥।२४॥ **इति सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताऽधिकरणम् ॥८॥**

—:o:—

भवति (= **इस का शत्रु दुर्वर्ण = मलिनमुख** होता है) इत्यादि [**अर्थवादपठित**] **फल से इस प्रकार के कर्मों का संबन्ध होता है।** (आक्षेप) यह (= भवति) **वर्तमान को कहनेवाला है।** (समाधान) **सत्य है, यह इसी प्रकार का है। आनर्थक्य के परिहार के लिये फल की विधि से सम्बन्ध एषितव्य (= चाहनेयोग्य)** होता है। **अन्य** चाहने योग्य **की अपेक्षा एकवाक्यगत का विपरिणाम लघीयान्** है। **किस हेतु से ?** उस (= **अर्थवाद**) **के साथ एकवाक्यता प्रत्यक्ष है, अन्य एषितव्य फल के साथ परोक्ष है। और विपरिणाम है** – वर्तमानकाल **की अविवक्षा और सम्बन्ध के तात्पर्य का निश्चय। इसलिये इस प्रकार का प्रधान** (= स्वतन्त्र) **कर्म में उपदेश होवे। जैसे प्रजापतिव्रतों का फल के साथ संबन्ध** होता है — एतावता हैनसा वियुक्तो भवति (= **इतने से ही पाप से वियुक्त होता है), अर्थात् प्रजापतिव्रतों के साथ** पढ़े गये एतावता हैनसा वियुक्तो भवति **अर्थवाद में निर्दिष्ट पाप-वियोग प्रजापत्य व्रतों का फल माना जाता है। इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। इसलिये इस प्रकार के कर्म पुरुष के** धर्म हैं।

विवरण – सुवर्ण हिरण्यं भार्यम्—हिरण्य शब्द वैदिक वाङ्मय में पृथिवीगर्भ से निकलनेवाले धातुमात्र का वाचक है। यह निघण्टु **१।२** में पढ़े गये हेम **चन्द्र अयः लोहम्** आदि नामों से स्पष्ट है। इसीलिये उक्त वाक्य में हिरण्य का 'सुवर्ण' (= अच्छे वर्णवाला) विशेषण दिया है। '**दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति** का 'इस का शत्रु दुर्वर्ण होता है' ऐसा सामान्य अर्थ नहीं है। सुवर्ण का धारण आयोग्य का वर्धक तथा आयुष्य **का** वर्धक होता है। शुक्ल यजुः **३४।५१** में कहा है—**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं, स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः, स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायु**', अर्थात् जो दाक्षायण (= सौ टका शुद्ध) हिरण्य को धारण करता है, वह = हिरण्यधारण निश्चय से देवों में दीर्घायु करता है, वह निश्चय से मनुष्यों में दीर्घायु करता है। इससे स्पष्ट है कि **दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति** का संकेत आरोग्य और अनायुष्य के शरीरस्थ जो शत्रु हैं, उनको दुर्वर्ण = मलिन = निर्बल करने की ओर है। साधारण शत्रु के मलिनमुख होने का यहां निर्देश नहीं है। सुवर्ण

---

१. तै० सं० २।५।१।६॥ २. अनुपलब्धमूलम्।

[जयादीनां वैदिकर्माङ्गताऽधिकरणम् ॥६॥]

इह कर्मसंयुक्ता होमा जयादय उदाहरणम्। येन कर्मणेर्त्सेत् तत्र[1] जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति इति, अभ्यतानाञ्जुहोति इति। तत्रैते किं सर्वकर्मणां कृष्यादीनां शेषभूताः, उत वैदिकानाम् अग्निहोत्रादीनामिति ? शेषत्वं तु निर्ज्ञातकर्मसम्बन्धात्, फलाश्रवणाच्च। किं तावत् प्राप्तम् ?

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥२५॥ (पू०)

सर्वकर्मणां शेषाः, विशेषानभिधानादिति ॥२५॥

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥ (उ०)

जैसी महार्घ वस्तु के धारण करने, और घिसने से बचाने के लिये आर्यों में पुरुष कानों में कुण्डल, और स्त्रियों में नाक में नथ वा लौंग पहनने की परिपाटी थी। इसीलिये कर्णवेध-संस्कार को षोडश-संस्कारों में गिना गया है ॥२४॥

—:०:—

व्याख्या – यहां कर्म से संयुक्त जयादि होम उदाहरण हैं। येन कर्मणा ईर्त्सेत् तत्र जयान् जहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोतीति, अभ्यातान् जुहोति (=जिस कर्म से ऋद्धि=समृद्धि की इच्छा करे, उस कर्म में 'जयसंज्ञक' होम करता है, 'राष्ट्रभृत् संज्ञक' होम करता है, 'अभ्यातसंज्ञक' होम करता है)। वहां क्या ये होम सब कृषि आदि कर्मों के शेषभूत हैं, अथवा वैदिक अग्निहोत्रादि के ? शेषत्व=अङ्गभूतत्व तो निर्ज्ञात कर्म के सम्बन्ध से, तथा फल के अश्रवण से जाना जाता है। क्या प्राप्त होता है ?

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

सूत्रार्थः—जो (अप्रकरणे) विना प्रकरण के पठित है, वह (अविशेषात्) विशेष न होने से (सर्वकर्मणाम्) सब लौकिक और वैदिक कर्मों का (शेषः) शेष होवे।

व्याख्या—[जयादि होम] सब कर्मों के शेष हैं। विशेष का कथन न होने से ॥२५॥

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् जयादि होम सब कर्मों

---

१. एतावान् भागः तै० संहितायाम् (३।४।३) उपलभ्यते। अवशिष्टान्यनुपलब्धमूलानि।

नचैतदस्ति—सर्वकर्मणां कर्षणादीनामपि अङ्गभूता इति । होमा एते । अतो व्यवतिष्ठेरन्।आहवनीयसंयोगो भवति होमेषु—यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति' इति । तेन यस्याहवनीयः,तस्यैते अङ्गम्। न च कृष्यादीन्याहवनीये वर्त्तन्ते । न चैषां गार्हपत्योऽस्ति, यतः प्रणीते आहवनीयः स्यात् । तस्मान्न कर्षणादीनां जयादयः ॥२६॥

के शेष नहीं हैं। ये (होमाः) होम हैं, अतः (आहवनीयसंयोगात्) आहवनीय अग्नि का [होम के साथ] संयोग होने से (व्यवतिष्ठेरन्) वैदिक कर्म में ही व्यवस्थित होवें।

व्याख्या— **यह नहीं है कि—[जयादिहोम] सब कृषि आदि कर्मों के भी अङ्गभूत हैं। ये होम हैं। इस कारण व्यवस्थित होवें। होमों में आहवनीय** अग्नि का संयोग होता है—यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति (=जो आहवनीय में होम करता है, उससे इसका **अभीष्ट प्रिय होता है)। इस कारण जिस कर्म का आहवनीय है, उस के ये होम अङ्ग हैं। कृष्यादिकर्म आहवनीय में नहीं होते हैं। और उनका गार्हपत्य अग्नि भी नहीं है, जहां से प्रणयन करने पर आहवनीय अग्नि होवे। इसलिये सब कृष्यादि कर्मों के जयादि होम शेष नहीं हैं।**

विवरण—होमा एते—'जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति, अभ्यातान्जुहोति' वचनों में 'जुहोति' धातु का निर्देश होने से ये होम है, ज्ञात होता है। **यदाहवनीये जुहोति**—इस वचन से श्रौतकर्मों का आहवनीय के साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है। परन्तु विचारणीय यह है कि जय राष्ट्रभृत् अभ्यात होमों का विधान विवाहकर्म में भी गृह्यकारों ने किया है। यह वैवाहिक अग्नि आहवनीय नहीं है। अतः सूत्रकार एवं भाष्यकार का वचन विचारणीय है। गृह्यकर्म श्रौतकर्मों के ही परिशिष्टरूप हैं। क्योंकि श्रौत गृह्य और धर्मसूत्रों की कल्प यह सामान्य संज्ञा है। यथा ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का परस्पर संम्बन्ध है, सभी ब्राह्मण के ग्रहण से गृहीत होते हैं। उसी प्रकार यहां भी गृह्यकर्मों में श्रौतसूत्रोक्त सामान्यपरिभाषाएं गृहीत होती हैं। धर्मसूत्रों में गृह्योक्त कर्म के अतिरिक्त भी होमों का विधान मिलता है। अतः सूत्र में आहवनीय को मथनादि से संस्कृत अग्नि का उपलक्षण मान लें,तो सारी आर्ष पारम्परिक वैदिक व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। अन्यथा विवाहकर्म में जयादि होम का प्रयोग चिन्त्य मानना होगा। कृषिकर्म में तो गृह्यसूत्रों में साक्षात् होम का विधान देखा जाता है। यथा **अथ सीतायज्ञः** (पार० गृ० २।१७)।

वैदिकधर्म के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक ऐसे संस्कारादि कर्मों में होम का विधान किया है, जिनमें प्राचीन गृह्यकारों ने होम का विधान नहीं किया है। यथा गर्भाधानादि कुछ संस्कार। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि प्रत्येक शुभकर्म में होम करना चाहिये। उससे जहां अभीष्ट सिद्धि के लिये ईश्वर से स्तुति प्रार्थना होती है,वहां होम का लोकदृष्ट जल वायु की शुद्धि प्रयोजन भी उपपन्न होता है। इस प्रकार दत्तक-विधि, कारखाना वा दुकान खोलना,वृक्षारोपण,रामनवमी,कृष्णजन्माष्टमी आदि सभी लौकिक कर्मों में भी होम कर्तव्य है। यह स्मार्त होम गृह्यसूत्रोक्त शालाकर्म सम्बन्धी होम के सदृश करना चाहिये।

१. 'भवति' पदवर्जं तै० ब्राह्मणे (१।१।१०) पठ्यते।

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥ (उ०)

इतश्च पश्यामो वैदिकानां शेषभूता इति। कुतः ? समाख्यानात्। आध्वर्य्यवमिति हि समाख्याते वेदे जयादयः समाम्नाताः सन्तोऽध्वर्युणा करिष्यन्ते। कर्षणादिषु अध्वर्योरभावाद् अनध्वर्युणापि क्रियमाणाः समाख्यां बाधेरन्। तस्माद् वैदिकनां शेषभूता इति ॥२७॥ इति **जयादीनां वैदिकधर्माङ्गताऽधिकरणम् ॥९॥**

—:०:—

[वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इष्टिकर्तव्यताऽधिकरणम् ॥१०॥]

अस्त्यश्वप्रतिग्रहेष्टिः—**वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेद्**[1], इति। तत्र सन्देहः—किं लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे

पुराने विचारों के वैदिक चाहे स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मत को स्वीकार न करें, तथापि यह मत परम्परा से ऋषि-मुनियों द्वारा आदृत है। अन्यथा गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में इन जयादि होमों का विधान न होता। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतों को अवैदिक माननेवाले पौराणिक विद्वान् भी आजकल विष्णुयाग दुर्गाहोम आदि अवैदिक होमों के रूप में होम करते ही हैं। इस दृष्टि से जयादि होमों का उन सभी शुभ कर्मों में निवेश हो सकता है, जिनमें समृद्धि की कामना हो। सूत्रकारानुसार श्रौतकर्म के मुख्यतया अङ्ग होते हुए भी गृह्यादि स्मार्तकर्मों के माध्यम से लौकिक कर्मों से भी मोक्ष सम्भव है ॥२६॥

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

सूत्रार्थः—(समाख्यानात्) आध्वर्यव नाम से समाख्यात वेद में जयादि होमों के पठित होने से (च) भी (शेषः) ये वैदिककर्मों के शेष हैं।

व्याख्या—इस से भी हम जानते है कि [जयादिहोम] वैदिककर्मों के शेष हैं। कैसे ? समाख्यान मे आध्वर्यव नाम से। व्यवहृत वेद में जयादि होम पढ़े हुए अध्वर्यु से किये जायेंगे। कर्षणादि लौकिक कर्मों में अध्वर्यु का अभाव होने से अनध्वर्यु से क्रियमाण कर्म आध्वर्यव संज्ञा को बाधेंगे। इसलिये [जयादिहोम] वैदिककर्मों के शेषभूत हैं ॥२७॥

—:०:—

व्याख्या—**अश्वप्रतिग्रह नाम की इष्टि है**—वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्-

---

१. तै० सं० २।३।१०।१॥

इष्टिः, अथ वैदिके इति ? कः पुनर्लौकिकोऽश्वप्रतिग्रहः, को वा वैदिक इति ? लोके भिक्षमाणो वा अभिक्षमाणो वा यत्राश्वं लभते, तत्र लौकिकाश्वप्रतिग्रहः। वैदिकोऽपि—पौण्डरीके 'अश्वसहस्रं दक्षिणा'[1], ज्योतिष्टोमे 'गौश्चाश्वश्च'[2] इति। तत्रोच्यते—वैदिकत्वसामान्याद् वैदिके। इति प्राप्ते उच्यते—

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥(पू०)

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्। दोषो हि श्रूयते—वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णात् इति। स चायमनुवादः। यत्र दोषस्तत्रेति। स च लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे शूद्रादन्यस्माद् वा पापकर्मणः कृतो भवतीत्युपपद्यते। दोषसंयोगाल्लौकिके इति गम्यते। आह। न

णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणाञ्चतुष्कपालान्निर्वपेत् (= वरुण देव उस को पकड़ लेता है, जो अश्वों का दान लेता है। जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे, उतने वरुण-देवतावाले चार कपालों में संस्कृत हवि से याग करे)। इस में सन्देह है—क्या लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में इष्टि का विधान है, अथवा वैदिक (=यज्ञसम्बन्धी) अश्व के प्रतिग्रह में ? लौकिक अश्व का प्रतिग्रह कौनसा है, अथवा कौनसा वैदिक है ? लोक में कोई पुरुष याचना करता हुआ अथवा याचना न करता हुआ जहां अश्व को [दानरूप में] प्राप्त करता है, वहां लौकिक अश्व का प्रतिग्रह होता है। वैदिक प्रतिग्रह भी—पौण्डरीक कर्म में सहस्र अश्व दक्षिणा होती है, और ज्योतिष्टोम में गौ और अश्व। इस विषय में कहते हैं—वैदिककर्मत्व के सामान्य से वैदिक अश्व प्रतिग्रह में इष्टि प्राप्त होती है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

दोषात् त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

सूत्रार्थः—(दोषात्) वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति इस दोष के श्रवण से (लौकिके) लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में (इष्टिः) इष्टि (स्यात्) होवे। (वैदिके) वैदिक अश्व के प्रतिग्रह में (शास्त्रात्) शास्त्रवचन प्रमाण से (हि) ही (न दोषः) दोष नहीं (स्यात्) होवे।

व्याख्या—[प्रतिग्रह में] दोष का श्रवण होने से अश्वप्रतिग्रह-इष्टि लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में होवे। [प्रतिग्रह में] दोष निश्चय ही सुना जाता है—वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। वह यह दोषश्रवण अनुवाद है। इस कारण जहां दोष होवे, वहां इष्टि होवे। वह दोष शूद्र वा अन्य पापयुक्त व्यक्ति से लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में उपपन्न होता है। इस कारण दोषसंयोग के श्रवण से लौकिक अश्व-प्रतिग्रह में है, ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) दोष का कथन प्रायश्चित्त-

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. द्र०—गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभाश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च ··द्वादशसहस्रं दक्षिणा। ताण्ड्य ब्रा० १६।१।१०-११॥

दोषसङ्कीर्त्तनं प्रायश्चित्तविषयविशेषणं, किन्तु प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थेन। उच्यते—दोषनिर्घातार्थे सत्येवं स्यात्। वरुणप्रमोचनमिदं कर्म, तल्लौकिके भवितुमर्हति। लोके वरुणग्रहणस्य विद्यमानत्वात्। वैदिके त्वश्वप्रतिग्रहे तन्न स्यात्। शास्त्राद्धि वचनेन तस्य कर्त्तव्यताऽवगम्यते। यदि च ततः पापं स्याद, न तस्य कर्त्तव्यतावगम्येत। अकर्त्तव्यं हि पापफलम्। ननु वैदिकेऽपि प्रतिग्रहे अप्रतिग्राह्यात् प्रतिगृह्णतः पापमस्ति। उच्यते—भवेदेवम्, यदि प्रतिग्रहस्य कर्त्तुरिष्टिर्भवेत्। सा तु खलु यथा हेतुकर्तुः, तथोत्तराऽधिकरणे वक्ष्यामः। तस्मान्न वेदचोदितेऽश्वप्रतिग्रहे इष्टिः, इत्येतावदिह अधिकरणे सिद्धम्॥२८॥

अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्माद् यज्ञे[1] प्रतीयेत ॥२९॥(उ०)

न चैतदस्ति यदुक्तम्—'यः शूद्रादन्यस्माद् वा पापकृतो लोकेऽश्वं प्रतिगृह्णीयात्,

---

विषय का विशेषण नहीं है, किन्तु प्रायश्चित्त की स्तुति के लिये है। (समाधान) दोष के नाश के लिये इष्टि होवे, तो इस प्रकार (=प्रायश्चित्त की स्तुति के लिये) होवे। वरुणदेव से छुड़ानारूप जो यह कर्म है, वह लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में हो सकता है। लोक में वरुण का ग्रहण विद्यमान होने से। वैदिक अश्व के प्रतिग्रह में वरुण-ग्रहण न होवे। शास्त्र के वचन से उस (=अश्व के प्रतिग्रह) की कर्त्तव्यता जानी जाती है। यदि उससे पाप होवे, तो उसकी (=वैदिक अश्व के प्रतिग्रह की) कर्त्तव्यता न जानी जाये। अकर्त्तव्य ही पाप के फलवाला होता है। (आक्षेप) वैदिक-प्रतिग्रह में भी अप्रतिग्राह्य (=जिस से प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये उस) से प्रतिग्रहण करनेवाले को पाप होता है। (समाधान) ऐसा होवे, यदि प्रतिग्रह के करनेवाले की इष्टि होवे। वह तो निश्चय ही जिस प्रकार हेतुकर्ता (=प्रतिग्रह का प्रेरक=अश्वदाता) की इष्टि है, वह अगले अधिकरण में कहेंगे। इस कारण वेदबोधित अश्वप्रतिग्रह में इष्टि नहीं है, इतना ही इस अधिकरण में सिद्ध है॥२८॥

अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्माद् यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् किसी शूद्रादि से लोक में अश्वग्रहण में इष्टि नहीं है। दोषसंकीर्तन (अर्थवादः) अर्थवाद है, (अनुपपातात्) अश्वग्रहण से वरुण-ग्रहण=जलोदर की प्राप्ति न होने से। (तस्मात्) इस कारण (यज्ञे) यज्ञ=वैदिक कर्म में जो अश्व-प्रतिग्रह किया, उसमें (प्रतीयेत) जाने।

विशेष—कुतुहलवृत्ति में याज्ञे पाठ है। उसका अर्थ स्पष्ट है। यज्ञकर्म में जो अश्व का प्रतिग्रह है, उस में इष्टि है।

व्याख्या—जो यह कहा है कि—'जो शूद्र से वा किसी पापकर्मा से लोक में अश्व का प्रतिग्रह

---

१. कुतुहलवृत्तौ 'याज्ञे' इति पाठान्तरम्। याज्ञे=यज्ञसम्बन्धिनि प्रतिग्रहे' इति तदर्थः।

स एतामिष्टिं निर्वपेत्' । स हि वरुणगृहीत इत्युच्यते । जलोदरेण यो गृहीतः, यस्योदरं जलवृद्ध्या श्वयति, जलोदरमित्येव लोके तत प्रसिद्धम् । न च तस्याश्वप्रतिग्रहो लौकिको निदानमिति प्रतिज्ञायते । न चानेन विधीयते । तस्मान्नाऽश्वप्रतिग्रहाज्जलोदरोपपातः ।

अथ पापं वरुणशब्देनोच्यते, वृणीते इत्येषोऽभिप्राय इति । तदा प्रसिद्धौ त्यक्तायां क्लेशमात्रं वृण्वद्ववरुणशब्देन उच्यते । तत्र याज्ञेऽपि प्रतिग्रहे वरुणगृहीतः स्यात् रक्षणपोषणविचिकित्सादिना क्लेशेन । नैष पक्षो व्यवतिष्ठेत—लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे इति । प्रसिद्धिश्च बाध्येत । तस्मादर्थवाद एषः । यावद् वरुणगृहीतस्य वरुणोन्मोचने श्रेयः, तावदेतेनेति । उपमानेन एषा स्तुतिः । योऽस्य प्रतिग्रहस्तद् वरुणग्रहणमिव,या इष्टिः सा तदुन्मोचनीव । यथा वरुणगृहीतेन उन्मोचनमवश्यकर्त्तव्यं, तादृगेवैतदिति । तस्माद् यज्ञे प्रतीयेत । लौकिके हि फलं कल्पनीयम् । वैदिके यस्मिन्नश्वप्रतिग्रहस्तस्याङ्गभूता भवि-

---

करे, वह इस इष्टि को करे' यह नहीं है । वह वरुणदेवता से गृहीत कहा जाता है । जो जलोदर रोग से गृहीत होता है, जिसका उदर जल की वृद्धि से फूल जाता है, वह रोग 'जलोदर' नाम से ही लोक में प्रसिद्ध है । उस रोग का निदान (=कारण) लौकिक अश्व का प्रतिग्रह है, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की जाती है [अर्थात् आयुर्वेद में इस रोग का यह निदान नहीं कहा है] । और इस [वैदिक वचन] से यह नहीं कहा जाता है । इस हेतु से अश्वप्रतिग्रह जलोदर का कारण नहीं है ।

और यदि वरुण शब्द से 'पाप' कहा जाता है, तो वह वरुण संभजन (=संपीडन) करता है, यह अभिप्राय होता है । तब प्रसिद्धि (=वरुणगृहीत का जलोदर अर्थ) के छोड़ने पर क्लेशमात्र (=दुःखमात्र) संपीडन (=पीड़ित) करता हुआ वरुण शब्द से कहा जाता है । उस अवस्था में [अश्व के] रक्षण पोषण तथा संशय आदि क्लेश से यज्ञसम्बन्धी [अश्व] प्रतिग्रह में भी वरुण (=क्लेश) से गृहीत होवे । इसलिये 'लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में [इष्टि होती है]' यह पक्ष व्यवस्थित नहीं होता है, और प्रसिद्धि भी बाधित होवे । इस कारण यह अर्थवाद है । जितना वरुण से गृहीत (=जलोदर से पीड़ित) का वरुण (=जल) से छुटकारा दिलाने में श्रेय होता है, उतना इस [इष्टि] से होता है । इस प्रकार उपमा से यह स्तुति है । जो इसका अश्वप्रतिग्रह है, वह वरुणगृहीत (=जलोदर) के समान है, जो इष्टि है वह उससे छुड़ानेवाली [चिकित्सा] के समान है । जिस प्रकार वरुण से गृहीत पुरुष के द्वारा उससे निवृत्ति अवश्य कर्तव्य है [अर्थात् जैसे जलोदर से पीड़ित व्यक्ति उस रोग से निवृत्ति का प्रयत्न अवश्य करता है], उसी तरह यह (=अश्वप्रतिग्रहेष्टि) है । इसलिये [अश्वप्रतिग्रह] यज्ञ में जाना जाये । लौकिक [अश्वप्रतिग्रह] में इष्टि के फल की कल्पना करनी होगी । वैदिक [अश्व के प्रतिग्रह] में जिस कर्म में अश्व का प्रतिग्रह किया है, उस कर्म का अङ्गभूत [यह इष्टि] होगी । वहां प्रयोजन के

ष्यति । तत्र प्रयोगवचनेन सहैकवाक्यता सम्बन्धाद् अवकल्प्यमाना—परोक्षायाः फल-वचनेन सहैकवाक्यताया लघीयसीति । युक्तम्–इष्टिर्वैदिके दाने इति॥२९॥ इति **वैदिका-ऽश्वप्रतिग्रहे इष्टिकर्तव्यताऽधिकरणम् ॥१०॥**

—:०:—

के साथ एकवाक्यता के सम्बन्ध से कल्पना की जाती हुई—परोक्ष फलवचन के साथ एकवाक्यता से लघीयसी (=लघुभूत) है । इस कारण वैदिक अश्व के दान में इष्टि होती है, यह युक्त है ।

विवरण—न जलोदरोपपातः—जलोदर का उपपात=उत्पत्ति=प्राप्ति नहीं होती है । **अथ पापम्**—पाप=दुःख (द्र०—आगे 'क्लेशमात्रम्' प्रयोग । **वृणीते इत्येषोऽभिप्रायः**—'वृङ् संभक्तौ' क्र्यादि, संभक्ति=संसेवन करना । क्लेश=दुःख व्यक्ति को खाते हैं, पीड़ित करते है । **परोक्षायाः फलवचनेन**–वैदिक अश्व-प्रतिग्रह में इष्टि का प्रत्यक्षफल श्रूयमाण न होने से फल की कल्पना करनी पड़ती है । अतः यह फलकल्पना परोक्ष है । जिस याग के साथ यह इष्टि पठित है, उसका अङ्ग बनने पर मुख्य याग के फल से फलवती होती है । पृथक् फल की कल्पना नहीं करनी पड़ती ।

विशेष—मीमांसा के इस अधिकरण की शबर स्वामी ने जो व्याख्या की है, **तदनुसार वैदिक कर्म** में दक्षिणा के रूप में जो अश्व दिया जाता है, तन्निमित्तक इष्टि है । यही अभिप्राय सभी व्याख्याकारों को स्वीकृत है । हमें इस व्याख्या में दो संशय हैं । प्रथम--यदि यज्ञ में **दक्षिणारूप** से विहित अश्व के प्रतिग्रह में दोष है, (वह चाहे प्रतिग्रहीता ऋत्विक् होवे, चाहे उत्तर अधिकरणानुसार प्रतिग्राहयिता दाता होवे) तो शास्त्रकारों ने ऐसी दोषयुक्त दक्षिणा का विधान ही क्यों किया ? यदि अश्व की दक्षिणा कर्मविशेष में शास्त्रविहित है, तो उसे लेने वा देनेवाले को दोष क्योंकर होवे ? द्वितीय—श्रुति में **प्रतिगृह्णाति प्रतिगृह्णीयात्** पदों का प्रयोग हुआ है । प्रतिपूर्वक ग्रह से ही **प्रतिग्रह** शब्द निष्पन्न हुआ है । मनुस्मृति १।८८ में ब्राह्मण के निम्न कर्म कहे हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

इन छः कर्मों में अध्यापन याजन और प्रतिग्रह=दान लेना वृत्त्यर्थ (=निर्वाह के लिये) है । याजनकर्म से जो दक्षिणा प्राप्त होती है, वह तो ऋत्विक् का पारिश्रमिक है । इस में सभी सहमत हैं । प्रतिग्रह दान के साथ श्रुत है । अतः जो द्रव्य किसी विना परिश्रम के दाता से प्राप्त होता है, उसको स्वीकार करना प्रतिग्रह का अर्थ है । यतः विना परिश्रम के वह धन प्राप्त होता है, इसी लिये उसे शास्त्रकारों ने निन्दनीय माना है—**प्रतिग्रहो प्रत्यवरः** (मनु० १०।१०९) । इस दृष्टि से ऋत्विक् यदि यज्ञ में दक्षिणारूप से दिये गये अश्व को ग्रहण करता है, तो वह प्रतिग्रह ही नहीं है । जब दक्षिणा को स्वीकार करना प्रतिग्रह नहीं है, तो यज्ञीय दक्षिणारूप में

[दातुर्वारुणीष्टयधिकरणम् ॥११॥]

यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेद् इति । तत्रैतत् समधिगतम्—वैदिके अश्वप्रतिग्रहे इष्टिरिति । अथेदानीं सन्दिह्यते—किं प्रतिग्रहकर्त्री कर्त्तव्या यस्मै दीयते, उत हेतुकर्त्री यो ददातीति ? किं प्राप्तम् ?

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥ (पू०)

अश्व को ग्रहण करनेवाला (पक्षान्तर में प्रतिग्राहयिता=यजमान) किसी दोष से युक्त ही नहीं हुआ, तो वह इष्टि क्यों करे ? तैत्तिरीय संहिता काण्ड २ प्रपाठक ३ में प्राय: काम्येष्टियों का विधान है । प्रकृत वारुणेष्टि (अनु०११) से उत्तर अनुवाक (१२) में पाप्मना गृहीत की इष्टि का विधान है । और वहां भी इष्टि से वरुणपाश से मोचन का निर्देश किया है । अतः प्रकृत वारुणेष्टि भी लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में है । क्योंकि **ब्राह्मणस्य गौर्वरः** ब्राह्मण द्वारा गौ ही वरणीय है । उसी के घृतादि से वह यजनकर्म में समर्थ होता है (प्राचीन काल में दूध घी का विक्रय निन्द्य कर्म माना जाता था) । अश्व क्षत्रिय का वर माना गया है । वह युद्धादि में अथवा आततायियों से प्रजा की रक्षा में उसका सहायक होता है । इस दृष्टि से हमारा विचार है कि जो ब्राह्मण लोभवश अश्व का किसी से प्रतिग्रह करता है, उस दोष की निवृत्ति के लिये वारुणेष्टि का विधान है । वरुण से गृहीत होने का अर्थ केवल जलोदररोग से ग्रस्त होना ही नहीं है, अपितु नियमविरुद्ध किसी भी कर्म के करने पर वरुण अपने पाश में बांधता है, पीड़ित करता है । तदनुसार **दोषात्त्विष्टिर्लौकिके** सूत्र (२८) लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में वारुणेष्टि का विधायक सूत्र है । इसी प्रकार **अर्थवादो वाऽनुपपातात्** सूत्र (२९) की अन्य उदाहरण के साथ व्याख्या करनी चाहिये । परम्पराप्राप्त व्याख्या ठीक ही है, ऐसा किसी भी व्याख्याकार का मत नहीं है । (देखो—उत्तर अधिकरण के अन्त में विशेष-निर्दिष्ट प्रकरण) ॥२९॥

—:०:—

व्याख्या–यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्। इसमें यह जाना गया है कि—वैदिक अश्वप्रतिग्रह में इष्टि है । अब यह सन्देह होता है कि—क्या प्रतिग्रह (=दान) स्वीकार करनेवाले को यह इष्टि करनी चाहिये, अर्थात् जिसको अश्व दिया जाता है,वह इष्टि करे, अथवा हेतुरूप कर्त्ता (=प्रतिग्रह का निमित्तरूप कर्त्ता) जो अश्व का दान करता है, वह इष्टि करे ? क्या प्राप्त होता है ?

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३ ॥

सूत्रार्थः—'अश्व का दान लेनेवाला इष्टि करे' अर्थ (अचोदितम्) कथित नहीं है, (च) और (कर्मभेदात्) दान देना और दान लेना रूप कर्म के भेद के कारण यह लेनेवाले की इष्टि है ।

न दानस्य कर्त्तुरिष्टिश्चोद्यते। प्रतिग्रहकर्त्तुस्तामवगच्छामः। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतश्चतुष्कपालान् वारुणान्निर्वपेदिति। तस्मात् प्रतिग्रहीता ऋत्विजा कर्त्तव्या इति ॥३०॥

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥(उ०)

नैषा प्रतिग्रहकर्त्तुः। किं तर्हि? हेतुकर्त्तुः स्यात्। कुतः? लिङ्गात्। किं लिङ्गम्? पूर्वपदानामुत्तरैः पदैर्यथार्थमभिसम्बन्धः। इदं श्रूयते—**प्रजापतिर्वरुणायाऽश्वमनयद्**[1] इति। प्रजापतिरश्वस्य दाता कीर्त्तितः, वरुणः प्रतिग्रहीता। **स स्वां देवतामार्च्छद्**[1] इति। स इति सापेक्षम् पूर्वप्रकृतं वाक्यशेषमपेक्षते। स इति प्रजापतिं प्रतिनिर्दिशतीति, तेन सहैकवाक्यतां

व्याख्या—दान के कर्त्ता के प्रति इष्टि नहीं कही गई है। इस कारण प्रतिग्रह करनेवाले की उस इष्टि को हम जानते हैं। जितने अश्वों को ग्रहण करे, उतने चार कपालों में संस्कृत वरुण देवतावाले पुरोडाशों से याग करे। इसलिये प्रतिग्रह करनेवाले ऋत्विक् से यह इष्टि कर्तव्य है ॥३०॥

सा लिङ्गाद् आर्त्विजे स्यात् ॥३१॥

सूत्रार्थः—(सा) वह अश्वप्रतिग्रहेष्टि (लिङ्गात्) लिङ्ग से (आर्त्विजे) ऋत्विक् के प्रेरक=अश्व के दाता यजमान में स्थित (स्यात्) होवे। अर्थात् अश्व का दान करनेवाला यजमान अश्वप्रतिग्रहेष्टि करे।

व्याख्या—यह (=अश्वप्रतिग्रहेष्टि) प्रतिग्रह स्वीकार करनेवाले की नहीं है। तो फिर किसकी है? हेतुभूत कर्त्ता (=प्रतिग्रह के निमित्तरूप कर्त्ता) की है। किस हेतु से? लिङ्ग से। वह लिङ्ग क्या है? पूर्वपदों का उत्तरपदों के साथ यथार्थ सम्बन्ध। यह सुना जाता है—प्रजापतिर्वरुणायाऽश्वमनयत् (=प्रजापति ने वरुण को अश्व दिया)। यहां प्रजापति अश्व का देनेवाला कहा गया है, वरुण प्रतिग्रहीता। स स्वां देवतामार्च्छत् (=उसने अपनी देवता को आर्त किया=दुःखी किया)। 'सः' यह सापेक्ष है पूर्वप्रकृत वाक्यशेष की अपेक्षा रखता है। इस से 'सः' पद प्रजापति का निर्देश करता है, इसलिये उसके साथ एकवाक्यता को प्राप्त

---

१. तैत्तिरीयसंहितायां एवं सकलः पाठः—**प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्। स स्वां देवतामार्च्छत्, स पर्यदीर्यत, स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तं निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत। वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्** ॥ २।३।१२॥

याति। सामानाधिकरण्याच्च प्रजापतेरेव प्रतिनिर्देशोऽवकल्पते, न तु वरुणस्य वैयधिकरण्यात्। स पर्यदीर्यत, इत्येषोऽपि प्रजापतिमेव प्रतिनिर्दिशति पूर्वप्रकृतम्। तेन च सहैकवाक्यतां याति। 'स एवैतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्,इति प्रजापतिरेवेति। तं निरवपत् प्रजापतिरेवेति। ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत प्रजापतिः। वरुणो वा एतं गृह्णाति इति हेत्वपदेशोऽयम। यस्मादेव प्रजापतिर्वरुणाय अश्वं दत्त्वा परिदीर्णः,तस्माद् योऽश्वं प्रतिगृह्णाति प्रयच्छति तं वरुणो गृह्णाति, स परिदीर्यते इति। यतस्तु वारुणेन प्रतिमुक्तस्तस्मादन्येनाप्यश्वं प्रयच्छता वारुणो निर्वप्तव्यः। इत्यश्वस्य दातुर्वारुणी इष्टिः प्रशस्यते, कर्त्तव्या। अनेनाख्यातेन—तस्मादश्वं दत्त्वा वारुणीमिष्टिं निर्वपेदिति।

आह,'ननु योऽश्वं प्रतिगृह्णाति,स निर्वपेत्'इत्युच्यते। एवं सत्यन्यथोपक्रान्ते वाक्येऽन्यथोपसंहृते उपक्रमोऽप्यनर्थकः स्याद्, उपसंहारोऽपि। तस्मादुपक्रमे वा शब्दार्थ उप-

---

होता है। और सामानाधिकरण्य से भी प्रजापति का ही निर्देश समर्थ (=युक्त) होता है, वैयधिकरण से वरुण का निर्देश युक्त नहीं होता है। स पर्यदीर्यत (=वह परितः दीर्ण=दीर्घरोग से ग्रस्त हुआ), यह 'सः' निर्देश भी पूर्वप्रकृत प्रजापति का ही निर्देश करता है। और उसके साथ एकवाक्यभाव को प्राप्त होता है। स एवैतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत् (=उसने ही इस वरुणदेवतावाले चतुष्कपाल में संस्कृत पुरोडाशवाले याग को देखा),यहां भी 'सः' से प्रजापति ही निर्दिष्ट है। तं निरवपत्(=उसका निर्वाप किया=याग किया),यहां भी'निरवपत्'का कर्त्ता प्रजापति ही है।ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत प्रजापतिः(=उस से वह वरुण के पाश से मुक्त हुआ प्रजापति)।वरुणो वा एतं गृह्णाति(=वरुण इसको पकड़ता है),यह हेतु का कथन है। जिस कारण से प्रजापति वरुणको अश्व देकर पीडित हुआ,इस कारण योऽश्वं प्रतिगृह्णाति(=जो अश्व का प्रतिग्रह करता है)[में प्रतिगृह्णाति का अर्थ है] प्रयच्छति (=देता है)।'तं वरुणो गृह्णाति (=उस को वरुण ग्रहण करता है), वह पीडित होता है। जिस कारण वरुण देवता के ग्रहण से मुक्त हुआ, इसलिये अन्य भी अश्व को देनेवाले को वरुण देवतावाले हवि का निर्वाप(=याग करना चाहिये। इस प्रकार अश्व के देनेवाले की यह वारुणी इष्टि प्रशंसित होती है, इसे करना चाहिये। [निर्वपेत्] इसे आख्यात (=क्रिया) से—तस्मादश्वं दत्त्वा वारुणीमिष्टिं निर्वपेत्।

विवरण—स स्वां देवतामाच्छंत्—श्रुति में प्राजापत्यो वा अश्वः(=अश्व प्रजापतिदेवतावाला है। इससे प्रजापति ही अश्व का देवता=स्वामी है। जब उसने वरुण को अश्व दे दिया,तब प्रजापति अपने अश्व के स्वामित्व के नष्ट हो जाने से दुःखी हुआ। स पर्यदीर्यत=वह अश्वनिमित्तक दुःख से परितः दीर्ण=दीर्घरोग से ग्रस्त हुआ।

व्याख्या—(आक्षेप) 'जो अश्व का प्रतिग्रह करता है, वह निर्वाप करे' ऐसा कहा जाता है। (समाधान)इस प्रकार(=प्रतिग्रहीता की इष्टि) होने पर अन्य प्रकार से आरम्भ किये गये वाक्य में, और अन्य प्रकार से उपसंहृत में उपक्रम भी अनर्थक होवे, और उपसंहार भी। इसलिये

संहारवशेन कल्पनीयः, उपसंहारे वोपक्रमवशेन । तत्र 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इति वरुणादश्वं प्रत्यगृह्णादिति उपसंहारानुरोधेन कल्प्येत । यद्वोपक्रमवशेनोपसंहारम्—योऽश्वं प्रतिगृह्णातीति,योऽश्वं प्रतिग्राहयतीति । तत्र 'मुख्यं वा पूर्वं चोदनाल्लोकवदिति' प्रथममनुग्रहीतव्यं विरोधाभावात् । पश्चात्तनं तु विरोधाल्लक्षणया कल्पनीयम् ।

अपि च—'प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्' इति वरुणादश्वं प्रत्यगृह्णादिति बह्वसमञ्जसं कल्पयितव्यम् । प्रतिगृह्णातीत्येष शब्दः प्रतिग्राहयतीत्येतमर्थं शक्नोति यथा कयाचिच्छक्त्या वक्तुम् । यो हि तदाचरति, येन च क्रिया प्रणाड्याऽपि सिध्यति,स तस्याः क्रियायाः कर्तेति शक्यते वदितुम्।यथा षड्भिर्हलैः कर्षतीति संविधानं कुर्वन् विलेखनमकुर्वन्नप्युच्यते, तत्समर्थमाचरति इति, एवमिहापि स प्रतिग्रहसमर्थमाचरति यो ददाति । तस्माद् ददत् प्रतिगृह्णातीति शक्यते वदितुम्। तस्मादध्यवधार्य्यदमवक्लृप्तम्–ददत् प्रतिगृह्णातीत्युच्यते, तस्य च वारुणी इष्टिरिति ॥३१॥ इति दातुर्वारुणीष्ट्यधिकरणम् ॥११॥

—:०: —

उपक्रम में उपसंहार के अनुसार शब्दार्थ की कल्पना करनी चाहिये, अथवा उपसंहार में उपक्रम के अनुसार । वहां प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् में 'प्रजापति ने वरुण से अश्व का प्रतिग्रह किया' यह अर्थ उपसंहार के अनुरोध से कल्पित किया जाये । अथवा उपक्रम के अनुसार—योऽश्वं प्रतिगृह्णाति का, 'जो अश्व का प्रतिग्रह कराता है' अर्थ कल्पित किया जाये । वहां (इस प्रकार द्विधा प्राप्ति होने पर) 'मुख्यं वा पूर्वं चोदनाल्लोकवत्' [मी० १२।२।२५] (=मुख्य का प्रथम कथन होने से, लोक के समान) इस न्याय से प्रथम का अनुग्रह करना चाहिये, विरोध न होने से । पीछे होनेवाला वचन [प्रथमवचन के साथ] विरोध होने से लक्षणा से समर्थित करना चाहिये ।

और भी— प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्' का 'वरुण से प्रजापति ने अश्व लिया' अर्थ की कल्पना में बहुत अयुक्त कल्पना करनी होगी । प्रतिगृह्णाति,यह शब्द प्रतिग्रह कराता है,(=प्रतिग्रह का निमित्त होता है), इस अर्थ को जिस-किसी भी शक्ति से कह सकता है ।जो ही उसका आचरण करता है, और जिस से क्रिया किसी भी प्रनाडी (=परम्परा) से सिद्ध होती है, वह उस क्रिया का कर्त्ता है, ऐसा कहा जा सकता है । जैसे [कोई व्यक्ति भृत्यों को देय सामग्री का] सम्पादन करता हुआ, स्वयं खेत न जोतता हुआ भी, षड्भिर्हलैः कर्षति (=छः हलों से खेत जोतता है), ऐसा कहा जाता है, उस = छः हलों से खेत जोतने के योग्य आचरण करता है, इसी प्रकार यहाँ भी 'वह प्रतिग्रह के योग्य आचरण करता है, जो [अश्व] देता है । इसलिये देता हुआ व्यक्ति 'प्रतिग्रह करता है' ऐसा कहा जा सकता है । इससे यह निश्चय करके कि यह कथन युक्त होता है– देता हुआ प्रतिग्रह करता है, और उसकी यह वारुणी इष्टि है ।

विशेष—जिस प्रकार पूर्व अधिकरण की भाष्यकार आदि की व्याख्या शास्त्रविरुद्ध होने से

नहीं जची, उसी प्रकार इस प्रकरण की शबरस्वामी की व्याख्या भी हमें नहीं जंचती है। यद्यपि भट्ट कुमारिल ने भाष्यकारीय व्याख्या **दातुर्वारुणेष्टिः** को मान लिया है, तथापि ग्रन्त में मैत्रायणीय संहिता के **स एषोऽश्वः प्रतिगृह्यते**' का निर्देश करके प्रतिग्रहीत की इष्टि को स्वीकार करते हुए अश्वदाता और अश्वप्रतिग्रहीता दोनों की इष्टि माना है। साथ ही भाष्यकार द्वारा उदाहृत तैत्तिरीय संहिता के वचन में दाता की इष्टि की स्थापना की है। कुतुहल वृत्तिकार वासुदेव यज्वा ने तैत्तिरीय संहिता की भाष्यकारविहित व्याख्या में विविध दोष दर्शाकर प्रतिग्रहीता के लिये वारुणेष्टि का विधान सिद्ध किया है। इस में तीन हेतु और भी दिये हैं। एक—तैत्तिरीय शाखा और मैत्रायणीय शाखा का अविरोध। दूसरा—**प्राचीन भाष्येषु** का निर्देश करके लिखा है—प्राचीनभाष्यों में प्रतिग्रहीता की इष्टि है। ये प्राचीनभाष्य कौनसे थे, यह स्पष्ट नहीं किया। तीसरा–भारद्वाज सूत्र को उद्धृत करके दर्शाया है कि भारद्वाज आचार्य प्रतिग्रहीता की इष्टि मानते हैं। भारद्वाजसूत्र इस प्रकार है–**यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयादिति प्रतिग्रहणे पुरोडाशः स्यादित्याश्मरथ्यः** (भारद्वाज परिशेषसूत्र ११७)।

हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ) श्रौतसूत्र में कहा है – **ऋत्विजोऽश्वप्रतिग्रहणे वारुणी यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्** (२२।५।११) इसमें स्पष्ट अश्व-प्रतिग्रहीता ऋत्विक् के लिये इष्टि कही है।

सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता (२।३।१२) के भाष्य में शबरस्वामी के मतानुसार 'अश्वदाता की इष्टि' मानकर अर्थ दर्शाया है। भट्टभास्कर ने अश्वदाता की इष्टिपरक व्याख्यान करके **वारुणो वा अश्वः** ब्राह्मणपाठ को उद्धृत करके प्रतिग्रहीतापरक भी व्याख्यान किया है। मैत्रायणीय संहिता २ ३।३ के पाठ से स्पष्ट ही प्रतिग्रहीता की इष्टि विदित होती है। काठक संहिता १२।६ में भी प्रतिग्रहीता की इष्टि विदित होती है। काठक सं० में **वारुणो वा एतमग्रे प्रत्यगृह्णात् स स्वां देवतामार्च्छत्, तं वरुणोऽगृह्णात् स एतेन वारुणेन हविषाऽयजत निर्वरुणत्वा** ...इत्यादि पाठ है। यहां तै० सं० के समान '**प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्** वाक्य नहीं है। वहां 'वरुण ने निश्चय ही इस अश्व को पहले प्रतिग्रहण किया था, उसने अपनी देवता को दुःखी किया, उस को वरुण ने जकड़ा, उसने इस वरुण देवतावाली हवि से यजन किया। वरुणदोष से रहित होने के लिये' ऐसा निर्देश है। अतः का० सं० के पाठ में **स स्वां** में 'स' से वरुण का ही ग्रहण होगा। और यहां अपनी देवता का दुःखी करना, उसी का वरुण के द्वारा गृहीत होना। उसी का वरुणदेवताक हवि से यजन करना, अभिप्राय व्यक्त होता है। इस पाठ के अनुसार तैत्तिरीय संहिता के **प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वां देवतामार्च्छत्** पाठ में भी '**सः**' शब्द से पूर्ववाक्यपठित समीपोच्चरित वरुण का प्रतिनिर्देश हो सकता है। शबरस्वामी ने 'सः' से वरुण के ग्रहण में 'वैयधिकरण' दोष दर्शाया है। यह दोष साधारण है। लोक में भी बहुधा पूर्व अन्यविभक्ति से निर्दिष्ट

१. मैत्रायणी संहिता (२।३।३) में **अथैषोऽश्वः प्रतिगृह्यते** पाठ है।

[वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानाऽधिकरणम् ॥१२॥]

इदं समामनन्ति—**सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः**[1] इति। तत्र सन्देहः—लौकिकस्य सोमपानस्य वमने सौमेन्द्रश्चरुः,उत वैदिकस्येति? किं लौकिकं सोमपानं, किञ्च वैदिकम्? उच्यते—वैदिकं सोमपानं ज्योतिष्टोमे तद्विकृतिषु च। लौकिकं सोमपानं यत् सप्तरात्रेषु दशरात्रेषु च धातुसाम्यार्थमासेव्यमाने सोमे। किं तावत् प्राप्तम्?

का उत्तर अन्यविभक्त्यन्त सर्वनाम से प्रतिनिर्देश देखा जाता है। अतः मैत्रायणीय संहिता, काठक संहिता तथा हिरण्यकेशीय (सत्याषाढ) श्रौत, भारद्वाज श्रौत आदि की एकवाक्यता को देखते हुए तैत्तिरीय संहिता की भी 'प्रतिग्रहीता की इष्टि' तात्पर्यपरक व्याख्या करनी चाहिये। 'दाता की इष्टि' मानने में मन्त्र के साथ साक्षात् विरोध भी होता है। ऋ० १०।१०७।२ का मन्त्र इस प्रकार है—

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।

इस में 'अश्व देनेवाला सूर्य के साथ निवास करता है' ऐसा कहा है। यदि अश्वदान दोष का निमित्त हो, तो इस मन्त्र में अश्वदाता की प्रशंसा न होती। अगले सातवें मन्त्र में दक्षिणा में अश्व गौ चांदी सोना अन्न देने का निर्देश है॥३१॥

—:०:—

व्याख्या—यह पढ़ते हैं—**सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः (=सोम और इन्द्र देवतावाले श्यामाक चरु का निर्वाप करे, सोम का वमन करनेवाले यजमान के लिये)। इस में सन्देह है—क्या लौकिक सोमपान के वमन में सौमेन्द्र चरु कही है, अथवा वैदिक सोमपान के वमन में? लौकिक सोमपान क्या है,और वैदिक क्या है? कहते हैं—वैदिक सोमपान ज्योतिष्टोम में, और उस की विकृतियों में** होता है। **लौकिक सोमपान, जो सातरात्रियों(=दिनों,में अथवा दशरात्रियों में [पित्त आदि]धातुओं के साम्य के लिये सेवन किये जा रहे सोम में। क्या प्राप्त होता है?**

विवरण—सौमेन्द्रं चरुम्—यहां **देवताद्वन्द्वे च** (अष्टा० ७।३।२१) से प्राप्त उभयपद वृद्धि में **नेन्द्रात् परस्य** (अष्टा० ७।३।२१) से उत्तर पद इन्द्र को वृद्धि का प्रतिषेध होता है। तै० सं० २।३।२ में **सोमेन्द्रं श्यामाकं चरुम्** पाठ है, उसमें पूर्वपद में भी वृद्ध्यभाव हैं। यह वृद्ध्यभाव छान्दस जानना चाहिये। **श्यामाकं सोमवामिनः**—श्यामाक नाम 'सावां' नाम से प्रसिद्ध अकृष्टपच्य (=विना खेत जुते उत्पन्न होनेवाले)धान्य का है। यह व्रीहि का ही भेद है। विहार आदि प्रांतों में इसे प्रायः निर्धन व्यक्ति खाते हैं। **सप्तरात्रेषु दशरात्रेषु**—यहां रात्रि अभिप्रेत नहीं है। रात्रि पद दिन (=२४ घण्टे) का उपलक्षक है। **धातुसामर्थ्यम्**—आयुर्वेद में इसका वमन आदि के द्वारा कफादि धातुओं की समता के लिये विधान मिलता है।

---

1. मै० सं० २।२।१३॥ तु०—तै० सं० २।३।२।७॥

पानव्यापच्च तद्वत् ॥ ३२ ॥ (पू०)

पानव्यापच्च तद्वत्—लौकिके वमने इष्टिर्भवितुमर्हति, न वैदिके। तद्वद् इति पूर्वः पक्षः प्रतिनिर्दिष्टः। यथा तत्र दोषसंयोगेन श्रवणाल्लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे इत्युक्तम्, एवमिहापि दोषसंयोगेन श्रवणं भवति—**इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति**[1] इति। लोके धातुसाम्यार्थमासेविते वमनेन विनष्टे धातुसाम्यव्यापदा इन्द्रियेण व्यृद्धिरुपपद्यते। शास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्। तत्र **शेषः पातव्य** इति शब्दाच्चोदिते निर्वृत्ते नास्ति दोषः। यद्यपि वम्यते, तथापि पानक्रिया तत्र निर्वर्त्तिता, कृतो वचनार्थः, इति न दोषः स्यात्। तस्माल्लौकिकस्य सोमपानस्य व्यापदि सौमेन्द्रः स्यात् ॥३२॥

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥ (उ०)

पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥

सूत्रार्थः—(पानव्यापत्) सोमपान की व्यापत्ति=पीये सोम का वमन (च) भी (तद्वत्) अश्व के प्रतिग्रहेष्टिवत् सोम के वमन में जानना चाहिये। अर्थात् लौकिक सोम के पान में सौमारौद्रेष्टि होती है।

व्याख्या—पान का वमन उसी प्रकार जानना चाहिये, अर्थात् लौकिक वमन में इष्टि हो सकती है, वैदिक में नहीं। तद्वत् से पूर्वपक्ष का निर्देश किया है। जैसे वहां (=अश्वप्रतिग्रहेष्टि में) दोष के संयोग से [इष्टि का] श्रवण होने से लौकिक अश्व के प्रतिग्रह में होती है ऐसा कहा है, इसी प्रकार यहां भी दोष के संयोग से [सौमेन्द्र इष्टि का] श्रवण होता है—इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते यः,सोमं वमति (= यह निश्चय ही इन्द्रियसामर्थ्य से हीन होता है, जो सोम का वमन करता है)। यहां लोक में धातुओं की समता के लिये सेवन किये गये सोम के वमन से सोम के नष्ट हो जाने से धातुओं की समता की हानि से इन्द्रिय से हीनहोना उपपन्न होता है। शास्त्र के विधान से वैदिक सोमपान में दोष न होवे। वहां (= वैदिक सोमपान में) शेषः पातव्यः (=हुत सोम के शेष का पान करना चाहिये) इस वचन से कहे गये सोमपान के हो जाने पर [वचन में] दोष नहीं है। यद्यपि सोम का वचन होता है, तथापि [शास्त्रविहित सोम के] पान की क्रिया पूर्ण हो गई है, 'शास्त्रवचन का प्रयोजन पूरा पूरा हो गया', अतः [=उसके वचन में] दोष नहीं होना चाहिये। इसलिये लौकिक सोम के पान के वमन में सौमेन्द्र इष्टि होवे ॥३२॥

दोषात्तु वैदिके स्याद् अर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् लौकिक सोम के वमन

---

1. मै० सं० २।२।१३॥

वैदिकस्य पानस्य व्यापदि भवितुमर्हति, न लौकिकस्य। कस्मात्? दोषात्। दोषसम्बन्धोऽत्र श्रूयते—**इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते**' इति। लौकिके पुनर्धातुसाम्यार्थं क्रियमाणे न किञ्चिद् दुष्यति। वमनायैव हि तं पिबन्ति लोके। अथापि अयमर्थवादः, तथापि फलकल्पनापरीहाराय वैदिके एवेति कल्पना न्याय्या॥३३॥ इति **वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानाऽधिकरणम्**॥१२॥

—:०:—

में सौमेन्द्र इष्टि होती है यह ठीक नहीं है। (दोषात्) दोष का निर्देश होने से (वैदिके) वैदिक सोम के वमन में इष्टि (स्यात्) होवे। (लौकिके) धातुसमता के लिये लौकिक सोम के पान में (अर्थात्) प्रयोजन से (हि) ही (दोषः) दोष (न) नहीं होवे। अर्थात् लोक में धातुसाम्य के लिये विहित सोम का पान वमन के लिये ही कराया जाता है। अतः उस सोम का वमन हो जाने में दोष नहीं है, उलटा प्रयोजन ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—**वैदिक सोम के पान के वमन में [सौमेन्द्र इष्टि] होनी चाहिये, लौकिक सोम के वमन में नहीं होनी चाहिये।** किस हेतु से? दोष से। **यहां दोष का संबन्ध सुना जाता है**—इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते (=**इन्द्रियसामर्थ्य से यह निश्चय ही हीन होता है**)। **लोक में तो धातुओं की समता आदि के लिये किये जा रहे सोमपान में [उसके वमन हो जाने पर] कोई दोष नहीं होता है। क्योंकि उसे वमन के लिये ही लोक में पीते हैं। और यदि यह [='इन्द्रियेण वा एषः' वचन] अर्थवाद है, तो भी फल की कल्पना के परित्याग के लिये वैदिक सोमपान में ही यह [सौमेन्द्र इष्टि की] कल्पना न्याय्य है।**

विवरण अथापि अर्थवादः—**इन्द्रियेण वा एष** इत्यादि वचन। फलकल्पनापरिहाराय—दोषवचन न मानने पर सौमेन्द्र इष्टि के लौकिक सोमपान के वमन में मानने पर उस इष्टि के फल की कल्पना करनी होती है—किस प्रयोजन के लिये यह इष्टि की जाये? अर्थात् इस इष्टि का फल क्या होना चाहिये? सूत्रकार ने तो **इन्द्रियेण वा एष** वचन को दोषबोधक वचन माना है। भाष्यकार ने दुर्जनसन्तोष न्याय से इसे अर्थवाद मानने पर भी लौकिक सोमपान के वमनपक्ष में इष्टि मानने पर फलकल्पनारूप दोष का निर्देश करके वैदिक सोमपान के वमन में इष्टि मानने की न्याय्यता प्रदर्शित की है। इस पक्ष में इष्टि के फल की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि ज्योतिष्टोम आदि जिस में सोमपान कहा है, उसका जो फल है वही इसका भी होगा॥३३॥

—:०:—

१. मै० सं० २।२।१३॥

[सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम् ॥१३॥]

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥ (पू०)

तदेतत् सोमपानव्यापदि सौमेन्द्रं कर्म, सर्वत्र वमने स्यादार्त्विजे याजमाने च। कुतः ? अविशेषात्। न विशेषः कश्चित् आश्रीयते—'अस्य वमने स्यान्नास्येति'। तस्मात् सर्वत्र भवेत् ॥३३॥

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥ (सि०)

स्वामिनो वा वमने स्यात्। कुतः ? तदर्थत्वात्। तदर्थं कर्म्म यजमानार्थम्, यत्र सोमो वम्यते। यत् त्वत्र सौमेन्द्रं कर्म्म, तदपि तदर्थमेव। इदं हि सोमवामिन उपकाराय श्रूयते। तत् सोमवामिनो[1] यजमानस्योपकर्त्तुं शक्नोति, नर्त्विजः। नहि तद् ऋत्विगर्थं

तत् सर्वत्राविशेषात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थः—(तत्) वह सौमेन्द्र इष्टि (सर्वत्र) ऋत्विक् और यजमान सब के सोमवमन में होवे। (अविशेषात्) विशेषनिर्देश का अभाव होने से। **सोमवामिनः** ऐसा सामान्यनिर्देश है। यज्ञ में हविशेषरूप में सोम का पान ऋत्विक् और यजमान सभी करते हैं।

व्याख्या—जो यह सोमपान के वमन में कहा गया सौमेन्द्र कर्म है, वह सर्वत्र वमन में होवे ऋत्विक् के और यजमान के। किस हेतु से ? विशेष न कहने से। किसी विशेष का आश्रयण नहीं किया जाता है—'इस के वमन में होवे, इसके वमन में न होवे'। इसलिये सर्वत्र होवे ॥३४॥

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, अर्थात् ऋत्विक् यजमान सभी के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि नहीं है। (स्वामिनः) स्वामी=यजमान के वमन में होवे, (तदर्थत्वात्) कर्म के उस के लिये होने से।

व्याख्या—स्वामी के वमन में [सौमेन्द्र कर्म] होवे। किस हेतु से ? उस के लिये होने से। उस के लिये कर्म है=यजमान के लिये जिस कर्म में सोम का वमन होता है, [वह]। इसलिये जो यहां [सोमवमन में] सौमेन्द्र कर्म है, वह भी उसी के लिये ही है। यह कर्म सोमवामी के उपकार के लिये सुना जाता है। वह कर्म सोमवामी यजमान का उपकार कर सकता है, ऋत्विजों का उपकार नहीं कर सकता। वह कर्म ऋत्विजों के लिये नहीं है, जिसमें सोम का वमन हुआ है।

---

1. क्वचित् 'तत्सोमवामिनो यद् यजमानस्य' इति पाठः।

कर्म, यत्र सोमो वम्यते। अथोच्येत—सोमवामिनोऽध्वर्य्योर्होतुर्वा आत्मीया ऋत्विजः, तदीयेष्वग्निषु निर्वर्त्तयिष्यन्ति इति। तथा सति[1] व्यृद्धसोमस्य कर्म्मणो नाङ्गं, न सोमवामिनोऽध्वर्य्योः होतुर्वा। तत्र अत्यन्तगुणभूता अध्वर्य्वादयः स्वैर्ऋत्विग्भिः कारयन्तो न फलं प्राप्नुवन्ति। तदर्थं च क्रियमाणं न यजमानस्य उपकारे वर्त्तते। इति न ऋत्विजो वमने क्रियेत ॥३५॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३६॥ (सि०)

लिङ्गं च भवति—यजमानस्य सोमवामिन इति। कथम्। **सोमपीथेन वा एष व्यृध्यते, यः सोमं वमति**[2] इति। यजमानः सोमसंस्कारे विनष्टे विगुणमस्य कर्म्मेति व्यृध्यते, न

यदि यह कहो कि—सोमवामी अध्वर्यु वा होता के जो अपने ऋत्विक् हैं, वे उन की अग्नि में [सौमेन्द्र कर्म] सम्पन्न करेंगे। वैसा होने पर वह [=सौमेन्द्र कर्म] जिसमें वमन हुआ है, उस कर्म का अङ्ग नहीं होगा, और न सोमवामी अध्वर्यु वा होता के कर्म का अङ्ग होगा। उस अवस्था में अत्यन्त गुणभूत हुए अध्वर्यु आदि ऋत्विक् अपने ऋत्विजों से [सौमेन्द्र कर्म] कराते हुए फल को प्राप्त नहीं होते हैं। और नाही ऋत्विजों के लिये किया गया [सौमेन्द्र कर्म] यजमान का उपकारक होता है। इसलिये ऋत्विजों के वमन में [सौमेन्द्र कर्म] नहीं किया जाता है।

विवरण—अथोच्येत—सोमवामिनः—इस का यह भाव है कि देवदत्त आदि किसी व्यक्ति के ज्योतिष्टोम आदि में कार्य करनेवाले अध्वर्यु वा होता सोम का वमन करें, तो उन अध्वर्यु वा होता के अपने जो ऋत्विक् हैं, वे अध्वर्यु वा होता की अग्नि में सौमेन्द्र कर्म कर लेंगे। **तत्र अत्यन्तगुणभूता अध्वर्य्वादयः**—देवदत्त आदि अग्निष्टोम आदि करनेवाले के जो अध्वर्यु आदि हैं, वे कर्म उसके प्रति अत्यन्त गुणभूत हैं, क्योंकि वे सोमयाग करनेवाले व्यक्ति के द्वारा दक्षिणा से क्रीत से हैं ॥३५॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थः—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी यजमान के सोमवमन में सौमेन्द्र कर्म विहित है।

व्याख्या—**लिङ्ग भी होता है—सोमवामी यजमान का [सौमेन्द्र कर्म है]। किस प्रकार?** सोमपीथेन वा एष व्यृध्यते, यः सोमं वमति (**=सोमपीथ से वह हीन होता है, जो सोम का वमन करता है)। सोम के संस्कार के विनष्ट होने पर यजमान अपने अत्यन्त गुणभूत कर्म से व्यृद्ध** होता है, **ऋत्विक् किसी प्रकार व्यृद्ध नहीं होते हैं [क्योंकि उन्हें तो दक्षिणा मिलेगी ही]। जिसके**

---

१. इतोऽग्रे 'यदि वा' पदे असम्बद्धे मुद्रितग्रन्थेषूपलभ्येते।

२. मै० सं० २।२।१३॥

कथञ्चिद् ऋत्विजो व्यृद्धिः। ऋत्विजो यस्य सोमं वमन्तीति वमनेन सम्बन्धः स्यात्, 'न यः सोमं वमतीति'। तस्मादपि पश्यामो यजमानस्य वमने सौमेन्द्रम् इति ॥३६॥
इति **सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम्** ॥१३॥

—:०:—

[आग्नेयाद्यष्टाकपालपुरोडाशस्य द्व्यवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम् ॥१४॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ। तत्र समाम्नायते – **यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'** इति। तत्र सन्देहः—किं कृत्स्नं हविरग्नये प्रदातव्यम्, उत शेषयितव्यं किञ्चिद्, किञ्चिद् दातव्यम् इति ? किं प्राप्तम् ?

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥ (पू०)

कृत्स्नं हविः प्रदीयेत। कुतः ? तदर्थत्वात्। 'पुरोडाश आग्नेयः कर्त्तव्यः' इति वचनम्। तस्मात् सर्वं प्रदातव्यमिति ॥३७॥

ऋत्विक् सोम का वमन करते हैं, ऐसा होने पर ऋत्विक् का वमन के साथ संबन्ध होता है, यः सोमं वमति (=**जो सोमवमन करता है) के साथ** ऋत्विक् का सम्बन्ध नहीं होता है। **इसलिये भी हम जानते हैं कि यजमान के सोम के वमन में सौमेन्द्र कर्म है** ॥३६॥

—:०:—

व्याख्या—**दर्शपौर्णमास का विधान** है। उस में पढ़ा जाता है—यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति (=**जो अग्नि देवतावाला अष्टकपालों में संस्कृत पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी में च्युत नहीं होता है, अर्थात् दोनों में होता है)। उसमें सन्देह है—क्या सम्पूर्ण हवि अग्नि के लिये देनी चाहिये, अथवा कुछ बचानी चाहिये, कुछ देनी चाहिये ? क्या प्राप्त होता है ?**

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थः—(सर्वप्रदानम्) सम्पूर्ण हवि [=जिसका देवता के लिये संकल्प हुआ है] देवता के लिये देनी चाहिये। (हविषः) सम्पूर्ण हवि के (तदर्थत्वात्) उस देवता के लिये होने से।

व्याख्या—**कृत्स्न (=पूरी) हवि [अग्नि को] दी जाये। किस हेतु से ? उस के लिये होने से। 'पुरोडाश आग्नेय करना चाहिये' यह वचन है। इसलिये सम्पूर्ण हवि का [अग्नि देवता के लिये] प्रदान करना चाहिये** ॥ ३७ ॥

---

१. तै० सं० २।६।३।३॥

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥(उ०)

निष्कृष्यावदानं निरवदानम्। तद्धि श्रूयते—**द्विर्हविषोऽवद्यति**[1] इति। **अपरमपि वचनम्—द्व्यवदानं जुहोति**[2] इति। तेन द्व्यवदानमात्रं होतव्यम्, अन्यत् परिशेषणीयम् ॥३८॥

निरवदानात् तु शेषः स्यात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् सम्पूर्ण हवि का प्रदान नहीं करना चाहिये। (निरवदानात्) अवदान=भाग निकाल कर (शेषः) शेष (स्यात्) होवे। अर्थात् हवि में से देवता के लिये अवदान=भाग निकाल कर होम का विधान होने से हवि शेष रहती है।

व्याख्या—**अवादन को निकाल कर=निरवदान। वह निरववान सुना जाता है—** द्विर्हविषोऽवद्यति (=**हवि का दो बार अवदान करता है**)। **दूसरा वचन भी है—द्व्यवदानं** जुहोति (=**दो अवदान का होम करता है**)। **इस कारण द्व्यवदानमात्र का होम करना चाहिये, बाकी बचाना चाहिये।**

विवरण—निरवदानात्—सूत्र में **निर् अवदानात्** दो पद हैं। महाभाष्यकार ने कहा है—"**उपसर्गाः पुनरेवमात्मकाः, यत्र क्रियावाची शब्दः श्रूयते तत्र क्रियाविशेषमाहुः, यत्र न श्रूयते तत्र ससाधनां क्रियामाहुः** (महा० ५।२।२८) अर्थात् उपसर्गों का यह स्वभाव है कि जहां कोई क्रियावाची शब्द सुनाई पड़ता है, वहां वे क्रिया की विशेषता को कहते हैं। जहां कोई क्रियावाची शब्द सुनाई नहीं देता है, वहां साधन (=कारक आदि) के सहित क्रिया को कहते हैं। अर्थात् केवल उपसर्ग के श्रवणमात्र से ससाधन (=कारकादि सहित) क्रिया जानी जाती है। इस वचन के अनुसार 'निर' उपसर्ग 'निष्कृष्य' क्रिया को कहता है। **ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी वक्तव्या** (वार्तिक २।३।२८) से अवदानात् में पञ्चमी विभक्ति जाननी चाहिये। अर्थ होगा—**अवदानं निष्कृष्य तु शेषः स्यात्**=अवदान को निकाल कर शेष होगा। यथा **प्रासादात् प्रेक्षते=प्रासादं प्राप्य प्रेक्षते।** भाष्यकार शबर स्वामी के मत में **निरवदानम्** समस्त पद प्रतीत होता है। '**कृष्य**' (**कृष्ट्वा**) का समास में लोप माना है। **द्विर्हविषोऽवद्यति**—इसका तात्पर्य यह है कि हवि से **दो बार अवदान** करना चाहिये। अवदान की मात्रा का बोधकवचन है—**अङ्गुष्ठपर्वमात्रमवद्यति** (=अङ्गुष्ठ के पर्व के बराबर अवदान करता है)। इस प्रकार अङ्गुष्ठपर्व के बराबर दो विभाग करके द्व्यवदान का होम होता है। द्व्यवदान के होम की विधि इस प्रकार है—जुहू में पहले एक स्रुवा भरकर घृत डाला जाता है इसे उपस्तरण (=बिछौना करना) कहते हैं। उपस्तरण करने का प्रयोजन

---

१. अनुपलब्धमूलम्। मै० संहितायां (३।१०।३) **द्विर्द्विरवद्यति** इति श्रूयते। तत्र तु पश्ववदानप्रकरणं विद्यते।

२. अनुपलब्धमूलम्।

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥ (पू०)

न चैतदस्ति -द्व्यवदानमात्रं होतव्यमिति । यज्जुहोति, तद् द्विरवखण्डनेन संस्कर्त्तव्यमिति । होतव्ये द्विरवखण्डनमात्रं विधीयते, न अद्विरवखण्डितस्य होमः प्रतिषिद्ध्यते । कृत्स्नं च होतव्यमिति तदेवं न्याय्यम् । नान्यथा ॥३९॥

कृतत्वात्तु कर्म्मणः सकृत् स्याद्,द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥(उ०)

यह है कि द्व्यवदत्त हवि का कोई अंश जुहू में लगा न रह जावे । उपस्तरण के पश्चात् पुरोडाश से अङ्गुष्ठ पर्वमात्र दो बार अवदान करके जुहू में रखते हैं। उसके ऊपर एक स्रुवा भरकर घृत डालते हैं । इसे अभिघारण कहते है । इस प्रकार दो बार स्रुव से घृत और दो बार पुरोडाश भाग ग्रहण करके **चतुरवत्त** (=चार बार विभक्त) एक आहुति होती है । इस का विधायक **वचन है—चतुरवत्तं जुहोति** (अनुपलब्ध) । जहां घृत की ही आहुति होती है, वहां भी चार बार स्रुव से जुहू में घृत डालकर आहुति दी जाती है । यह सामान्य नियम **है** । जामदग्न्य गोत्रवाले पञ्चावत्त की आहुति देते **है—जमदग्नीनां तु पञ्चावत्तम्** (आप० श्रौत २।१८।२) ॥३८॥

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्व उक्त पक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् द्व्यवदान से बचाना नहीं चाहिये । (उपायः) द्व्यवदान=दो खण्ड करना तो होमीय पुरोडाश के संस्कार के **लिये** उपायमात्र है, (तदर्थत्वात्) पुरोडाश के तदर्थ=होम के लिये होने से ।

व्याख्या—**यह नहीं है कि**—द्व्यवदानमात्र का ही **होम करना चाहिये । जिस [द्रव्य] का होम किया जाता है,उसे द्व्यवदान(=द्विखण्डन)से संस्कृत करना चाहिये । होम के योग्य** द्रव्य **में दो विभाग करनामात्र विधान किया जाता हैं, अद्विरवखण्डित (=दो बार विभक्त किये से शेष) के होम का प्रतिषेध नहीं किया जाता है । इस प्रकार पूर्ण पुरोडाश का होम करना चाहिये, यही न्याय्य है । अन्यथा(=द्व्यवदान से अवशिष्ट का होम न करना) न्याय्य नहीं हैं ।**

विवरण—अद्विरवखण्डितस्य—यहां पूर्वपक्षी का तात्पर्य है कि द्व्यवदान केवल संस्कार-कर्म है । द्व्यवदान का होम करके शेष बचे हुए का भी होम कर देना चाहिये, क्योंकि पूरा पुरोडाश होम के लिये कहा गया है ॥३९॥

कृतत्वात् तु कर्मणः सकृत् स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४० ॥

सूत्रार्थः—(तु) **'तु'** शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् **'द्व्यवदान से शेष का** भी होम कर देना चाहिये' यह नहीं हैं । (कर्मणः कृतत्वात्) **द्व्यवदानं जुहोति** वचन से द्व्यवदान से होमरूपी कर्म के निष्पन्न हो जाने से (**सकृत् स्यात्**) होम एक बार ही होगा, दुबारा शेष से

उच्यते—यदा द्विरवखण्डनविशिष्टं होमे श्रुतम्, तदा सकृद् द्व्यवदानं यावच्छ्रुतं सत्सर्वं कृतम्। तदा नापरं द्रव्यमस्तीति, पुनर्यागो नाऽऽवर्त्तितव्यः। कथम्? तद्धि द्रव्यं यागनिर्वृत्त्यर्थम्। न द्रव्यं यागेन सम्बन्धयितव्यमिति। यदि हि यागेन हविः सम्बन्धयितव्यं स्यात्, ततो यागेन द्व्यवदाने सम्बन्धिते अपरमपि सम्बन्धनीयमस्तीति। तत्सम्बन्धार्थं पुनर्याग आवर्तेत। न तु यागो द्रव्यसम्बन्धार्थः। किं तर्हि? द्रव्यं यागे गुणभूतम्। यागः कथं निर्वृत्तिमुपेयात्? इति द्रव्यमुपादीयते। तेन निर्वृत्ते यागे सिद्धे च पुरुषार्थे, न नियोगेन गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तिर्युक्तेति।

कथं न द्रव्यं प्रधानं, येनावृत्तिर्न भवेत्? यतो यागात् फलम्। भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति। न च यागेन द्रव्यस्योपकारो निर्वर्त्यते प्रत्यक्षः कश्चित्। तस्मात् द्व्यवदानं हुत्वा शेषयितव्यमिति। यत्तूक्तम्—'आग्नेयं हविरिति वचनात् सर्वं होतव्यमिति गम्यते।' तत्रानुमानिको होमसम्बन्धः। इह तु प्रत्यक्षो द्विरवदाने। अपि चाकृत्स्नसम्बन्धेऽपि तद्धितस्योपपत्तिः। ततो ग्रहीतव्यमिति।

होम नहीं होगा। (द्रव्यस्य) पुरोडाशरूप द्रव्य के (गुणभूतत्वात्) याग के प्रति गुणभूत=गौण होने से=यागार्थ होने से। अतः गुणभूत द्रव्य के लिये प्रधानभूत याग की पुनरावृत्ति नहीं होगी।

व्याख्या—['पूरे पुरोडाश का होम करना चाहिये' इस विषय में] कहते हैं—जब होम में दोविभागविशिष्ट द्रव्य श्रुत है, तब द्व्यवदानद्रव्य जितना सुना है, वह सब एक बार [विनियुक्त] होम में पूरा कर लिया तब अन्य होमीय द्रव्य नहीं है, इस कारण याग पुनः करने योग्य नहीं है। कैसे? वह द्रव्य याग की निर्वृत्ति के लिये है। द्रव्य को याग से सम्बद्ध नहीं करना चाहिये। यदि याग के साथ हवि का सम्बन्ध करना होवे, तब याग के साथ द्व्यवदान का सम्बन्ध करने पर दूसरा द्रव्य भी [याग के साथ] सम्बन्ध करने योग्य है। ऐसा मानकर उसका [याग के साथ] सम्बन्ध करने के लिये पुनः याग प्रवृत्त होवे। याग द्रव्य के सम्बन्ध के लिये नहीं है। तो किसलिये है? द्रव्य याग के प्रति गुणभूत है। याग कैसे सम्पन्न होवे? इस के लिये द्रव्य का उपादान किया जाता है। इस कारण [द्रव्यदान से] याग के सम्पन्न होने पर, और पुरुषार्थ के पूर्ण होने पर, नियमतः गुण के अनुरोध से प्रधान की आवृत्ति युक्त नहीं है।

(आक्षेप) द्रव्य प्रधान कैसे नहीं है, जिससे याग की आवृत्ति न होवे? (समाधान) जिस कारण याग से [स्वर्गादि] फल होता है। भूत (=निष्पन्न) और भव्य (=निष्पाद्य) के सहोच्चारण में भूत भव्य के लिये उपदिष्ट होता है। और याग से द्रव्य का कोई उपकार होता है, यह प्रत्यक्ष नहीं है। इस कारण द्व्यवदान का होम करके शेष रखना चाहिये। और जो यह कहा है—'आग्नेयं हविः (=हवि अग्निदेवतावाली है), इस वचन से पूरी हवि होम करने योग्य है, ऐसा जाना जाता है'। इस (=आग्नेय हवि) में होम का सम्बन्ध आनुमानिक है। यहां तो द्व्यवदान में होम का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है [द्व्यवदानं जुहोति]। और भी, पूरी हवि के साथ [होम का] सम्बन्ध न होने पर भी [एक देश के त्यागमात्र से भी 'आग्नेय' में] तद्धित की उपपत्ति होती है। इसलिये [द्व्यवदान का] ग्रहण करना चाहिये। 'आग्नेय' यह

सामान्यं खल्वाग्नेय इति । द्वयवदानं जुहोतीति विशेषः । तस्माच्छेषयितव्यं किञ्चिदिति ॥ ४० ॥

शेषदर्शनाच्च ।४१॥ (उ०)

शेषादिडामवद्यति,शेषात् स्विष्टकृतं यजति,इत्यनुवादादस्ति शेषः, इति पश्यामः॥४१॥
इत्याग्नेयाष्टाकपालपुरोडाशस्य द्वयवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम् ॥१४॥

—:०:—

[सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम् ॥१५॥]

स्तो दर्शपूर्णमासौ। तत्र शेषकार्याणि ऐडप्राशित्रसौविष्टकृदादीनि । तत्र सन्देहः—किं हविषो हविषः कर्त्तव्यानि, उतैकस्माद्धविष इति ? किं प्राप्तम् ?

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२। (पू०)

कथन सामान्य है । द्वयवदानं जुहोति यह विशेष वचन है । इसलिये हवि का कुछ शेष बचाना चाहिये ॥ ४०॥

शेषदर्शनाच्च ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थः—(शेषदर्शनात्) शेष का दर्शन होने से (च) भी कृत्स्न पुरोडाश का होम नहीं होता है।

व्याख्या—शेषाद् इडामवद्यति (=शेष से इडा का अवदान करता है); शेषात् स्विष्टकृतमवद्यति (=शेष से स्विष्टकृत् का अवदान करता है), इस अनुवाद (=अवदान के अनुकथन करने) से जानते हैं कि—[आग्नेयादि याग से] शेष (=बचा हुआ पुरोडाश) है ॥ ४१ ॥

—:०:—

व्याख्या—दर्शपूर्णमास याग हैं। उनमें ऐड(=इडासम्बन्धी), प्राशित्र(=प्राशित्र सम्बन्धी)तथा सौविष्टकृत्(=स्विष्टकृत्सम्बन्धी) आदि शेष के कार्य हैं। उनमें सन्देह होता है—क्या प्रत्येक हवि से [शेषकार्य] करने चाहियें, अथवा किसी एक हवि से ? क्या प्राप्त होता है ?

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थः—शेषकार्यों के (अप्रयोजकत्वात्) [हवियों की निष्पत्ति में] प्रयोजक न होने से (एकस्मात्) एक हवि से (क्रियेरन्) करने चाहियें। (शेषस्य) शेष के (गुणभूतत्वात्) गौण होने से।

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन्। अप्रयोजकानि शेषकार्याणि हविषाम्। यदि शेषकार्यैः प्रयुक्तानि भवेयुः, सर्वाणि प्रयुक्तानीति सर्वेभ्यः क्रियेरन्। अन्यार्थानि त्वेतानि। नाऽवश्यं शेषकार्येषु विनियोक्तव्यानि। सन्निधानात्तु यतःकुतश्चिदनुष्ठातव्यानि। शेषो हि साधनममीषामिति ॥४२॥

संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥ (पू०)

सकृच्चैवञ्जातीयकेन शेषकार्येण संस्कृतं प्रधानम्, इति कृत्वा नाऽपरस्मादपि कर्त्तव्यमिति ॥४३॥

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥ (उ०)

व्याख्या—अप्रयोजक होने से एक से [शेषकार्य] करने चाहियें। शेषकार्य हवियों के प्रयोजक (=निष्पादन में हेतुभूत) नहीं हैं। यदि हवियां शेषकार्य से प्रयुक्त होवें, तो सभी हवियों के प्रयुक्त होने से सब से किये जायें। ये हवियां तो अन्य के लिये हैं। इसलिये शेषकार्यों में अवश्य विनियोग के योग्य नहीं हैं, अर्थात् सभी का शेषकार्यों में विनियोग आवश्यक नहीं है। समीपता से [अर्थात् जो भी हवि समीप में होवे, उस] जिस-किसी हवि से शेषकार्यों का अनुष्ठान कर लेना चाहिये। शेष हवि इन कार्यों का साधन है ॥ ४२ ॥

संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥

सूत्रार्थः—एक बार कार्य से प्रधानकर्म के (संस्कृतत्वात्) संस्कृत हो जाने से (च) भी अन्य हवियों से शेषकार्य नहीं करने चाहियें।

व्याख्या—इस प्रकार के शेषकार्य से प्रधानकर्म संस्कृत हो गया, इसलिये अन्य हवि से भी शेषकार्य करना चाहिये, ऐसा नहीं है।

विवरण—भट्ट कुमारिल ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार भी की है—'यदि शेषकार्य संस्कारक होवें, तो सब हवियों से किये जायें। ये शेषकार्य संस्कारकर्म नहीं हैं। किस हेतु से ? [पर्यग्निकरण आदि] अन्य संस्कारों से हवियों के संस्कृत हो जाने से। यदि कहो कि यह [शेषकार्यजन्य संस्कार] भी विरोध न होने से हो जायेगा, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि संस्कारक्रम (=संस्कार के अवसर) के अतिक्रान्त हो जाने से। जब तक द्रव्य अकृतप्रयोजन (=उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं कर लिया जाता है) है, तब तक संस्कार की अपेक्षा रखता है। प्रधानयाग की निर्वृत्ति के उत्तरकाल में किया गया संस्कार क्या करेगा ? इस प्रकार प्रधानयाग के उत्तरकार में विहित शेषकार्य संस्कारकर्म नहीं हैं ॥४३॥

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की निर्वृत्ति के लिये है, अर्थात् एक हवि से ही शेष

सर्वेभ्यो वा हविर्भ्यः शेषकार्य्याणि कर्त्तव्यानि । कुतः ? कारणाविशेषात् । यदेकस्य हविषः शेषकार्य्यक्रियायां कारणं, तत् सर्वेषाम् । स हि शेषः प्रतिपादयितव्यः । यस्यैव न प्रतिपाद्यते, तस्य तेन संस्कारेण वर्जनं स्यात् । तस्मात् सर्वेभ्यः कर्त्तव्यानीति ॥ ४४ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥(उ०)

लिङ्गं च दृश्यते—देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह इति । सोऽब्रवीत्—वरं वृणै भागो मे

कार्य करने चाहियें अन्य से नहीं, यह ठीक नहीं है। (सर्वेभ्यः) सब हवियों से शेषकार्य करने करने चाहियें (कारणाविशेषात्) कारण के विशेष न होने से, अर्थात् सामान्य होने से। (संस्कारस्य) स्विष्टकृत् अवदान द्वारा उत्पन्न संस्कार के (तदर्थत्वात्) उस हवि के लिये होने से। इस प्रकार हवि के प्रधान होने से स्विष्टकृत् अवदानरूप संस्कार कारण के समान होने से सब प्रतिप्रधान=हवियों से होना चाहिये।

व्याख्या—सब हवियों से शेषकार्य करने चाहियें। किस हेतु से ? कारण के अविशेष (=सामान्य) होने से। जो एक हवि के शेषकार्यों के करने में कारण है, वही सब हवियों के करने में है। उस [प्रधानयाग से] शेष रहे हवि की प्रतिपत्ति करनी चाहिये। इसलिये जिस की प्रतिपत्ति नहीं की जाती है, उस हवि का उस प्रतिपत्तिरूप संस्कार से राहित्य होवे। इसलिये सब हवियों से शेषकार्य करने चाहियें।

विवरण—स्विष्टकृत् अवदान आदि प्रतिपत्ति संस्कार हैं, ऐसा आगे अ० ४, पाद २, सूत्र १९ (अधि०७) में कहेंगे। उसे सिद्धवत् मानकर यहां स्विष्टकृत् अवदान आदि को प्रतिपत्ति-संस्कार कहा है, ऐसा सुबोधिनीकार ने कहा है। भट्ट कुमारिल का कहना है कि मी० ४।२।१९ में शेषकर्मों को प्रतिपत्तिकर्म स्वीकार कर लेने पर, उसी से सब हवियों से शेषकार्य के सिद्ध हो जाने पर, यह अधिकरणान्तर नहीं है। अपितु पूर्वाधिकरण के सिद्धान्त का प्रयोजन बतानेहारे ये सूत्र हैं। प्रतिपत्ति का अर्थ है—कार्यान्तर में प्रयुक्त द्रव्य का अन्यत्र स्थापन। प्रकृत में प्रधानयाग में उपयुक्त हवि का स्विष्टकृत् अवदान आदि से संस्कृत करके उसे अग्नि में छोड़ा जाता है ॥४४।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥

सूत्रार्थः—[उत्तरार्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्यात्='हवि के उत्तरार्ध से मेरे लिये एक-एक बार अवदान किया जाये' में सकृत्-सकृत् इस प्रकार वीप्सारूप] (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) भी सब हवियों से शेषकार्य करने चाहियें।

व्याख्या—लिङ्ग भी देखा जाता है—देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह इति (=देवों ने स्विष्टकृत् अग्नि से कहा—हमारी हवियों का वहन कराओ=हवियों को हमें प्राप्त

ऽस्त्विति । वृणीष्वेति तेऽब्रुवन् । सोऽब्रवीद्—उत्तरार्द्धादेव मह्यं सकृत् सकृदवद्याद[1], इति वीप्सा-दर्शनम् । तस्मात् सर्वेभ्यः शेषकार्य्याणीति ॥४५॥ इति **सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकर-णम् ॥१५॥**

—:०:—

[प्राथमिकशेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम् ॥१६॥]

अथ कृत्वाचिन्ता । यदैकस्माद् कर्त्तव्यानि भवेयुः—किं तदा यतः कुतश्चिद्, उत प्रथमादिति ? किं प्राप्तम् ?

एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात् ॥४६॥ (पू०)

कराओ)। सोऽब्रवीत्—वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति (=उस ने कहा—वर मांगता हूं,मेरा भी भाग होवे)। तेऽब्रुवन् वृणीष्वेति (=उन देवों ने कहा— वर मांगो)। सोऽब्रवीद्—उत्तरार्धादेव मह्य सकृत् सकृदवद्यादिति (=उस स्विष्टकृत् ने कहा—मेरे लिये हवि के उत्तरार्ध भाग से एक-एक बार अवदान किया जाये), इसमें [सकृत्-सकृत] वीप्सा का दर्शन है । इसलिये सब हवियों से शेष कार्य होने चाहियें ॥ ४५ ॥

—:०:—

व्याख्या—यह कृत्वाचिन्ता है । जब शेषकार्य एक हवि से होवें, तो क्या तब जिस किसी हवि से होवें, अथवा प्रथम से ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—'कृत्वाचिन्ता' उसे कहते हैं,जिसमें किसी पक्ष को सिद्धवत् मानकर विशेष विचार किया जाता है । यहां 'शेषकार्य एक हवि से होवें' को सिद्ध मानकर यह विचार किया है कि जिस किसी हवि से शेषकार्य किये जायें, अथवा प्रथम हवि से ही किये जायें ?

एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात् ॥४६॥

सूत्रार्थः—(एकस्माच्चेत्) यदि एक हवि से शेषकार्य किये जायें, तो (याथाकामी) जैसी इच्छा हो, अर्थात् जिस हवि से भी शेषकार्य करना चाहे करे, (अविशेषात्) किसी विशेष से='इस से करे इस से न करे' का आश्रय न करने से=श्रवण न होने से ।

विशेष—याथाकामी—'यथाकाम' शब्द से भाव अर्थ में **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ।** (अ० ५।१।१२३) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय—याथाकाम्य । उस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरा-दिभ्यश्च** (अष्टा० ४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय - याथाकाम्य ई, **हलस्तद्धितस्य च** (अष्टा० ६।४। १५०) से यकार का लोप – याथाकाम् ई=याथाकामी । कुतुहल वृत्तिकार ने **याथाकाम्यम्** पाठ स्वीकार किया है । परन्तु तन्त्रवार्तिककार द्वारा 'याथाकामी' पद की व्याकरण-प्रक्रिया का निर्देश होने से मूलपाठ **याथाकामी** मानना ही उचित है ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । तै० संहितायां (२।६।६) त्वांशिकरूपेणायं पाठ उपलभ्यते ।

यतः कुतश्चिदिति । कुतः ? न कश्चिद् विशेष आश्रीयते इति । तस्मादनियम इति ॥४६॥

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥४७॥ (उ०)

मुख्याद्वा कर्त्तव्यानि । कुतः ? पूर्वकालत्वात् । ततः कर्त्तव्येषु नास्ति निमित्त-विघातः । असति निमित्तविघाते नैमित्तिकं कर्त्तव्यमिति । ततः कृतेषु द्वितीयादीनां निमित्तविघात इत्यक्रिया । तस्मान्मुख्यादेव क्रियेरन्निति ॥४७॥ इति **प्राथमिकशेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम् ॥१६॥**

—:o:—

[पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थताऽधिकरणम् ॥१७॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—इदं ब्रह्मणः, इदं होतुः, इदमध्वर्योः, इदमग्नीधः'[1] इति । तत्र

व्याख्या—**जिस-किसी से भी [शेषकार्य] होवें । किस हेतु से । किसी विशेष का आश्रय नहीं किया है, अर्थात् इस हवि से शेषकार्य करे, इस से न करे,ऐसा कुछ नहीं कहा है । इस कारण अनियम जानना चाहिये ।४६॥**

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥४७॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् शेषकार्य जिस-किसी हवि से करे, ऐसा नहीं है । (मुख्यात्) मुख्य=अर्थात्=प्रथम हवि से शेषकार्य करे (पूर्वकाल-त्वात्) उस के पूर्वकाल में अर्थात् प्रथम होने से ।

विशेष—मुख्यात्—मुखे=आरम्भे भवं मुख्यम्=मुख अर्थात् आरम्भ में होनेवाला मुख्य होता है । दर्शपूर्णमास दोनों में आग्नेय पुरोडाश प्रथम विहित है ।

व्याख्या—**मुख्य (=प्रथम हवि) से ही शेषकार्य करने चाहियें । किस हेतु से? पूर्वकाल-वाला होने से । उससे करने पर अन्य कर्तव्यों में किसी निमित्त का विघात (=नाश) नहीं होता है । निमित्त विघात न होने पर नैमित्तिक कार्य करना चाहिये । उस [मुख्य=प्रथम उपस्थित हवि] से शेष कार्यों के कर लेने पर अन्य द्वितीय प्रभृति हवियों के निमित्त का विघात हो जाता है, इस से उन से अक्रिया (=शेषकार्य) नहीं होते हैं । इसलिये मुख्य से ही शेषकार्य किये जाने चाहियें ॥४७॥**

—:o:—

व्याख्या—**दर्शपूर्णमास में सुना जाता है**—इदं ब्रह्मणः (**=यह भाग ब्रह्मा का कहा है**); इदं होतुः (**=यह होता का है**); इदमध्वर्योः (**=यह अध्वर्यु का है**); इदमग्नीधः (=

---

१. आप० श्रौत ३।३।३॥ कात्या० श्रौत २।४।११ सूत्रस्थव्याख्या ।

सन्देहः—किमयम् ऋत्विजां विभागः परिक्रयाय, उत भक्षणायेति ? किं प्राप्तम् ?

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥४८॥ (पू०)

परिक्रयार्थो विभागः। कुतः? भक्षाश्रवणात्। न श्रूयते—भक्षयितव्यमिति। य एव

यह अग्नीत् का है)। उस में सन्देह होता है—क्या यह ऋत्विजों [के भाग] का विभाग परिक्रय (=कार्यार्थ ऋत्विजों की भृति) के लिये है, अथवा भक्षण के लिये ? क्या प्राप्त होता है ?

विवरण—इदं ब्रह्मणः—दर्शपूर्णमास में अवशिष्ट पुरोडाश हवि के चतुर्धाकरण (=चार विभाग) के समय विभाग करते हुए अध्वर्यु कहता है—यह भाग ब्रह्मा का है, यह होता का, यह अध्वर्यु का, यह अग्नीत् का। यह चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का होता है—**आग्नेयं चतुर्धाकरोति** (द्र०—आप० श्रौत ३।३।२)। यह चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का ही होता है। अग्नीषोमीय आदि का नही होता है। द्र०—मी०३।१। सूत्र २६-२७)। याज्ञिक उन सभी का करते हैं, जिन में अग्नि देवता सहयोगी के रूप में भी होता है। द्र०—आ० श्रौत ३।३।२-३ व्याख्या; कात्या० श्रौत २।४।१२ (विद्याधर टीका)। **परिक्रयाय**—'परिक्रय' शब्द का अर्थ होता है—खरीदना। अर्थात् किसी द्रव्य के द्वारा कार्य करने के लिये प्रेरित करना।

भक्षाश्रवणाद् दानशब्दः परिक्रये ॥४८॥

सूत्रार्थः—(भक्षाश्रवणात्) विभक्त भागों के भक्षण का निर्देश न होने से (दानशब्दः) दान शब्द (परिक्रये) ऋत्विजों के कर्म करने के लिये परिक्रय=भृति में जानना चाहिये। अर्थात् ये भाग ऋत्विजों के कार्य की दक्षिणारूप जानने चाहियें।

विशेष—भक्षाश्रवणात्—**यजमानपञ्चमा इडां प्राश्नन्ति** (मी० ६।४।४ के भाष्य में उद्धृत) यजमान पांचवा है जिनमें, वे इडा का भक्षण करते हैं, वचन में जैसे इडापात्रस्थ भाग के यजमानसहित ऋत्विजों के भक्षण का निर्देश श्रुत है, वैसे **इदं ब्रह्मणः** आदि वाक्यों से विभक्त भागों के भक्षण का निर्देश नहीं सुना जाता है।

सूत्रस्थ **'दानशब्दः'** का भाष्यकार ने स्पष्ट व्याख्यान नहीं किया है। भट्ट कुमारिल ने भाष्य के व्याख्यान में लिखा है—'**इदं ब्रह्मणः** आदि में ब्रह्मा आदि का व्यपदेश कैसे होगा, यदि वह भाग उन्हें दिया नहीं जायेगा ? इससे यहां दान विहित है।' कुतुहल वृत्तिकार ने **आदधाति** (=रखता है) तथा **परिहरति** (छोड़ता है) क्रियाओं को दानपरक मानकर व्याख्या की है। ये **आदधाति** वा **परिहरति** शब्द श्रुतिस्थ हैं, वा अध्याहृत यह स्पष्ट नहीं होता है।

व्याख्या **ऋत्विजों के परिक्रय के लिये विभाग है। किस हेतु से ? भक्षण का श्रवण न होने से। यह नहीं सुना जाता है कि—[ब्रह्मा आदि को स्वभाग] खाना चाहिये। जो दोष श्रुत**

श्रुतस्योत्सर्गे दोषः, स एवाश्रुतपरिकल्पनायाम् । कर्मकरेभ्यश्च दीयते । तस्मात् परिक्रये एषः ॥४८॥

तत्संस्तवाच्च ॥४९॥ (पू०)

एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा[1], इति दक्षिणासंस्तवाच्च परिक्रयार्थं मन्यामहे ॥४९॥

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥ (पू०)

अर्थ के परित्याग में होता है, वही अश्रुत अर्थ की परिकल्पना में भी होता है। कर्मकरों को [अवशिष्ट पदार्थ] दिया जाता है [यह हवि भी होम से बची हुई है] । इसलिये [इदं ब्रह्मणः आदि [ऋत्विजों के] परिक्रय में हैं ॥४८॥

तत्संस्तवाच्च ॥४९॥

सूत्रार्थः—(तत्संस्तत्वात्) उस चतुर्धाकरण के दक्षिणारूप से संस्तुति करने से (च) भी वह विभागीकरण परिक्रयार्थ है ।

व्याख्या—एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा (=**यह दर्शपूर्णमास की दक्षिणा है**), **इस दक्षिणारूप स्तुति से भी [चतुर्धाकरण] परिक्रयार्थ हैं**, ऐसा हम मानते हैं ।

विवरण—एषा वै—यह भाष्यकारोक्त श्रुति हमें उपलब्ध नहीं हुई । कुतुहल वृत्तिकार ने, **दक्षिणा वा एता हविर्यज्ञास्यान्तर्वेदयवरुध्यन्ते, यत्पुरोडाशं बर्हिषदं करोति** (=ये हविर्यज्ञ की दक्षिणाएं वेदि के मध्य अवरुद्ध की जाती हैं, जो पुरोडाश को बर्हिषद्=कुशा पर स्थापित करता है) उद्धृत की है। हमें यह श्रुति भी उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हुई ॥४९॥

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है, अर्थात् **इदं ब्रह्मणः** आदि वाक्यों से किया गया विभाग ऋत्विजों के परिक्रय के लिये नहीं हैं । (भक्षार्थः) भक्षण के लिये है, (द्रव्ये) हविरूप द्रव्य में (समत्वात्) यजमान और ऋत्विजों के समान होने से ।

विशेष—सूत्रस्थ **द्रव्ये समत्वात्** पदों का भाव यह है कि यजमान ने अग्नि आदि देवों के लिये जब हवि का संकल्प कर दिया, तो वह उस अवशिष्ट हवि का स्वामी नहीं है । स्वामी नहीं है, तो वह ऋत्विजों को दक्षिणारूप में प्ररिक्रयार्थ नहीं दे सकता । इस प्रकार अवशिष्ट हवि में यजमान और ऋत्विक् समान हैं । यही भाव भट्ट कुमारिल ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'समस्त पुरोडाश के देवता के उद्देश्य से संकल्पित=त्यक्त हो जाने से यजमान उसका स्वामी नहीं है । इसलिये वह ब्रह्मादि ऋत्विजों के बराबर हैं । जैसे ब्रह्मादि ऋत्विजों का उस हवि को देना सम्भव नहीं, वैसे ही यजमान का भी सम्भव नहीं है' ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् ।

भक्षार्थ एष विभागः। कुतः ? दानस्याभावात्। कथमभावः ? प्रभवता हि शक्यं दातुं, नाप्रभवता। कथं न प्रभुत्वम् ?सङ्कल्पितं हि यजमानेन—देवतायै एतदिति। न च देवतायै सङ्कल्पितेन शिष्टाः स्वेनैव व्यवहरन्ति। तस्माच्छिष्टचारमनुवर्त्तमानेन अशक्यं प्रभवितुम्। तस्मान्न परिक्रयः।

अथ यदुक्तम् —न श्रूयते भक्षयितव्यमिति। यावाँश्च श्रुतस्योत्सर्गे दोषः, तावान् अश्रुतपरिकल्पनायामिति। उच्यते—'इदं ब्रह्मणः' इत्येवमादिभिर्ब्रह्मादीनां भागैरभि-सम्बन्धः। तत्र भागा ब्रह्मादीनामुपकुर्युः, ब्रह्मादयो वा भागानाम्। ब्रह्मादिभिर्भागा-नामुपकुर्वद्भिर्न किञ्चिद दृष्टमस्ति। भागैस्तु ब्रह्मादीनामुपकारकैः शक्यते केनचित् प्रकारेण दृष्ट उपकारः कर्तुं भक्ष्यमाणैः। तस्माद् भक्षणाय विभाग इति। कः पुनरुप-कार इति चेत् ? तृप्तानां कर्मशेषपरिसमापने सामर्थ्यं भवतीति।।५०।।

व्यादेशाद् दानसंस्तुतिः ।।५१।। (मि०)

व्याख्या—यह विभाग भक्षण के लिये है। किस हेतु से ? दान का अभाव होने से। [दान का] अभाव कैसे है ? प्रभु—स्वामी होते हुए ही दिया जा सकता है, अप्रभु होते हुए नहीं दिया जा सकता है अप्रभुत्व किस हेतु से है ? यजमान ने तो संकल्पित कर दिया यह द्रव्य देवता के लिये है। देवता के लिये संकल्पित धन से शिष्ट लोग व्यवहार नहीं करते हैं। इसलिये शिष्टाचार का अनुवर्तन करता हुआ यजमान स्वामी नहीं बन सकता है। इसलिये परिक्रय नहीं है।

और जो यह कहा खाना चाहिये, ऐसा सुना नहीं जाता है। जितना श्रुत अर्थ के परित्याग में दोष होता है, उतना ही अश्रुत की परिकल्पना से भी होता है'। इस विषय में कहते हैं—इदं ब्रह्मणः इत्यादि वचनों से ब्रह्मादि का भागों के साथ सम्बन्ध किया जाता है। उस स्थिति में भाग ब्रह्मादि ऋत्विजों का उपकार करें, अथवा ब्रह्मादि ऋत्विज भागों का। ब्रह्मादि ऋत्विजों द्वारा भागों को उपकृत करते हुए कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। ब्रह्मादि के उपकारक भागों से भक्षण किये जाते हुओं ने किसी प्रकार दृष्ट उपकार किया जा सकता है। इसलिये [ऋत्विजों के] भक्षण के लिये विभाग है [भक्षण किये जाते हुए भागों से] कौनसा उपकार होता है ? यदि ऐसा कहो तो [इस का उत्तर यह कि] तृप्त हुए ब्रह्मादि के केषकर्म को समाप्त करने में सामर्थ्य उत्पन्न होता है।।५०।।

व्यादेशाद् दानसंतुतिः ।।५१।।

सूत्रार्थः—(व्यादेशात्) व्यादेश=व्यपदेश की समानता से (दान-संस्तुतिः) भागों की दान की स्तुति उपपन्न होगी।

विशेष—व्यादेशात्—इस का भाव यह है कि जैसे दक्षिणा से उत्साहित होकर ऋत्विक्

अथ यद् दक्षिणासंस्तवः, इति व्यादेशसामान्यात्, तदपरिक्रयार्थेऽपि भविष्यतीति ॥५१॥ इति पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थताऽधिकरणम् ॥१७॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

—:०:—

[भाष्यकारेणाव्याख्यातानि तन्त्रवार्तिके व्याख्यातानि षट् सूत्राणि]

अतः परं षट् सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि। तत्र व्याख्यातारो विवदन्ते—केचिदाहुर्विस्मृतानि, लिखितो ग्रन्थः प्रलीन इत्यपरे, फल्गुत्वादुपेक्षितानीत्यन्ये, अनार्षेयत्वादित्यपरे। तथा च—दिग्विभागश्च तद्वद्(३।४।१०)इति निवीताधिकरणातिदेशस्तदानन्तर्यादुप-

---

कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं, इसी प्रकार पुरोडाश के भाग के भक्षण से क्षुधा को प्राप्त यजमान तृप्ति का अनुभव करते हुए शेषकार्य को निपटाने में उत्साहित होते हैं। इस प्रकार दोनों में उत्साहित करना धर्म के सामान्य होने से, हवि के भागों की दक्षिणा न होते हुए भी दक्षिणा शब्द से स्तुति की है।

व्याख्या—जो यह दक्षिणारूप से स्तुति है, वह सामान्य व्यपदेश (=कथन) से है, वह परिक्रय के अभाव में भी उपपन्न हो जायेगी ॥५१॥

इति युधिष्ठिरमीमांसककृतायाम् आर्षमत-विमर्शिन्यां हिन्दी-व्याख्यायां

॥ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः पूर्तिमगात् ॥

—:०:—

[भाष्यकार द्वारा अलिखित सूत्र-भाष्यवाले ६ सूत्रों की कुमारिलकृत व्याख्या]

विशेष—पूर्व 'विधिना चैकवाक्यत्वात्' सूत्र (३।४।९) की व्याख्या के अनन्तर हमने लिखा था कि भट्ट कुमारिल के लेखानुसार प्रस्तुत पाद के नवम सूत्र के अनन्तर ६ सूत्र ऐसे हैं, जिनका शबर स्वामी कृत भाष्य उपलब्ध नहीं होता है। उन की भट्ट कुमारिल ने जो व्याख्या की है, उस की हम हिन्दीव्याख्या आगे दे रहे हैं।

व्याख्या—यहां (मी० ३।४।९) से आगे ६ सूत्र भाष्यकार ने नहीं लिखे (=व्याख्या नहीं की)। इस विषय में व्याख्याता लोग विभिन्न मत प्रकट करते हैं कुछ व्याख्याता कहते हैं—भाष्यकार को भाष्य लिखते समय विस्मृत हो गये। अन्य कहते हैं—भाष्यकार ने भाष्य लिखा था, वह नष्ट हो गया। अन्य कहते हैं—सूत्रों के साररहीन होने से भाष्यकार ने इन की उपेक्षा की, अर्थात् इन पर भाष्य नहीं लिखा। अन्यों का कहना है—इन सूत्रों के अनार्ष होने से भाष्यकार ने इन की उपेक्षा की। इन सूत्रों के अनार्ष होने से 'दिग्विभागश्च तद्वत्'(३।४।१०)में पूर्व निवीताधिकरण का अतिदेश आनन्तर्य (=सामीप्य से) उपपन्न होता है[अन्यथा छःसूत्रों का व्यवधान होने पर अतिदेश उपपन्न नहीं होगा]। मीमांसा के अन्य सभी वृत्तिकारों ने इन सूत्रों की व्याख्या की

पद्यत इति। वृत्त्यन्तरकारैस्तु सर्वैर्व्याख्यातानि। सन्ति च जैमिनेरेवम्प्रकाराण्यप्यनत्यन्त-सारभूतानि सूत्राणि। व्यवहितातिदेशाश्च 'पानव्यापच्च तद्वद्'[1] इत्यादिष्वाश्रिताः। तस्मात् सूत्रमात्रं व्याख्येयम्।

तत्र कैश्चित् त्रीण्यधिकरणानि कल्पितानि, अपरैश्चत्वारि।

[उपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताऽधिकरणम् ॥१॥]

प्रथमं तावदिदं चिन्त्यते—यदेतत्पूर्वाधिकरणे दर्शपूर्णमासयोर्विधीयमानत्वेनोप-वीतमुदाहृतम्। तत्र सन्देहः—किं तद्दर्शपूर्णमासयोरेवावतिष्ठते, अथवा सर्वकर्मार्थमिति ?

ये त्वधिकरणत्रयं समर्थयन्ते, तेषामेवं सन्देहः—किं दर्शपूर्णमासयोरवस्थानं विधिश्च, अथ सर्वकर्मार्थत्वमनुवादश्चेति ? किं प्राप्तम्?

है। इस प्रकार के सारहीन जैमिनि के बहुत से सूत्र हैं। व्यवहित अतिदेश भी 'पानव्यापच्च तद्वत्' (मी० ३।४।३२) इत्यादि सूत्रों में किया है। इसलिये सूत्रमात्र का व्याख्यान करना चाहिये।

इन छः सूत्रों में किन्हीं व्याख्याताओं ने तीन अधिकरण कल्पित किये हैं, किन्हीं ने चार अधिकरण माने हैं।

विवरण—सन्ति च जैमिनेरेवं—इस वाक्य से भट्ट कुमारिल ने उन व्याख्याकारों के मत का खण्डन किया है, जो प्रस्तुत ६ सूत्रों को सारहीन मानकर भाष्यकार द्वारा उपेक्षित मानते हैं। व्यवहितातिदेशाश्च—इस वाक्य से भट्ट कुमारिल ने प्रस्तुत ६ सूत्रों के अनार्षत्व में हेतु दिया है कि इन सूत्रों के न होने पर पूर्व अधिकरणस्थ विषय का 'दिग्विभागश्च तद्वत्' सूत्र से कहा गया अतिदेश सान्निध्य से उपपन्न होता है। इस पर भट्ट कुमारिल का कहना है कि शास्त्र में सर्वत्र अव्यवहित पूर्व अधिकरणस्थ सिद्धान्त का ही अतिदेश नहीं किया है, अपितु कई स्थानों पर व्यवहित, अधिकरण के विषय का अतिदेश मिलता है। यथा 'पानव्यापच्च तद्वत्' (३।४।३२) सूत्र में एक अधिकरण से व्यवहित दसवें 'वैदिकाश्वप्रतिग्रह' में 'इष्टिकर्तव्यताधिकरण' के विषय का अतिदेश किया है।

व्याख्या—पहले यह विचार किया जाता है कि—जो पूर्व अधिकरण में दर्शपूर्णमास में विधीयमान उपवीत को उदाहृत किया है। उसमें सन्देह है—क्या वह उपवीत की दर्शपूर्णमास में ही स्थिति होती है, अथवा सब कर्मों के लिये है ?

जो तीन अधिकरणों का समर्थन करते हैं, उनके यहां इस प्रकार सन्देह है क्या उप-वीत की दर्शपूर्णमास में स्थिति है और विधि है, अथवा सब कर्मों के लिये है और अनुवाद है ? क्या प्राप्त होता है ?

---

१. मी० ३।४।३२॥

उपवीतं लिङ्गदर्शनात् सर्वधर्मः स्यात् ॥१॥ (पू०)

सर्वधर्मः स्यात् । कुतः ?

कर्मान्तरेऽनुवादोऽस्य सिद्धवद्यः प्रतीयते ।
सोऽन्यथानुपपत्त्यैतां लिङ्गत्वात् प्रक्रियां जयेत् ॥

मृताग्निहोत्रे हि पितृदेवत्ये श्रूयते--**प्राचीनावीती दोहयेत्, यज्ञोपवीती हि देवेभ्यो दोहयति**' इति। तद्यदि सर्वार्थमुपवीतं,ततोऽयं पित्र्येऽग्निहोत्रसम्बन्धी नित्यवद् यज्ञोपवीताऽनुवादोऽवकल्पते । न चाऽयं दर्शपूर्णमासस्थस्यैवानुवादः । विप्रकृष्टत्वात्, हेतुवन्निगदार्थवादानर्थक्याच्च। यदि हि तस्मिन्नेव कर्मण्यन्यावस्थायां धर्मो भवति,ततश्च तदवस्थापरिजिहीर्षया हेतुवन्निगदोऽवकल्पते । न तु क्रत्वन्तरस्थं परिहर्त्तव्यम्, अत्यन्तविप्रकर्षेणैवाप्रसक्तत्वात् । न च देवेभ्य इति बहुवचनं दर्शपूर्णमासयोरवकल्पते । वैकल्पिकेन्द्रमहेन्द्रैकदेवत्यत्वात् सान्नाय्यस्य । अग्निहोत्रे तु सायम्प्रातर्देवतालोचनेनोपपन्नं बहुत्वम्[2] । तस्मादग्निहोत्रस्थोपवीतानुवादान्यथानुपपत्तेः सर्वधर्मत्वमिति ॥१॥

उपवीतं लिङ्गदर्शनात् सर्वधर्मः स्यात् ॥१॥

सूत्रार्थ-—(लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखे जाने से (उपवीतम्) उपवीत (सर्वधर्मः) सब कर्मों का धर्म (स्यात्) होवे ।

व्याख्या—सब कर्मों का धर्म होवे । किस हेतु से ? कर्मान्तर में इस उपवीत का जो अनुवाद सिद्धवत् जाना जाता है, वह अन्यथा (=सर्वधर्म के अभाव में) उपपन्न न होने से लिङ्ग होने से इस प्रक्रिया को जीते । मृत के अग्निहोत्र के विषय में पितृदेवताक कर्म में सुना जाता है--प्राचीनावीती दोहयेत्; यज्ञोपवीती हि देवेभ्यो दोहयति (=प्राचीनावीती होकर गौ को दूहे; यज्ञोपवीती होकर ही देवों के लिये गौ को दूहता है) । यदि यह उपवीत सब कर्मों के लिये होवे,तो पितृदेवताक अग्निहोत्रसम्बन्धी यह यज्ञोपवीती का नित्यवत् अनुवाद उपपन्न होता है। और यह दर्शपूर्णमासस्थ उपवीत का ही अनुवाद नहीं है । प्रस्तुत कर्म के अति दूरस्थ होने से और हेतुवन्निगदरूप अर्थवाद के समान आनर्थक्य की प्राप्ति होने से। यदि उसी कर्म में अन्य अवस्था में धर्म होता है, तब उस अवस्था का परित्याग न करने की इच्छा से हेतुवन्निगद समर्थ होता है। क्रत्वन्तरस्थ छोड़ने योग्य नहीं होता है, क्योंकि उसके अत्यन्त दूरी के कारण ही उसकी प्राप्ति नहीं होने से । और भी, देवेभ्यः यह बहुवचन दर्शपूर्णमास में समर्थित नहीं होता है । सान्नाय्य के इन्द्र और महेन्द्र एक देवता के वैकल्पिक होने से । अग्निहोत्र में तो सायंप्रातः के देवताओं के विचार से बहुत्व उपपन्न होता है । इस कारण अग्निहोत्रस्थ उपवीत का अनुवाद अन्यथा उपपन्न न होने से उपवीत का सर्वधर्मत्व जानना चाहिये ।

---

१. अनुपलब्धमूलम् । २. उभयोः कालयोः समाहृत्य अग्नि-सूर्य-प्रजापतयस्त्रयो देवताः ।

न वा प्रकरणात् तस्य दर्शनम् ॥२॥ (उ०)

विवरण—हेतुवन्निगदार्थवादानर्थक्याच्च— **शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते** (=शूर्प से होम करता है, क्योंकि उस से अन्न का शोधन किया जाता है) इस में **तेन ह्यन्नं क्रियते** यह हेतुवन्निगद अर्थवाद है। अर्थवाद विधि की प्रशंसामात्र के लिये होता है। उसका स्वार्थ में प्रामाण्य न होने से वह अनर्थक होता है (हेतुवन्निगद अर्थवाद के विषय में मी० १।३। अधि०३ देखें)। **तस्मिन्नेव कर्मण्यन्यावस्थायाम्**— सामान्यरूप से होम स्रुव दर्वि (=कड़छी) आदि से किया जाता है। परन्तु प्रस्तुत कर्म में शूर्प से होम करने में ही धर्म (=अदृष्ट) होता है। इस कारण उस अवस्था का परित्याग न करने की इच्छा से **तेन ह्यन्नं क्रियते** यह अर्थवाद उपपन्न होता है। **न तु क्रत्वन्तरस्थम्** इसका भाव यह है कि क्रत्वन्तरस्थ दर्शपूर्णमासस्थ उपवीतित्व यहां परिहर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि मृताग्निहोत्र के दर्शपूर्णमास से बहुत दूर विहित होने से दर्शपूर्णमासस्थ उपवीतित्व की यहां प्रसक्ति ही नहीं है। **देवेभ्य इति बहुवचनम्—दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि में द्विवचन का श्रवण होने से दर्शपूर्णमास दो याग हैं। दर्श में एक आग्नेय पुरोडाश का अग्नि देवता है, और दधिपयरूप सान्नाय्य का इन्द्र (द्र०—मी० २।२।३ के भाष्य में उदाहृत वचन)। दर्श में सान्नाय्य हवि का महेन्द्र देवता भी विहित है। उस को मानकर देवतात्रित्व नहीं हो सकता है। इसी लिये कहा है—**इन्द्रमहेन्द्रैकदेवता विकल्पत्वात्**= इन्द्र और महेन्द्र देवता का विकल्प होने से एक ही देवता होगा। इस प्रकार अग्नि+इन्द्र तथा अग्नि+महेन्द्र दो ही देवता होते हैं। पूर्णमास में भी आग्नेय पुरोडाश का अग्नि देवता है, और अग्नीषोमीय उपांशुयाग तथा पुरोडाश का अग्नीषोम सम्मिलित देवता है। (द्र०—मी०२ २।३ का भाष्य)। इस प्रकार पूर्णमास में भी दो ही देवता हैं। अतः **देवेभ्यः** यह बहुवचन दर्शपूर्णमासस्थ उपवीत के लिये उपपन्न नहीं होता है। **अग्निहोत्रे तु सायंप्रातर्देवतालोचनेन**—सायंप्रातः दोनों कालों का मिलकर एक अग्निहोत्र कर्म है। सायं अग्निहोत्र के अग्नि और प्रजापति, तथा प्रातरग्निहोत्र के सूर्य और प्रजापति देवता हैं—**यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातः**=(मैं० सं० १।८।७, तथा मी० १।४।४ भाष्य। इसलिये अग्निहोत्र में देवताओं का त्रित्व होने से **देवेभ्यः** यह बहुवचन उपपन्न होता है॥१॥

न वा प्रकरणात् तस्य दर्शनम्॥२॥

सूत्रार्थः—(न वा) 'न वा' यह निपातसमुदाय पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् उपवीत सर्वकर्मों का धर्म नहीं है। (प्रकरणात्) दर्शपूर्णमास-प्रकरण के सामर्थ्य से यह दर्शपूर्णमास का धर्म है। (तस्य दर्शनम्) उसी दर्शमासस्थ उपवीत का **'उपवीती हि देवेभ्यो दोहयति'** में दर्शन है।

न वा सर्वधर्मः। कुतः ? प्रकरणाद् दर्शपौर्णमासार्थत्वप्रतीतेः। अथ यदुक्तम्—लिङ्गदर्शनादिति। परिहृतं तत्। तस्यैवैतद्दर्शनं—दर्शपूर्णमासस्थस्येति। सन्निकृष्टानुवादासम्भवे च विप्रकृष्टानुवादोऽप्याश्रीयते। यथाप्राप्त्यपेक्षो हि स भवति। बहुवचनं चाविवक्षितम्। अथ वा प्रकृतिविकृतिदेवतालोचनेनोपपत्स्यते। ततश्चायमर्थो भवति—यस्माद् देवयुक्तकर्मान्तरधर्मोऽयम्, अतः पित्र्येऽग्निहोत्रे न कर्त्तव्य इति ॥२॥ **इत्युपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताऽधिकरणम् ॥१॥**

—:o:—

[उपवीतस्य विधित्वाऽधिकरणम् ॥२॥]

तदेवोदाहरणम्—**उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते**[1] इति। तत्र विधिरनुवाद इति सन्देहः—कथं पुनरनवधारिते विधित्वे सर्वार्थत्वदर्शपूर्णमासार्थत्वविचारो वृत्तः ? सिद्धेन व्यवहारादिदमर्थतोऽधिकरणं पूर्वं द्रष्टव्यम्। किं प्राप्तम् ? अनुवाद इति। कुतः ?

स्मृतिभिः पुरुषो नित्यं कृतो यज्ञोपवीतवान्।
वर्त्तमानापदेशश्च न विधावुपपद्यते ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती[2] इति हि सर्वदा यज्ञोपवीतं प्राप्तं क्रतावप्यस्ति। न चैष

व्याख्या—उपवीत सर्वधर्म नहीं है। किस हेतु से ? प्रकरण से दर्शपूर्णमास के लिये प्रतीत होने से। और जो यह कहा कि—'लिङ्ग के दर्शन से सर्वधर्म है'। उस का परिहार कर दिया। उसी का यह दर्शन है—दर्शपूर्णमासस्थ का। समीप के अनुवाद के असम्भव होने पर विप्रकृष्ट का अनुवाद भी स्वीकार किया जाता है। क्योंकि वह अनुवाद यथाप्राप्ति की अपेक्षा से होता है। [देवेभ्यः में] बहुवचन अविवक्षित है। अथवा प्रकृति-विकृति के देवताओं के आलोचन से उपपन्न हो जायेगा। इसलिये यह अर्थ होता है—जिस कारण उपवीतत्व देवयुक्त कर्मान्तर का धर्म है, अतः पितृदेवतावाले अग्निहोत्र में नहीं करना चाहिये ॥२॥

—:o:—

व्याख्या—वही उदाहरण है—उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते (=उपव्यान करता है, देवताओं का ही चिह्न करता है)। उसमें सन्देह है कि—विधि है, अथवा अनुवाद है? विधि के निश्चय विना हुए 'सब कर्मों के लिये अथवा दर्शपूर्णमास के लिये है' यह विचार कैसे सम्पन्न हुआ ? सिद्ध अर्थ से व्यवहार होने से अर्थानुसार यह अधिकरण पहले देखना चाहिये। क्या प्राप्त होता है ? अनुवाद है। किस हेतु से ? स्मृतिग्रन्थों के द्वारा पुरुष नित्य यज्ञोपवीतवाला कहा गया है। विधि में वर्तमान का कथन उपपन्न नहीं होता है। नित्योदकी तथा नित्ययज्ञोपवीती

---

१. तै० सं० २।५।११ ॥
२. बौधा० धर्म० २।२।१॥ कौषी० गृह्य ३।११।५३-५४॥

विधिसरूपः शब्दः। तस्मादनुवादः इति। एवञ्च निवीतप्राचीनावीताभ्यामवैलक्षण्यं भविष्यतीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

विधिर्वा स्याद् अपूर्वत्वात् ॥३॥ (उ०)

विधिरेष भवेदेवमपूर्वोऽर्थो विधास्यते।
सर्वानुवादो व्यर्थो हि स्तुतेश्च विधिकल्पना ॥

न हि समस्तानुवादवाक्यस्य किञ्चित् फलमस्ति। निवीतप्राचीनावीतसङ्कीर्तनमपि च विधीयमानोपवीतस्तुत्यर्थत्वेनैवार्थवद् भविष्यति। वर्त्तमानापदेशानामपि च तदाभासत्वात् प्रयोगवचनाऽर्थवादपञ्चमलकारेभ्यो विधिशक्तिर्व्याख्याता। तस्माद्विधिः। यत्तु स्मृतेरेव प्राप्तमिति। तत्रापि, अपूर्वत्वादिदमेवोत्तरम्। अन्य एव ह्यसौ पुरुषधर्मं प्राप्तः, अन्यश्चायमपूर्वः क्रतुधर्मो विधीयते। तस्मान्नानुवादः। अस्य च प्रयोजनं कर्त्रधिकरणे वक्ष्यामः[1]।

—:०:—

से सर्वदा प्राप्त यज्ञोपवीत क्रतु में भी है ही। और यह [उपव्ययते] विधिरूप शब्द नहीं है [वर्तमान अर्थ को कहनेवाला है]। इस कारण अनुवाद है। इसी प्रकार निवीत प्राचीनावीत से इसकी विलक्षणता होगी। इस प्रकार प्राप्त होने पर हम कहते हैं—

विधिर्वा स्याद् अपूर्वत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष अनुवाद का निवर्त्तक है, अर्थात् अनुवाद नहीं है। (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अन्य से प्राप्त न होने से (विधिः) विधि (स्यात्) होवे।

व्याख्या—यह विधि ही होवे। इस प्रकार (=विधि मानने पर) अपूर्व अर्थ का विधान किया जा सकेगा। पूरे वाक्य का अनुवाद व्यर्थ है। [उपवीत की] स्तुति से विधि की कल्पना होगी।

सम्पूर्ण अनुवादवाक्य का कोई फल नहीं है। और निवीत और प्राचीनावीत का कथन भी विधीयमान उपवीत की स्तुतिरूप अर्थ से ही अर्थवान् हो जावेगा। वर्तमान का कथन करनेवाले शब्दों का भी वैसा (=वर्तमान का) आभास (=प्रतीति) होने से, प्रयोगवचनसामर्थ्य से पञ्चम लकार (=लेट् लकार) से विधि की शक्ति पूर्व कह चुके हैं। इसलिये विधि है। और जो यह कहा है कि—स्मृति से ही उपवीत प्राप्त है। उस विषय में भी, इस विधि के अपूर्ववान् होने से [विधि है], यही उत्तर जानना चाहिये। वह (स्मृत्युक्त) अन्य ही पुरुषधर्म प्राप्त है, और यह अन्य अपूर्व क्रतुधर्म विधान किया जाता है। इसलिये अनुवाद नहीं है। इस का प्रयोजन 'कर्त्रधिकरण' (मी० तन्त्रवार्तिक अ०३, पाद ४, अधि०४, सूत्र १२-१३ में) कहेंगे[1]।

—:०:—

---

१. वार्तिककार ने नवम सूत्र के भाष्य के अनन्तर ही इन सूत्रों का व्याख्यान किया है। इस दृष्टि से **वक्ष्यामः** निर्देश जानना चाहिये।

एवं वा—यत्तु मृताग्निहोत्रे श्रूयते—'प्राचीनावीती दोहयेत्, यज्ञोपवीती हि देवेभ्यो दोहयति'इति। तत्रैवं विचार्यते—किमिदमहीनस्थितमिव द्वादशत्वं दर्शपौर्णमासगतमेव स्तुत्यर्थमुक्तम्, उत जीवदग्निहोत्रे विधानार्थमिति? किं प्राप्तम्?

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् ॥३॥ (उ०)

ततः पूर्ववदेव सूत्रं व्याख्यातव्यम्। एवञ्च सति प्रकरणबहुवचनयोरनुग्रहो भविष्यति। तस्मात् सत्यप्यनुवादसरूपत्वेऽर्थवत्त्वाय प्रयोगवचनादिभ्यो विधित्वं कल्पनीयम्।

अथवा[1] इस प्रकार [उदाहरण है—] जो मृताग्निहोत्र में सुना जाता है—प्राचीनावीती दोहयेत्। यज्ञोपवीती हि देवेभ्यो दोहयति (=प्राचीनावीती होकर गाय को दूहे। यज्ञोपवीती होकर ही देवों के लिये गाय को दूहता है)। इस में इस प्रकार विचार करते है—क्या यह अहीन-कर्म में स्थित द्वादशत्व के समान दर्शपूर्णमासगत ही स्तुति के लिये कहा गया है, अथवा जीवित के अग्निहोत्र में विधान के लिये है? क्या प्राप्त होता है?

विवरण—अहीनस्थितमिव द्वादशत्वम्—पूर्व "द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताऽधिकरण" (मी० अ०३ पा० ३ अधि० ८, पृष्ठ ८२६) में ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित द्वादशाहीनस्य वाक्यविहित द्वादश उपसत्त्व की अहीनयागों में स्थिति कही है, तद्वत् दर्शपूर्णमास में श्रुत उपवीत-विधान का मृताग्निहोत्र में श्रवण स्तुत्यर्थ है, अथवा जीविताग्निहोत्र में विधान के लिये है:

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् ॥३॥

सूत्रार्थः—(वा) 'वा' शब्द दर्शपूर्णमासगत उपवीत-विधान की स्तुति के व्यावर्तन के लिये है। अर्थात् यह स्तुति नहीं है। (विधिः) विधि (स्यात्) होवे, (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ का विधान होने से।

व्याख्या—पूर्व के समान ही सूत्र की व्याख्या करनी चाहिये। इस प्रकार (=जीविताग्निहोत्र में उपवीत का विधान) होने पर प्रकरण और [देवेभ्यः] बहुवचन का अनुग्रह होगा। इसलिये अनुवादरूपवाला वचन होने पर भी अर्थवत्त्व के लिये प्रयोगवचन आदि से विधि की कल्पना करनी चाहिये।

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. प्रस्तुतः छः सूत्रों की चार अधिकरण के रूप में व्याख्या करनेवाले वृत्तिकारों के मतानुसार 'विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात्' सूत्र की सिद्धान्तपरक व्याख्या करके तीन अधिकरणवादी व्याख्याताओं के मत से इसी सूत्र को उदाहरणान्तर में पूर्वपक्षरूप से व्याख्यान करते हैं।

एतस्मिंश्च व्याख्याने स्थितं तावदपर्यवसितमिति एवमुत्तरमधिकरणमारब्धव्यम् ॥३॥ **इति उपवीतस्य विधित्वाऽधिकरणम् ॥२॥**

—:०:—

[उपवीतोदगग्रत्वयोरनुवादताऽधिकरणम् ॥३॥]

तस्मिन्नेव मृताग्निहोत्रे श्रूयते—**ये पुरोदञ्चो दर्भास्तान् दक्षिणाऽग्रांस्तृणीयाद्**' इति। केचित्तु महापितृयज्ञे श्रूयते इत्युदाहरन्ति। तत्र 'ये पुरोदञ्चः' इत्यत्र सन्देहः—किं विधिः, अनुवाद इति ? किं प्राप्तम् ?

उदक्त्वं चाऽपूर्वत्वात् ॥४॥ (पू०)

ततश्चशब्देनान्वादिश्यते—अयमपि विधिरपूर्वत्वादिति। प्राप्तिपूर्वको ह्यनुवादो भवति। न चास्य पुरुषार्थतयाऽपि प्राप्तिरस्ति। न चाऽस्य स्तुत्यर्थताऽपि युज्यते, हिशब्दाद्यप्रयोगात्। तस्मात् सिद्धवद् उक्तान्यथाऽनुपपत्त्यैवास्यापि विधित्वमिति ॥४॥

इस व्याख्यान में अपर्यवसित(=अपूर्ण) अधिकरण स्थित होते हुए उत्तर अधिकरण आरम्भ करना चाहिये ॥३॥

—:०:—

व्याख्या—उसी मृताग्निहोत्र में सुना जाता है—ये पुरोदञ्चो दर्भास्तान् दक्षिणाग्रांस्तृणीयात् (=जो जीवित के अग्निहोत्र में पहले उदगग्र=उत्तर दिशा में अग्र भागवाले दर्भ थे, उन्हें मृत के अग्निहोत्र में दक्षिणाग्र=दक्षिण दिशा में अग्रभागवाले परिस्तरण करे)। कई व्याख्याता 'महापितृयज्ञ में यह सुना जाता है' [ऐसा लिखकर] उदाहरण देते हैं। यहां ये पुरोदञ्चः में सन्देह है—क्या यह विधि है, अथवा अनुवाद है ? क्या प्राप्त होता है ?

उदक्त्वं चाऽपूर्वत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः—ये पुरोदञ्चः वाक्य से परिस्तरण दर्भों का (उदक्त्वम्) उदगग्रत्व (च) भी (अपूर्वत्वात्) अपूर्ववचन होने से विधि है।

व्याख्या—यहां 'च' शब्द से अनुकथन किया जाता है—यह भी विधि है, अपूर्व होने से। अनुवाद प्राप्तिपूर्वक होता है, [अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर उस का अनुवाद हो सकता है]। इन [दर्भों के उदगग्रत्व] की पुरुषार्थरूप से भी प्राप्ति नहीं होती है, और इस (=उदगग्रत्व) की स्तुत्यर्थता भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'हि' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं है। इसलिये सिद्ध के समान उक्त अर्थ की अन्यथा उपपत्ति न होने से ही इस (=उदगग्रत्व) का भी विधित्व जानना चाहिये ॥४॥

---

१. अनुपलब्धमूलम्।

सतो वा लिङ्गदर्शनम् ॥५॥ (उ०)

आचारप्राप्तस्योदगग्रत्वस्य द्योतकमात्रं लिङ्गदर्शनमेतत्, न विधिः। कुतः?

लिङ्गादिरहिते वाक्ये तदा विधिरुपेयते।
न कथञ्चिद्यदा युक्त्या प्राप्तिलेशोऽपि गम्यते ॥

यच्छब्दयोगादाख्याततद्विशेषरहितत्वाच्च स्फुटमिहानुवादत्वमवधारितम्। तद्यथा कथञ्चिदपि प्राप्तौ सत्यां नातिक्रमितव्यम्। अस्ति चात्र प्राप्तिः—**अग्रवन्ति प्रागग्राणि उदगग्राणि वाऽपवर्गवन्ति प्रागपवर्गाण्युदगपवर्गाणि वा**[1] इति स्मृतेः। तस्मात् तत्समानार्थ एवायं सिद्धवदनुवादः। तथैव च स्तुत्यर्थः। पुरा ह्येतदुक्तम्, न तु साम्प्रतं मृतावस्थायामिति।

सतो वा लिङ्गदर्शनम् ॥५॥

सूत्रार्थ—(वा) 'वा' शब्द पूर्व विधिपक्ष के निरासार्थ है। अर्थात् **ये पुरोदञ्चो दर्भान्** विधि नहीं है। (सतः) शिष्टाचार से प्राप्त उदगग्रत्व के (लिङ्गदर्शनम्) लिङ्ग का दर्शनमात्र है।

व्याख्या—आचार से प्राप्त [दर्भास्तरण के] उदगग्रत्व का द्योतकमात्र यह (=पुरोदञ्चो दर्भान्) लिङ्गदर्शन है, विधि नहीं है। किस हेतु से? लिङ् आदि से रहित वाक्य में तब विधि प्राप्त कराई जाती है, जब किसी भी प्रकार युक्ति से प्राप्ति का लेशमात्र भी न जाना जाता हो। यच्छब्द के योग से, और आख्यातविशेष से रहित होने से, यहां स्पष्ट अनुवादत्व जाना जाता है, उसका किसी भी प्रकार से प्राप्ति की सम्भावना होने पर अतिक्रमण नहीं करना चाहिये। यहां [उदगग्रत्व की] प्राप्ति है—अग्रवन्ति प्रागग्राण्युदगग्राणि वा, अपवर्गवन्ति प्रागपवर्गाण्युदगपवर्गाणि वा (=अग्रभागवाले, प्राक्दिशा में जिन का अग्रभाग है, अथवा उत्तर दिशा में जिनका अग्रभाग है, तथा अपवर्ग=समाप्ति=जिधर से काटा गया है उस ओर के भागवाले, प्राक्दिशा में अपवर्गवाले, अथवा उत्तर दिशा में अपवर्गवाले), इस स्मृति से [उदगग्रत्व प्राप्त है]। इसलिये यह (=ये पुरोदञ्चो दर्भान्) उस [स्मृति से प्राप्त] के समान अर्थवाला ही यह सिद्ध के समान अनुवाद है। और उसी प्रकार स्तुति के लिये है। पहले (=जीवित अवस्था में) यह (=उदगग्रत्व) कहा है, अब मृतावस्था में युक्त नहीं है।

विवरण—यहां वार्तिककार भट्ट कुमारिल ने स्मृति से प्राप्त उदगग्रत्व की दृष्टि से **ये पुरोदञ्चो दर्भान्** वाक्य को अनुवाद कहा है। यह युक्त नहीं है। स्मृति श्रुति की कल्पनापूर्वक प्रमाण होती है, स्वतः नहीं। यह मीमांसकों का स्मृतिप्रामाण्याधिकरण (१।३अधि०१) में निर्धारित सिद्धान्त है। इसीलिये कुतुहल-वृत्तिकार ने लिखा है—**ये पुरोदञ्चो दर्भान्** यह श्रुति ही [**उदगग्राणि**

---

१. अनुपलब्धमूलम्। तुलना कार्या—प्रागपवर्गाण्युदगपवर्गाणि वा यज्ञोपवीती प्रदक्षिणं दैवानि कर्माणि करोति। आप० परिभाषासूत्र १।२।१५॥

स्थितादप्येतदेवोत्तरम्। हिशब्दवदाख्यातेन यतः कुतश्चित् प्राप्तेरपेक्षितत्वात्, प्रकरणे च तदभावात् किमनवगम्यमानमेव विधित्वं कल्पितम्? उत यत्रतत्रस्था प्राप्ति-राश्रीयतामिति? तत्र प्राप्त्याश्रयणमपेक्षितं, न तु विधित्वमिति। तदेव ज्यायः। प्रकरण-बहुवचनयोश्चोक्तम् (पृष्ठ ६३४)। अस्त्येव चान्योऽत्र विधिरिति, नानर्थक्यम्। तस्मादनु-वाद इति, नित्येऽग्निहोत्रे दोहे, विनाऽप्युपवीतेनाऽवैगुण्यम्॥५॥ **इति उपवीतोदगग्रत्वयोरनु-वादताऽधिकरणम्॥३॥**

—:०:—

[समिद्धारणस्य विधित्वाऽधिकरणम्॥४॥]

इदानीमेवंविधशब्दाभावेऽनुवादत्वस्यातिप्रसक्तस्याऽपवाद **आरभ्यते**—

प्रागग्राणि वा] स्मृति का मूल होवे, ऐसा नहीं कह सकते। स्मृति के सर्वसाधारण होने से उस के प्रति जीवद् अग्निहोत्रमात्र विषयक **ये पुरोदञ्चः** श्रुति के मूलत्व के असम्भव होने से स्मृति के मूलान्तर (=श्रुति) की ही कल्पना करनी चाहिये। उस मूलान्तर [श्रुति] की कल्पना होने पर उस श्रुति से प्राप्त [प्रागग्रत्व] का ही जीवद्-अग्निहोत्र में यह (=**ये पुरोदञ्चः**) अनुवाद है। इस प्रकार यत् तत् शब्दों के उपबन्ध (प्रयोग) से स्वरसतः प्रतीयमान एकवाक्यत्व भी अनुभूत होता है, [अर्थात् 'ये पुरोदञ्चो दर्भा जीवदग्निहोत्रे तान् मृताग्निहोत्रे दक्षिणाग्रान् स्तृणुयात्' इस प्रकार एक वाक्यत्व उपपन्न होता है]।

व्याख्या—**स्थित (=पूर्व अपूर्ण रहे अधिकरण) से भी यही (=**सतो वा लिङ्गदर्शनम्**) उत्तर है [अर्थात् पूर्व अधूरे रहे अधिकरण का भी 'सतो वा' से उत्तर जानना चाहिये]।** [यज्ञोपवीती हि देवेभ्यो दोहयति **वाक्य में] 'हि' शब्दवाले आख्यात से जहां कहीं से भी प्राप्ति की अपेक्षा होने से, और प्रकरण में उस** [प्राप्ति] **का अभाव होने से, क्या अनवगम्यमान** (=ज्ञात न होनेवाला) विधित्व कल्पित होवे, **अथ वा जहां-कहीं से प्राप्ति का आश्रय किया जावे? इस विषय में प्राप्ति का आश्रयण करना अपेक्षित है, विधित्व का आश्रयण करना अपेक्षित नहीं है। यही ज्यायान् है। प्रकरण और** [देवेभ्यः] **बहुवचन के विषय में पूर्व** (पृष्ठ ६३४) **कह चुके। और यहां अन्य विधि है, अतः आनर्थक्य भी नहीं है। इसलिये अनुवाद है, इस से नित्य अग्निहोत्रविषयक दोहन में विना उपवीत के भी विगुणता नहीं होती है॥५॥**

—:०:—

व्याख्या—**अब इस प्रकार विधि शब्द के अभाव में अनुवादत्व की अतिप्रसक्ति (=अतिव्याप्ति) के अपवाद का आरम्भ कहते हैं।**

तत्रैव दिष्टगताग्निहोत्रे महापितृयज्ञे वा श्रूयते—**अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेद् उपरि हि देवेभ्यो धारयति**[1] इति। तत्र **उपरि हि देवेभ्यः** इत्यत्र पूर्ववदेव विध्यनुवादत्वसन्देहे हिशब्दयोगाद् वर्त्तमानापदेशाद् विध्यन्तरेण चैकवाक्यत्वादाचारतश्च प्राप्तेरनुवाद इति प्राप्नोति। कथमाचारतः प्राप्तिरिति चेत्? उच्यते—

सर्वमभ्यर्हितं द्रव्यं प्रच्छादनमपेक्षते।
यत्र क्वचन च प्राप्ते समित्तत्र नियम्यते॥

देवार्थस्य स्रुचि प्रक्षिप्तस्य हविषः आहवनीयदेशं नीयमानस्यावश्यमेव हस्तो वाऽन्यद्वा किञ्चिद् द्रव्यम् आचारादुपरि दातव्यम्। तत्र प्रत्यासत्तेः समिन्नियम्यते। **स्रुग्दण्डे समिधमुपगृह्यानुद्रवति**[2] इति चास्यापि विधेराचारापेक्षितार्थविधानादेतदेव फलं विज्ञायते। तस्मादुपरि धारयतीति प्राप्तस्योपवीतादेरिवाऽनुवादः। '**सतो वा लिङ्गदर्शनम्**' इति प्राप्ते अभिधीयते—

उसी मृताग्निहोत्र में अथवा महापितृयज्ञ में सुना जाता है—अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेद् उपरि हि देवेभ्यो धारयति (=**गार्हपत्य के समीप में स्थाली में रखे हुए हवि को अग्निहोत्रहवणी में लेकर उस=अग्निहोत्रहवणी के नीचे समित् को धारण करता हुआ आहवनीय के समीप ले जावे। जिस कारण दैव=जीवद्=अग्निहोत्र में समित् को अग्निहोत्रहवणी के ऊपर धारण करता है**[3])। यहां उपरि हि देवेभ्यः **में पूर्व के समान विधि और अनुवाद के सन्देह होने पर 'हि' शब्द का योग होने से,** वर्तमानकाल का कथन होने से, **और विध्यन्तर से एक-वाक्य होने से, तथा आचार से प्राप्ति होने से अनुवाद है, ऐसा प्राप्त होता है। आचार से प्राप्ति कैसे है, ऐसा कहो? तो कहते हैं—'सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्रव्य प्रच्छादन (ऊपर से ढकने) की अपेक्षा रखता है' उस आच्छादन में जिस-किसी द्रव्य के प्राप्त होने पर समित् का नियम है। अर्थात् समित् से ही आच्छादन करे। देवता के लिये स्रुच् में रखे गये हवि को आहवनीय के प्रति ले जाते हुए आचार से अवश्य ही उस के ऊपर हाथ वा अन्य कोई द्रव्य रखना चाहिये। उस विषय में प्रत्यासत्ति (=सान्निध्य) से समित् का नियमन किया जाता है [अर्थात् समित् से ही आच्छादन करे, अन्य से आच्छादन न करे]।** स्रुग्दण्डे समिधमुपगृह्यानुद्रवति (=**अग्निहोत्रहवणी स्रुक् के दण्डे पर समित् रखकर आहवनीय के समीप जाता है) इस विधिवचन का भी आचार से अपेक्षित [आच्छादनरूप] अर्थ के विधान से ही फल जाना जाता है। इसलिये** उपरि धारयति **यह उपवीत आदि के समान प्राप्त का ही अनुवाद है।** सतो वा लिङ्गदर्शनम् (=**प्राप्त के ही लिङ्ग का दर्शन है)। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं**—

---

१. अनुपलब्धमूलम्। द्र०—आप० श्रौत ६।८।५॥ कात्या० श्रौत ४।१४।१२॥

२. अनुपलब्धमूलम्।

३. उद्धृतवचन के अर्थ की स्पष्टता के लिये कुतुहलवृत्तिकार द्वारा की गई व्याख्या यहां लिखी है।

विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात् ॥६॥ (उ०)

धारणे विधिरेव स्यान्नहि प्राप्तिः कुतश्चन ।
समित्प्रच्छादनाशक्तेर्नाऽऽचारादुपरिस्थता ॥

सत्यम्, आचारात् प्रच्छादनं कर्त्तव्यम्, न तु तत्र समित् पक्षेऽपि प्राप्नोति, या सन्निधेर्नियम्येत । हस्ताद्येव हि तत्र योग्यत्वात् प्राप्नुयान्न समित् । ननु च सोमचमसादीनां वचनसामर्थ्याद् या काचिदानत्यर्थता भवत्येवमत्रापि या काचित् प्रच्छित्तिर्भविष्यतीति । भवेदेवम्, यदि तदीयदक्षिणासंयोगवदिहापि प्रच्छादनसंयोगः श्रूयेत । न तु श्रूयते, उपसङ्ग्रहमात्रविधानात् । यदि सोमचमसेऽपि दक्षिणासंयोगरहितं दानमात्रमश्रोष्यत, ततो नैवानत्यर्थत्वमाश्रयिष्यत । स्रुग्दण्ड इति च देशनियमात् सुतरां हविषः प्रागसौ धारयितव्या । तेनोपरि धारणमप्राप्तम् । न चाऽप्राप्तं हेतुवन्निगदेन वर्त्तमानापदेशेन-

---

विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात् ॥६॥

सूत्रार्थः—(तु) 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये हैं, अर्थात् उपरि धारयति अनुवाद नहीं है । (विधिः) विधि है । (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ होने से ।

व्याख्या—[समित् के] धारण में विधि ही होवे, क्योंकि [समित् के अग्निहोत्रहवणी के ऊपर धारण की] कहीं से भी प्राप्ति नहीं है । समित् की [ऊपर धारण द्वारा] प्रच्छादन में शक्ति न होने से, आचार से भी ऊपर धारण करना प्राप्त नहीं होता है ।

सत्य है, आचार से [हवि का] आच्छादन करना चाहिये । उस विषय में समित् की पक्ष में भी प्राप्ति नहीं होती है, जिस का सन्निधि से नियमन किया जाये । [आच्छादन में] योग्य होने से हस्त आदि की ही प्राप्ति होगी, [समित् में आच्छादन की योग्यता न होने से] समित् की प्राप्ति नहीं होगी । (आक्षेप) जैसे सोम-चमस आदि [के सोमभक्षण] का वचन-सामर्थ्य से ऋत्विजों का आनति प्रयोजन होता है, उसी प्रकार यहां भी जो थोड़ा-बहुत आच्छादन होता है वह समित् से भी हो जायेगा [अर्थात् जैसे सोमचमसस्थ स्वल्प सोम का भक्षण वचन-सामर्थ्य से ऋत्विजों को कार्य के प्रति प्रेरित करनेवाला होता है, वैसे ही समित् से भी वचन-सामर्थ्य से आच्छादन हो जायेगा] । (समाधान) ऐसा हो सकता है, यदि [सोमचमसस्थ सोम भक्षण का] दक्षिणासंयोग के समान यहां भी [समित् का] प्रच्छादन के साथ संयोग सुना जाये । परन्तु वह (=समित् का प्रच्छादन-संयोग) नहीं सुना जाता है, उपसग्रह (=अग्निहोत्र हवणी के साथ संग्रह) मात्र का विधान होने से । यदि सोमचमस में भी दक्षिणा के संयोग से रहित दानमात्र सुना जाता, तो उस में भी आनति प्रयोजन का आश्रय नहीं किया जाता । और 'स्रुगदण्ड पर' ऐसा देश का नियम होने से हवि [के प्रदान] से पूर्व उसे धारण करना होता है । इस से हवि के ऊपर धारण अप्राप्त है । तथा अप्राप्त धारण हेतुवन्निगद से, अथवा वर्तमान के

वाऽनुवदितुं शक्यम् । अतोऽस्य व्यवधारणकल्पनयाऽनुवादसरूपत्वं भङ्क्त्वा वाक्यं भित्त्वा विधित्वमाश्रीयते । पित्र्ये होमेऽधस्तात् स्रुग्दण्डस्य समिद्धारयितव्या, दैवे च पुनरुपरिष्टादिति । विधित्वे चैवमादीनामुक्तः कल्पनाप्रकारः । तस्माद्विधिरिति ॥६॥
इति समिद्धारणस्य विधिताऽधिकरणम् ॥४॥

कथन से अनुवाद शक्य नहीं है । इसलिये इसकी व्यवधारण-कल्पना से अनुवादरूप को नष्ट करके, और वाक्य का भेद करके विधित्व का आश्रयण किया जाता है । पितृसम्बन्धी होम में स्रुक् के दण्ड के नीचे समित् धारण करनी चाहिये, और दैव होम में स्रुग्दण्ड के ऊपर । इस प्रकार के वचनों का विधिपक्ष में कल्पना-प्रकार कह चुके हैं । इस से यह विधि है ॥६॥

[इति मीमांसा-शाबर-भाष्यस्य तृतीयाध्यायस्य चतुर्थे पादे भाष्यकारेणाविहित-भाष्याणां षट्सूत्राणां भट्टकुमारिलकृतव्याख्यानस्य हिन्दी-व्याख्या समाप्ता ॥]

॥ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः पूर्तिमगात् ॥

—:o:—